भारतीय कृष्टि का क ख

लेखक

जयचन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक

हिन्दी भवन

इलाहाबाद

१९५५]

[मूल्य ७)

प्रकाशक
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानीमंडी,
इलाहाबाद—३

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
कमल मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी,
इलाहाबाद—३

मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ।

(मनुष्य वह कर लेता है जो सुर असुर नहीं कर पाते ।)

—मार्कण्डेय पुराण ५७. ६३ ।

प्रस्तावना

हम भारत के लोग अपने इतिहास को भूल चुके थे। उसके कुछ अंशों की याद जो हमें थी भी सो उलटपुलट और धुँधली। हमारे इतिहास का पुनरुद्धार अक्षरशः टुकड़े-टुकड़े कर के हुआ है। उस पुनरुद्धार का आरम्भ तब हुआ जब युरोपियों ने आ कर हमारी दशा को ठीक ठीक समझना चाहा और हमारे अतीत के बारे में पूछने जाँचने लगे। भारत के नव जागरण की प्रेरणा से बहुत से भारतीयों की भी अपने अतीत के बारे में जिज्ञासा जगी और वे भी उस नई खोज में लगे।

इतिहास के उन फिर से पाये गये टुकड़ों को ठिकाने से जोड़ना कुछ सरल काम नहीं था। वह काम अभी तक बहुत अधूरा हुआ है। युरोपी विद्वानों ने उन टुकड़ों को जोड़ कर जो इतिहास प्रस्तुत किये उनके बहुतेरे अंशों से जागृत भारतीयों को सन्तोष नहीं हुआ। इसके कारण स्पष्ट थे। एक तो "अपने इतिहास को समझने के लिए जो अन्तर्दृष्टि हम में हो सकती है, वह विदेशियों में नहीं हो सकती।"† "किसी राष्ट्र के अतीत इतिहास के पुनर्ग्रथन में उस राष्ट्र की सन्तानों को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें कोई भी विदेशी ... नहीं पा सकता। ... हम (अपने) ऐतिहासिक अतीत के जीवित अवतार हैं; वह अतीत हमारे खून और हमारी हड्डियों में, हमारे विचार और विश्वास में व्याप्त है।"* दूसरे, अंग्रेज ऐतिहासिकों का स्पष्ट स्वार्थ था कि अपने साम्राज्य को

---

* ज० च० विद्यालंकार (१९३७)—बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आरा, की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण, २५-१२-१९३७।

* यदुनाथ सरकार (१९३७)—भारतीय इतिहास परिषद्, आरम्भिक अधिवेशन, बनारस, के सभापति पद से अभिभाषण, ३०-१२-१९३७।

बनाये रखने के लिए भारतीय युवकों को उनके इतिहास का बिगाड़ा हुआ चित्र दिखा कर विभ्रम में डालें।

इस दशा में अनेक भारतीय विवेचक पिछली पौनी शताब्दी में अपने इतिहास का मनन कर उसके अनेक पहलुओं को पेश करते रहे। हरप्रसाद शास्त्री, म० गो० रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त, गौ० ही० ओझा, वि० का० राजवाडे, गो० स० सरदेसाई, का० प्र० जायसवाल, यदुनाथ सरकार, वामनदास वसु, राखालदास बनर्जी आदि विद्वानों की परम्परा ने भारतीय दृष्टि से अपने इतिहास को खोजने पेश करने का संघर्ष बराबर जारी रक्खा। इस दिमागी संघर्ष में यह भावना नहीं रही कि अपने राष्ट्र की कमज़ोरियों को छिपाया या लोपा पोता जाय। प्रत्युत इन विद्वानों ने विभिन्न युगों में भारतीयों की अवनति या अधोगति की दशाओं और कारणों पर जैसा प्रकाश डाला वैसा कोई विदेशी न डाल सकता। यह बात स्पष्ट कही जाती रही कि "राष्ट्रीय दृष्टि से अपने इतिहास के मनन का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमज़ोरियों को नज़रन्दाज़ करें। उलटा, उन्हीं को समझने के लिए हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं" (आरा अभिभाषण)।

इस राष्ट्रीय प्रयत्न की परम्परा में जहाँ भारतीय इतिहास के अनेक पहलू स्पष्ट किये जाते रहे, वहाँ समूचे भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से उपस्थित करने की माँग भी बराबर बनी रही। भारतीय "प्राच्य" सम्मेलन (ओरियंटल कान्फ्रेंस) के छठे अधिवेशन (पटना १९३०) के सभापति पद से डा० हीरालाल ने कहा था—"इस समय विशेष कर एक बड़ी आवश्यकता उत्कट रूप से अनुभव होती है और वह है भारतीय दृष्टि से लिखे हुए एक इतिहास की।" १९३३ में मेरे ग्रन्थ "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" (प्राचीन काल) और १९३८–४० में "इतिहास-प्रवेश" का प्रकाशन उसी आवश्यकता के उत्कट अनुभव का फल था। "रूपरेखा" की पांडुलिपि देख कर १९३१ में आचार्य काशीप्रसाद

जायसवाल ने लिखा—"वैदिक काल से गुप्त युग के अन्त तक भारतीय इतिहास की राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक सब पहलुओं से समीक्षा की गई है। ... ऐसी समन्वयात्मक कृति का पहले कोई प्रयत्न नहीं किया गया था।" "इतिहासप्रवेश" के प्रकाशित होने पर अपने ज़माने के प्रमुख भारतीय समाजशास्त्री प्रो० विनयकुमार सरकार ने लिखा कि उसमें "आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक विषयों को जो महत्त्व दिया है उसपर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।" जब राष्ट्र का सब युगों का इतिहास सब पहलुओं से कहना था तब आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक पहलुओं को छोड़ा कैसे जा सकता था? किन्तु यदि दूसरे लोग राजनीतिक घटनाओं के इतिहास पर अधिक बल देते थे तो उन्हें भी दोष न दिया जा सकता था, कारण कि हमारे उलझे हुए इतिहास को सुलझाने के लिए सब से पहले राजनीतिक घटनावली को स्पष्ट करना आवश्यक था। साथ ही, 'सांस्कृतिक' इतिहास के बारे में जो खोजें हुईं थीं उनका संकलन और समन्वय करना टेढ़ी खीर थी। जो भी हो, उन दिनों भारत के सांस्कृतिक इतिहास को शृङ्खलाबद्ध रूप से पेश करना विशिष्ट रूप से कठिन और महत्त्व का काम माना जाता था, इसलिए उसे प्रस्तुत करने पर जायसवालजी और प्रो० विनय सरकार जैसे विद्वानों ने शाबाशी देना उचित समझा।

पर इधर हमारे स्वराज्य पाने के बाद से वह कार्य बहुत सरल मान लिया गया है और "सांस्कृतिक इतिहासों" की माँग एकाएक बढ़ गई है। और इसके पीछे एक और ही प्रेरणा है। हमारे बहुत से पढ़े-लिखे लोगों की यह धारणा हो गई है कि हमारा राजनीतिक इतिहास तो कुछ अभिमान करने योग्य है नहीं, इसलिए 'सांस्कृतिक' इतिहास पर ही बल देना चाहिए। सरदार पणिक्कर ने हाल ही में लिखा है—"भारतीय इतिहास ... राजनीतिक पहलू से नीरस गोलमाल-भरा और सूखा है। इस दशा के कारण ढूँढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। थोड़े अन्तरों को छोड़ कर भारत कभी टिकाऊ राजनीतिक एकता ... नहीं पा

सका। ... राजनीति में भारत सदा बहुतेरे राज्यों और लड़ते राजवंशों का देश रहा है। ... भारतीय समाज और सभ्यता की एकता के विकास का राजनीतिक घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहा ... ।"* इसलिए स० पणिक्कर कहते हैं कि भारत का इतिहास 'सांस्कृतिक' पहलू से नये ढंग से लिखना चाहिए।

पर क्या राष्ट्रों का राजनीतिक अभ्युदय और अवनति उनके लोगों के आचार की उन्नत और अवनत दशा के अनुसार नहीं होते? महात्मा बुद्ध ने राष्ट्रों के अभ्युदय के सात सिद्धान्त (**सत्त अपरिहाणि धम्म**) कहे थे जिनका तत्त्व यही है कि राजनीतिक उन्नति की नींव आचार है। यही शिक्षा कौटल्य, मनुस्मृति और महाभारत के राजधर्म की है। जिस समूह में व्यक्तियों को अपने निजी लाभों का ही ध्यान हो, अपने साथियों को परवा न हो, जहाँ व्यक्ति और वर्ग एक दूसरे के तई अन्याय से बरतें, जहाँ लोग सहयोग से काम न कर सकें, एक दूसरे पर भरोसा न कर सकें, वहाँ राजनीतिक पतन अवश्यम्भावी है। पर क्या ऐसे समूह के लोग किसी ऊँची संस्कृति का विकास कर सकते हैं? संस्कृति क्या आचार की नींव के बिना खड़ी हो सकती है? मानव जीवन के सब पहलू एक दूसरे पर आश्रित हैं। यह निरा पलायनवाद—ठोस तथ्यों से भागने की प्रवृत्ति—है कि हमारा राजनीतिक इतिहास नीरस और निकम्मा है, इसलिए अपनी संस्कृति के गाने ही गाने चाहिएँ। और इस प्रकार की पलायन मनोवृत्ति से जो "सांस्कृतिक इतिहास" प्रस्तुत किये जा रहे हैं उनका उथला अप्रामाणिक "गोलमाल-भरा" और गप्प-भरा होना स्वाभाविक है।

चौथी शताब्दी ई० में आजकल के चीनी तुर्किस्तान के उत्तरपूरबी

---

* सरदार पणिक्कर (अगस्त १९५५)—रिराइटिंग इंडियन हिस्टरी (भारतीय इतिहास को नये रूप में लिखने की आवश्यकता), पूर्वी पंजाब सरकार की प्रचार-पत्रिका "ऐडवांस" में लेख।

छोर के कूचा शहर के निवासी कुमारजीव ने काशगर में वेद और यारकन्द में त्रिपिटक पढ़ा और चीन में जा कर संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद किये जिन्हें चीन का मेधावी वर्ग आज तक पढ़ता है। यह भारत के सांस्कृतिक इतिहास का एक तथ्य है। क्या राजनीतिक इतिहास की भीत के स्पष्ट हुए विना इसे समझा जा सकता है? तीसरी शताब्दी में ईरान के सासानी शाह मध्य एशिया में शिव की मूर्ति से अंकित सिक्के चलाते थे। यह 'सांस्कृतिक' तथ्य क्या राजनीतिक इतिहास के विना समझ में आ सकता है?

अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास का हिन्दू मुस्लिम ब्रितानवी युगों में जो बँटवारा किया वह अत्यन्त गलत और भ्रमजनक था। उस काठ के शिकंजे से भारतीय इतिहास को छुड़ा कर राष्ट्रीय जीवन के विकास के अनुसार उसके युग-विभाग का ढाँचा पहलेपहल सन् १९३६ में मेरे नागपुर अभिभाषण† में प्रस्तुत किया गया। फिर 'इतिहासप्रवेश' में भारत का पूरा इतिहास उसी युग-विभाग के अनुसार पेश किया गया। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ राय कृष्णदास ने उसकी ओर संकेत करते हुए लिखा था—"अपने देश की कला में कभी सम्प्रदायपरक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अन्तर है सो राजनीतिक युग या काल-परक है।"* कृष्णदास जैसे द्रष्टा ने राजनीतिक इतिहास और कला-इतिहास के जिस सम्बन्ध को एकदम देख लिया, यदि हमारे देश के पल्लवग्राही राजनीतिक जो ऐसे किसी प्रकाश को नहीं देख पाते जो अंग्रेज़ी के शीशे में से गुज़र कर न आया हो, उसे न देखें तो यही कहना होगा कि **नायं स्थाणोर-पराधो यदेनमन्धो न पश्यति।**

सच बात यह है कि भारत का तथ्यपूर्ण 'सांस्कृतिक' इतिहास प्रस्तुत

---

† अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर, की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण, २५-४-१९३६।

* कृष्णदास (१९३९)—भारत की चित्रकला पृ० ७१।

करने के लिए अभी भारतीय विचारों और कृतियों के क्रमविकास की गहरी खोज की और उसके लिए बहुत से सत्यनिष्ठ विद्वानों के दीर्घकालिक सहोद्योगी श्रम की आवश्यकता है। उस इतिहास की सामग्री के संकलन और समन्वय का कार्य अभी आरम्भिक दशा में है। ऐसी दशा में हम उस इतिहास का क ख ही प्रस्तुत कर सकते हैं, और जनता की माँग को देखते हुए मैं यह क ख भेंट करता हूँ।

संस्कृति शब्द हम जिस अर्थ में बर्त्त रहे हैं उस अर्थ में वह बहुत उपयुक्त नहीं है। जनता की समूची जीवन-शैली से हमारा अभिप्राय होता है, पर किसी भी जनता के किसी भी युग के जीवन में संस्कृति के साथ न्यूनाधिक विकृति भी मिली रहती है। इस प्रश्न की ग्रन्थ के अध्याय १ में विवेचना की गई है। हमारे बंगाली साथी अपनी भाषा में इस अर्थ में पुराने वैदिक शब्द **कृष्टि** का प्रयोग कर रहे हैं। मुझे भी वही उपयुक्त लगता है। भाषाविज्ञानियों के मत से **कृष्टि** का मूल अर्थ था कृष्ट भूमि, उससे लक्षणावश हुआ आबाद भूमि, फिर उस भूमि की आबादी अर्थात् उसपर रहने वाली जनता। यह वैदिक अर्थ था। यास्क ने अपने निरुक्त (५. ४. १३) में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि मनुष्य कर्मवान् होते हैं, कर्म करते हैं, अथवा विकृष्टदेह होते हैं, अपने अंगों (विशेष कर हाथों) को खुल कर चला सकते हैं, जानवरों की तरह संकृष्टदेह नहीं होते, इसलिए वे कृष्टि कहलाते हैं। अमरकोश में कृष्टि का अर्थ है पंडित सुसंस्कृत पुरुष, साधारण जन नहीं, प्रत्युत संस्कृति-सम्पन्न पुरुष। यों संस्कृति का विचार भी कृष्टि शब्द में आ गया था। कर्मवान् होना, हाथ का खुला उपयोग करना, सुसंस्कृत होना कृष्टि के चिह्न थे। वह शब्द वेद और अमरकोश के लाक्षणिक प्रयोगों में भाववाची नहीं रहा। पर वह मूलतः भाववाची है ही। इसलिए यदि आज बँगला लेखक उसे आबाद भूमि की जीवनपद्धति अथवा कृष्ट जीवनपद्धति के अर्थ में बर्त्त रहे हैं तो वह ठीक ही है। वह अभीष्ट अर्थ को बहुत अच्छा व्यक्त करता है।

आशा है यह **भारतीय कृष्टि का क ख** हमारे तरुणों को अपने राष्ट्रीय दाय को ठीक ठीक समझने में सहायता देगा और अगले अध्ययन का मार्ग दिखायगा।

नई दिल्ली
गान्धी-जयन्ती, १७ आश्विन २०१२ वि०
(२ अक्टूबर १९५५)

जयचन्द्र

विषय-तालिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

—

भूल चूक

पृष्ठ	पंक्ति	छपा है	पढ़िए
छ	११	हतिहास	इतिहास
१८७	१८	नकल	अनुकृति
१८७	२०	उसकी	उनकी
२०७	२३	बाली	वाली
२०८	११	बैठे सब भक्त	बैठे भक्त
२०८	१२	और सब सलेवार	और सलवार
२३०	१३		

चित्र-सूची

जो चित्र ग्रन्थ के पाठ्यवस्तु में छपे हैं, उनकी पृष्ठसंख्या यहाँ दी गई है। बाकी चित्र ग्रन्थ के अन्त में मोटे चिकने कागज पर हैं। उनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध ग्रन्थ के जिस अंश से है उसकी पृष्ठसंख्या उस पर दी गई है।

नक्शा-सूची

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की नवीनतम कृति

भारतीय इतिहास की मीमांसा

भारत के राजनीतिक इतिहास में युरोप के इतिहास जैसी विकास की कोई प्रक्रिया नहीं है, यहाँ केवल निरंकुश राजाओं के विभिन्न स्वभावों या झोंकों के अनुसार इतिहास की धारा कभी किसी कभी किसी दिशा में जाती रही है, यह स्थापना अंग्रेज ऐतिहासिक विन्सेंट स्मिथ की थी। पटना युनिवर्सिटी के संचालकों ने इसपर प्रश्न करते हुए श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को रामदीन आसन से दस व्याख्यान देने को निमन्त्रित किया और व्याख्यानों के लिए विषय दिया—**भारतीय इतिहास में विकास की प्रक्रिया**। विद्वान् प्रवक्ता ने इस दृष्टि से भारतीय इतिहास की विवेचना की (१९४१), इतिहास के व्याख्या-संबंधी प्रश्नों को उठा कर उनका समाधान किया और अपने व्याख्यान-समुच्चय का शीर्षक रक्खा **भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान**। उसी का दूसरा नाम है **भारतीय इतिहास की मीमांसा**। इन व्याख्यानों की पांडुलिपि लेखक के पास १९४१ से रक्खी थी। १९५४ में वह छापी गई। तब लेखक ने यह उचित समझा कि गत १३ वर्षों में भारतीय इतिहास की जो नई खोज हुई तथा घटनाओं की धारा आगे बढ़ी है उसकी मीमांसा भी नव-परिशिष्टों में की जाय। वे परिशिष्ट भी अब प्रायः पूरे हो चुके हैं और ग्रंथ प्रकाशित होने को है।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम सुनते ही जिस विशद दृष्टि, सुलझी विचारधारा, तलस्पर्शी चिन्तन, ओजस्वी भाषा और सजीव शैली का चित्र आपकी आँखों के सामने आ जाता है उन सब से इस ग्रंथ को आप सराबोर पाएँगे। भारतीय इतिहास और उसकी आधुनिक खोज की जैसी गहरी समीक्षा और मौलिक खोज इस ग्रन्थ में है वैसी और कहीं मुश्किल से मिलेगी।

भारतीय कृष्टि का क ख

अध्याय १

मानव कृष्टि का विकास और अर्थ

§ १. मानुष प्राणी का विकास

आधुनिक वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की विभिन्न परतों को खोद खोद कर उनकी जाँच और उनके अन्दर पाये जाने वाले प्राणि-अवशेषों की बहुत बारीकी से छानबीन की है। उस जाँच और छानबीन से वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्राणियों के आकार रूप और गढ़न में लगातार परिवर्तन होता आ रहा है। उस लगातार होते परिवर्तन को हम विकास कहते हैं। आरम्भ में एक ही नमूने का जीव था जो उथले गुनगुने पानी में पैदा हुई लेस सा था। उसी का विकास होते होते सब प्रकार के जीव बनते गये—पहले बिना रीढ़ के प्राणी, फिर जलचर, फिर उभयचर, फिर उरग या सरीसृप, तथा फिर पक्षी और मम्मल (स्तनपायी जन्तु)।

मनुष्य भी मम्मल या स्तनपायी जन्तु है जो इस विकास की सीढ़ी में सबसे ऊपर आ कर प्रकट होता है। दूसरे प्राणियों से उसमें कई विशिष्टताएँ हैं। पहली यह कि वह दोपाया है और उसके दो हाथ हैं जिनसे वह वस्तुओं को पकड़ सकता, फेंक सकता और अनेक प्रकार के कार्य कर सकता है। दूसरी यह कि उसका मस्तिष्क दूसरे जन्तुओं की अपेक्षा बड़ा है। उस मस्तिष्क के द्वारा वह सोचता है। मनुष्य की तीसरी विशिष्टता व्यक्त वाणी है। वाणी दूसरे जन्तुओं की भी है, पर उनके बोल इने-गिने हैं, जिनसे थोड़े से ही संकेत हो पाते हैं। मनुष्य

खुल कर बोलता है और अपने मस्तिष्क द्वारा जो अनेक प्रकार की बातें सोचता है उन्हें अपनी बोली में खुल कर प्रकट करता है। मनुष्य की चौथी विशिष्टता यह है कि वह समूह में रहता और काम करता है। समूह में रहना यों तो सभी पक्षियों और मम्मलों की प्रकृति में है, तो भी मनुष्य का समूह-संघटन इन सब से उत्कृष्ट है।

पृथ्वी की सबसे निचली परत में जीवों का कोई चिह्न नहीं मिलता। उस परत के बनने की काल-अवधि को वैज्ञानिकों ने **अजीव कल्प** नाम दिया है।

उसके बाद ऐसी परत है जिसमें केवल घोंघे या उसी प्रकार के मुलायम वनस्पति के छिलके पाये जाते हैं। इसकी कालावधि उन्होंने ५०-६० करोड़ वर्ष अन्दाज़ की है और उसे **जीवारम्भ कल्प** नाम दिया है।

उसके ऊपर वाली परत में पहले मछलियों और पानी के पौधों के तथा फिर उभयचरों और रेशेदार पर बिना फूल पत्ती की वनस्पतियों के ठट्ठर मिलते हैं। इस परत के बनने का काल अन्दाज़न ३०-३५ करोड़ वर्ष है और उस काल का नाम **पुराणजीव कल्प**। इस परत की सब से उपरली तह में जीवों के चिह्न नहीं से हो जाते हैं, मानो तब जीवों का प्रलय हो गया था।

उससे ऊपर वाली परत में भरपूर कंकाल हैं, पर वे प्रायः उरगों अर्थात् रेंगने वाले जन्तुओं के हैं। इनमें से अनेक उरग सौ सौ फुट तक के होते थे। उरग अपने अंडे जमीन पर देते हैं। यों इस काल में स्थलचर प्राणी मुख्य हो गये थे। इस परत के बनने का काल १२-१३ करोड़ वर्ष है और उस काल का नाम **मध्यजीव कल्प**। इसकी भी सब से उपरली तह में फिर जीवों के चिह्न नहीं से हैं, मानो फिर जीवों का प्रलय आ गया था।

इसके ऊपर वाली परत में फिर जो पंजर मिलते हैं वे मुख्यतः पक्षियों और मम्मलों तथा फूल पत्ती वाले पौधों के हैं। यह परत अन्दाज़न

६-७ करोड़ वर्ष में बनी और इसके बनने की अवधि का नाम नवजीव कल्प है।

नवजीव कल्प के फिर पाँच उपविभाग किये गये हैं। उनमें से चौथे काल की—आज से प्रायः दस लाख वर्ष पहले की—परतों में मानुष प्राणी के पंजर पहलेपहल दिखाई देते हैं। तब से ले कर आज से लाख एक वर्ष पहले तक की परतों में से ऐसे पंजर मिलते चलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि मानुष प्राणी का विकास क्रमशः कैसे हो रहा था। उसकी टाँगें और हाथ पहले ही मानुष के से हो गये थे अर्थात् वह खड़ा हो कर भाग सकता और हाथ चला सकता था—मनुष्य की पहली विशिष्टता यही थी। फिर उसके दाँत भी मानुष के से हो गये, तो भी दाढ़ की हड्डी पीछे से तंग रही जिससे वह खुल कर बोल न सकता। गरदन भी आगे झुकती रही। भेजे का पिछला अंश जो आँख त्वचा और हाथ पैर को चलाता है पुष्ट हो गया, पर अगला अंश जो वाणी और विचार को चलाता है छोटा रहा। धीरे धीरे, आज से लगभग पचास हज़ार वर्ष पहले के ऐसे कंकाल मिलने लगते हैं जो बिलकुल आज के से मनुष्यों के हैं, बल्कि जिनमें से बहुतों की भेजे की पेटियाँ आज के मनुष्यों की से भी बड़ी हैं। यों जिसे पूर्ण विकसित मनुष्य प्राणी कहना चाहिए, जिसमें मनुष्य की सब विशिष्टताएँ विद्यमान रहीं, वह लगभग पचास हज़ार बरस से इस पृथ्वी पर विचर रहा है।

§२. मनुष्य की जीविका और उपकरणों में क्रमोन्नति

क. पुराणाश्म काल का आखेटक जीवन

दूसरे जन्तुओं की तरह मनुष्य भी अपनी जीविका पहले केवल आखेट या शिकार से चलाता था—अर्थात् वह अपना भोजन उपजाता नहीं था, प्रकृति में से ढूँढ बटोर लाता था। आखेट में जन्तुओं के शिकार और फल मूल कन्द आदि के बीन लाने दोनों को गिनना

चाहिए। दूसरे जन्तु जहाँ अपने मुँह या हाथ-पैर से आखेट करते, वहाँ मनुष्य हथियारों से भी करने लगा, यही उसकी विशिष्टता थी।

वह ज्यों ज्यों खड़ा हो कर खुल कर चलने और हाथ चलाने लगा त्यों त्यों वह हथियारों से काम लेने लगा। उसके पहले हथियार लकड़ी हड्डी और पत्थर के और बहुत सीधे सादे थे। क्रमशः वह इन्हें आवश्यकतानुसार गढ़ कर कई आकारों के बनाने लगा। पत्थर के हथियार मनुष्य की हड्डियों के साथ साथ ज़मीन में गड़े अब तक मिलते हैं। आरम्भ के हथियारों में इतनी कम गढ़ाई है कि उन्हें प्राकृतिक पत्थरों से पहचानना भी कठिन होता है। वे आज से पाँच लाख बरस पहले के अन्दाज़ किये गये हैं।

तब से ले कर आज से ५०–६० हज़ार बरस पहले तक की भूमि की परतों में चकमक पत्थर के हथियार बराबर मिलते हैं। उनकी गढ़न क्रम से उन्नत होती जाती है। इन हथियारों को बर्त्तते बर्त्तते ही मनुष्य के हाथ खुले और दिमाग पनपा। चकमक को गढ़ने से आग निकलती है। सो यह अनुमान किया गया है कि उसे गढ़ते गढ़ते मनुष्य ने आग बालना सीख लिया। वह बहुत बड़ा आविष्कार था जिससे दूसरे प्राणियों को जीतने का बहुत बड़ा साधन मनुष्य के हाथ आ गया।

हथियारों का प्रयोग करने के अतिरिक्त मनुष्य जानवरों को फँसाने के लिए फन्दे भी बनाने लगा। जाड़े से बचने के लिए वह खालें ओढ़ता और गुफाओं की शरण लेता।

भोजन की तलाश के लिए आखेटक मनुष्य को बराबर भटकना पड़ता। जब उसके पड़ोस में आखेट काफी न रहता या कोई प्रबल शत्रु पड़ोस में आ जाता, तब वह अपने झुंड के साथ एक जगह छोड़ दूसरी जगह चला जाता।

यों जब मनुष्य शकल-सूरत में पूरा मनुष्य बन रहा था तभी उसने इतनी उन्नति कर ली थी। किन्तु उसकी शकल-सूरत वाणी और मस्तिष्क का पूरा विकास हो जाने के बाद भी १५-२० हज़ार बरस तक उसकी

यह आखेटक दशा जारी रही। हथियारों को देखते हुए पुराविदों ने उस अवधि का नाम **पुराणाश्म काल** अर्थात् पुराने पत्थर-हथियारों का काल रक्खा है। आज से ५ लाख बरस पहले से ५०-६० हज़ार बरस पहले तक **पहला पुराणाश्म काल** रहा। उसके बाद—अर्थात् मनुष्य प्राणी का पूरा विकास हो जाने के बाद—**पिछला पुराणाश्म काल** शुरू हुआ, जो १५-२० हज़ार बरस और चला।

इस पिछले पुराणाश्म काल में पत्थर के ही हथियार अनेकों प्रकार के तथा सुगढ़ बारीक और सुन्दर होते गये। तेज़ धार वाले छुरे और बारीक सुइयाँ तक पत्थर की बनने लगीं। वे सुइयाँ घास के डोरों से खालें सीने के काम आती थीं। मुख्य शस्त्र परशु या कुल्हाड़ा ही रहा। पर उसमें हत्था नहीं होता था। इसलिए उससे लकड़ियाँ बहुत न काटी जा सकतीं, जिससे रहने को मकान भी न बन सकते थे। फिर भी पिछले पुराणाश्मी आखेटक अपने डेरों को बाड़ें बना कर घेरते थे। बर्त्तन बनाना भी वे न जानते थे। इसलिए भोजन को भूनते ही थे, पकाते न थे। एक बार बली हुई आग को वे भरसक बनाये रखते। आगे चल कर वे धनुष-बाण भी बनाने लगे। वह बहुत बड़ी ईजाद थी जिससे शिकार और युद्ध के तरीकों में क्रान्ति हो गई। बाणों की अनियाँ तब पत्थर की ही होती थीं।

ख. नवाश्म काल—पशुपालन और आरम्भिक कृषि का उदय

शताब्दियों बाद पत्थर के हथियारों पर ओप (पौलिश) दी जाने लगी, फरसे में छेद कर काठ का हत्था लगाया जाने लगा, हथियार और भी सुगढ़ बनने लगे। इन नये ओपदार हथियारों को पुराविदों ने **नवाश्म** नाम दिया है। नवाश्मों के ज़माने में मिट्टी के बर्त्तन भी बनने लगे। पर कुम्हार का चाक तब तक नहीं था। वे बर्त्तन हाथ से बनते, अतः भद्दे और बेडौल होते।

आखेटक मनुष्य को बराबर पशुओं का पीछा करना पड़ता, उनकी आदतों को निहारना पड़ता। प्रायः वह उन्हें जीता पकड़ लेता। घास

खाने वाले जन्तु झुंडों में चरते हैं। मनुष्यों की टोलियाँ उन झुंडों के पासों पर मँडराया करतीं। कुत्ते भी स्वभाव से उसी तरह मँडराते। कुत्ता मनुष्य से बचे-खुचे टुकड़े पा कर उससे हिलमिल गया और उसका साथ देने लगा। फिर जब ऐसे अवसर आते कि जानवरों के झुंड ऐसे स्थानों में पहुँच जायँ जहाँ उन्हें घेर लेना सुगम हो, तब मनुष्य उन्हें घेर कर रोक रखने लगा, उन्हें नई चरागाहों की ओर ले जाने लगा, अथवा जिन कुछ पशुओं को उसने बाँध कर रख लिया उन्हें चारा ला कर खिलाने लगा। इस प्रकार मनुष्य पशुओं के झुंडों को अपनी सम्पत्ति मानने और पालने लगा। कुत्ते को तो उसने अपने सहायक रूप में पाला और दूसरे जन्तुओं को पहलेपहल इस दृष्टि से पाला कि आगे चल कर जब और आखेट न मिले तब उन्हें खा सके। पर जानवरों को पालना सीख जाने पर वह धीरे धीरे उनकी सवारी करने और उनका दूध भी दुहने लगा।

पशुपालन का आरम्भ होने से यों मनुष्य के जीवन में बड़ी उन्नति हुई। आखेट तब भी मुख्य जीविका रही, पर सवारी करने वाले मनुष्य के लिए दूसरे जानवरों का आखेट करना और सुगम हो गया। साथ ही दूध के रूप में एक नया खाद्य उसे मिल गया।

मनुष्य अपने खाये हुए फलों के बीज जो अपने डेरों के पास डाल देते उनसे बहुत बार नये पौधे उग आते थे। आखेटक दशा में ही किसी पुरुष या स्त्री का ध्यान इस ओर गया और उसे बीज डाल कर पौधे उगाने की सूझी। यों कृषि का आरम्भ हुआ। उस आरम्भिक कृषि में डंडे से अथवा डंडे में सींग जैसी कोई वस्तु बाँध कर बनाई हुई कुदाली से खेत बना कर हाथ से ही बीज डाला जाता था। प्रायः स्त्रियाँ बीज इकट्ठे कर लेतीं और जब किसी डेरे पर कुछ अरसा रहने का अवसर मिलता तब वहाँ फसल उठा लेती थीं। यों कुछ जंगली दानों की बार-बार कृषि होते होते जौ ज्वार और गेहूँ का विकास हुआ।

उस आखेटक-पशुपालक दशा में जैसे यह आरम्भिक कृषि चली वैसे

ही गूँथना और बुनना भी चला। भाँग और अलसी के रेशे से भँगेले† बुने जाने लगे और खालों की तरह पहने जाने लगे।

लकड़ी और पत्थरों से रहने के लिए घर या झोंपड़े भी बनाये जाने लगे। जिन प्रदेशों में झीलें होतीं वहाँ उनमें उथली ओर से पत्थर भर कर रास्ता बना कर अपनी सुरक्षा के लिए झीलों के भीतर वैसे घर बनाये जाते।

आज से १०–१२ हज़ार बरस पहले एशिया के मुख्य भाग, उत्तरी अफरीका और युरोप में मनुष्यों की टोलियाँ इस प्रकार का जीवन बितातीं। पुराविदों ने उस काल के अवशेषों को सावधानी से ढूँढ जाँच और समझ कर उसका यह चित्र बनाया है। इसे वे नवाश्मी काल का जीवन कहते हैं।

ग. तांबे और काँसे का चलन तथा नियमित कृषि

कई हज़ार बरस तक उक्त प्रकार का जीवन बिताते हुए मनुष्य धीरे-धीरे धातुओं को जान गये। सब से पहले वे सोने से परिचित हुए जिसके टुकड़ों को वे भूषण की तरह बर्तते। उसके बाद उन्होंने ताँबे और उसके समासों—काँसे और पीतल—को पहचाना। पहले वे पत्थर की तरह ताँबे की शिलाओं के भी टुकड़े काट लेते और उन्हें पत्थरभट्ठियों में लगाते थे। कभी ताँबे की शिला लगाई और उसे पसीजते देखा तो उन्हें तांबे का कमाना और फिर ढालना आ गया।

तांबे की कच्ची धात कहीं अकेली मिलती है तो कहीं रांगे और जस्ते के साथ। तांबे में दसवाँ भाग रांगा मिलाने से कांसा बनता है जो तांबे से बहुत मज़बूत होता है। तांबे और जस्ते के मेल से पीतल बनता है। आज से प्रायः ६-७ हज़ार बरस पहले एशिया, उत्तरी अफरीका और युरोप में बहुत से मनुष्य-समूह पत्थर के बजाय तांबे या काँसे के हथियार

---

† भँगेला गढ़वाल का शब्द है, जहाँ भाँग के रेशे से वैसा मोटा कपड़ा हाल तक बुना जाता रहा है, शायद अब भी बुना जाता हो।

बनाने और बर्त्तने लगे।

नवाश्म युग से ले कर तांबे या कांसे का चलन होने तक मनुष्यों की जीवनचर्या में और भी कई प्रकार से उन्नति हुई थी। आखेट के बजाय पशुपालन तब मुख्य जीविका हो गई थी। पशुपालकों को नई चरागाहों की खोज में अनेक बार लम्बी यात्राएँ करनी पड़तीं और रात को भी अपने रेवड़ों का ध्यान रखना पड़ता। यों न केवल सूर्य प्रत्युत तारों को भी देख कर वे दिशा पहचानने लगे और उनका देशों विषयक ज्ञान बढ़ता गया। नदियों के किनारे रहने वाले मछुओं के समूह लकड़ियों के बेड़े बना कर भी यात्राएँ करने लगे।

मनुष्य ने जब हल की ईजाद कर उसमें जानवर जोत कर खेत बनाना शुरू किया तब वास्तविक कृषि का आरम्भ हुआ। नियमित कृषि से मनुष्य को ऋतुओं का ज्ञान भी हुआ, क्योंकि फसल की बुवाई और कटाई ऋतु पर ही निर्भर होती। भेड़ों और ऊँटों की ऊन कात कर बुनना भी इसके साथ ही कभी शुरू हुआ। वस्तुओं का विनिमय भी होने लगा। तांबा, कांसा और उनके बने हथियार, दुर्लभ पत्थर, सोना, खालें, अलसी या भाँग के रेशों के जाल, ऊनी कपड़ा, नमक आदि उस समय व्यापार की वस्तुएँ थीं। इन वस्तुओं और पशुओं के लिए डकैती भी होने लगी और ये खिराज या कर रूप में भी ली दी जाने लगीं।

घ. लोहे का चलन और कृषि का विकास

अन्त में आज से लगभग चार हज़ार बरस पहले मनुष्यों ने लोहे को पहचाना और बर्त्तना शुरू किया। तब बहुत मज़बूत और विविध प्रकार के हथियार बनने लगे, जिनसे मनुष्यों के जीवन में फिर बड़ी उन्नति हुई।

जो प्रदेश उपजाऊ थे और जिनमें पानी नियम से मिलता था, उनमें नियमित खेती होने लग गई, जिससे वहाँ के लोग खूब फूले फले और टिक कर रहने के अभ्यासी हो गये। बाँगरों और जंगलों में विचरने वाले लोग इसके बाद भी खानाबदोश पशुपालक बने रहे।

जितने प्रकार के अन्न शाक और फल आज उगाये जाते हैं उन सब से परिचित होने में विभिन्न मनुष्य-समूहों को कई हज़ार वर्ष लगे। फलों की कृषि तो बहुत पीछे चली। पशुपालन का आरम्भ होने के हज़ारों वर्ष बाद मुर्गियों का पालना शुरू हुआ।

नियमित कृषि जारी होने पर भूमि का स्वत्व भी शुरू हुआ। तो भी आरम्भ में एक-एक बस्ती की ज़मीन एक-एक समूह की साझी होती थी। एक फसल के लिए वह उस समूह के परिवारों में बाँट दी जाती, फसल कट जाने पर वह फिर सारे समूह की साझी हो जाती। अगली फसल के लिए वह फिर बाँटी जाती।

पर नियमित कृषि चल जाने पर भी तीस-चालीस वर्ष में ज़मीन की उपजाऊ शक्ति घट जाती और तब मनुष्यों के समूहों को नये खेतों की खोज में निकलना पड़ता। धीरे-धीरे जब मनुष्यों ने खाद देना सीख लिया और सिंचाई के स्थायी साधन—नालियाँ कुएँ नहरें आदि—बना लिये, तब मनुष्यों के समूह पूरी तरह टिक गये। आगे चल कर बागवानी शुरू होने पर मनुष्य-समूहों की स्थिरता और भी पक्की हुई; क्योंकि बगीचों में लगाये हुए पेड़, अनाज या सब्जी की तरह एक बार फल कर समाप्त नहीं हो जाते, पचासों बरस फल देते हैं।

कृषि में यों उन्नति होने से भूमि का स्वत्व भी धीरे धीरे व्यक्तियों का हो गया, क्योंकि एक पुरुष ने जिस खेत को खाद दे कर पुष्ट किया, जिसमें कुआँ लगाया या पेड़ रोपे, उसे वह एक फसल काट लेने के बाद भी छोड़ने को तैयार न हो सकता था।

मनुष्य टिक कर रहने लगे तो टिकाऊ और अच्छे घर भी बनाने लगे। उनके रहन-सहन में तब सब प्रकार से उन्नति होने लगी।

ङ. कारीगरी का विकास

काँसे और लोहे का चलन तथा कृषि का विकास होने से कारीगरी का महत्त्व बढ़ा। कृषि के लिए हल कुदाल आदि, माल ढोने और सवारी के लिए गाड़ियाँ काठियाँ रथ और नावें, रहने के लिए मकान, पहरने के

लिए कपड़ा और जूता, एवं युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र बनाना सब कारीगरों का ही काम था। कृषक समूहों में बहुत लोग इस प्रकार कारीगरी के ही काम करने लगे और कृषकों को उनके काम के उपकरण दे कर बदले में उनसे अन्न पाने लगे। वस्तुओं का विनिमय या वाणिज्य जो तांबे और काँसे के चलन के साथ चला था, लोहे का चलन और कृषि का विकास होने से और बढ़ता गया। धीरे धीरे ऐसी दशा आ गई कि अनाज उपजाना तो साधारण बात हो गई, और मनुष्यों के जो समूह कारीगरी और वाणिज्य में दूसरों से बढ़ जाते वे अपने सुख और उन्नति के साधन अधिक जुटा पाते और दूसरे समूहों को मात दे कर अपने वश में कर लेते। ऐसी दशा आने पर मनुष्यों के समूह कृषि की मंजिल से कारीगरी या व्यवसाय की मंजिल पर पहुँच गये।

आरम्भ में कारीगरी के सब धन्धे मनुष्य अपने हाथ पैर से या जानवरों की शक्ति से चलाता रहा। आगे चल कर वह प्रकृति की शक्तियों से भी काम लेने लगा। बहते वायु या गिरते पानी के बल से उसने पवनचक्कियाँ और पनचक्कियाँ चलाईं, नावों को चलाने के लिए पालों द्वारा वायु के सहाय का उपयोग किया। पिछली दो शताब्दियों में भाप और बिजली की शक्ति का उपयोग चला और खूब बढ़ा है। आज मनुष्य अणु-विशरण शक्ति को जोतने के प्रयत्न में लगा है।

यों मनुष्य का अपनी जीविका और जीवन के लिए संघर्ष उसे बराबर उन्नति की दिशा में ले जाता जान पड़ता है।

§३. मानव समूहों के संघटन का विकास

मनुष्यों ने उक्त प्रकार से अपनी जीविका में जो उन्नति की सो समूहों में रहते हुए। यह देखना चाहिए कि जीविका की प्रगति के साथ-साथ समूहों का स्वरूप भी प्रायः बदलता गया। किसी समूह के भीतर मनुष्यों का एक-दूसरे से कैसा सम्बन्ध है, तथा मनुष्यों का कोई समूह दूसरे किसी समूह से सम्पर्क में आने पर कैसे बर्त्तता है,. यह अनेक बार उन

समूहों की जीविका के स्वरूप से निश्चित या प्रभावित होता है। यहाँ हम इसके कुछ उदाहरण ही दे सकते हैं।

पुराणाश्मी आखेटक दशा में जब आखेटकों के झुंड आपस में लड़ते और एक झुंड दूसरे को हरा देता, तब जीतने वाले हारने वालों को भगा दें या मार दें इसके सिवाय और कुछ न कर सकते थे। हारने वाले पुरुषों को पकड़ कर कैदी या दास बनाने से विजेताओं को कोई लाभ न होता—हाँ, किसी दशा में हारे झुंड की स्त्रियों को वे भले ही पकड़ लेते। मरों की लाशों को विजेता प्रायः छोड़ देते, पर किन्हीं किन्हीं झुंडों में ऐसी प्रथा भी रही कि वे उन्हें दूसरे जानवरों की तरह खा जाते। वैसे मनुष्यों के झुंड पुरुषादक कहलाते।

यह तो स्पष्ट ही है कि आखेटक खानाबदोश दशा में स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध वैसा टिकाऊ नहीं हो सकता था जैसा पीछे के टिके समूहों में हुआ।

मनुष्यों के जिन समूहों ने पशुपालन और पशुओं की सवारी करना पहले सीखा, उन्होंने पैदल चलने वाले आखेटक समूहों को बड़ी आसानी से हरा दिया। इसी प्रकार जिन समूहों ने तांबे काँसे और फिर लोहे के हथियार पहले बनाये, वे युद्धों में दूसरों से बाजी मार ले गये। हारने वाले या तो मिट गये या विजेताओं के दास बने। पशुपालक जैसे पशुओं से अपना काम लेते, वैसे पराजित दासों से भी ले सकते थे। तो भी खानाबदोश पशुपालकों के पास दासों से कराने के लिए बहुत काम न होता, और खानाबदोशी की दशा में उनके दासों को भाग जाने के भी बहुत अवसर मिलते थे। किन्तु टिके हुए कृषकों के पास दासों से कराने को काम भी खूब था और दासों को वश में रखना भी उनके लिए सुगम था। इसलिए कृषि के विकास के साथ-साथ दासता की प्रथा भी बहुत से मनुष्य-समूहों में खूब पनपी।

कृषि, कारीगरी और टिके जीवन का विकास होने पर ही वस्तुओं के विनिमय या व्यापार, चोरी, डकैती, एक समूह द्वारा दूसरे समूह को हरा

कर उससे कर या खिराज वसूलने आदि की पद्धतियाँ भी चलीं।

शक्तिचालित यन्त्रों का युग शुरू होने पर जब बड़े बड़े यन्त्र बनने लगे और थोड़े से धनी लोगों के हाथ में उनका स्वत्व रहा, तब बहुत लोग उन धनी कारखानेदारों के भृतक मजदूर बन कर काम करने लगे। आज प्रत्येक मनुष्य-समूह में वैसे मजदूरों का बहुत बड़ा वर्ग है।

यों हमने देखा कि मनुष्यों की जीविका के प्रकारों में परिवर्त्तन होने से उनके समूहों का साँचा भी बदल जाता है। पर वह सब समूहों में सदा ठीक एक ही ढंग से बदलता हो सो बात नहीं।

साथ ही हमने देखा कि मनुष्य-समूहों के पारस्परिक संघर्ष में प्रगति में पिछड़े समूह प्रायः हार कर मिट जाते हैं। इन हारने और मिटने वालों की दृष्टि से यह बात ठीक नहीं लगती कि मनुष्य लगातार उन्नति कर रहा है, क्योंकि वे किसी मंजिल तक उन्नति करके उसके बाद रुक जाते और गिर पड़ते हैं। किन्तु यदि हम मनुष्यमात्र की अर्थात् समूची मानव जाति की दृष्टि से देखें, तो मनुष्य लगातार उन्नति करता ही प्रतीत होता है। मनुष्यों का एक समूह जहाँ थक कर उन्नति की मशाल को छोड़ देता वहाँ दूसरा उसे थाम लेता है। और इस उन्नति का श्रेय बहुत कुछ मनुष्यों के जीविका-संघर्ष को प्रतीत होता है।

पर इस सिद्धान्त की सीमा है। मनुष्य की उन्नति-अवनति का एक और पहलू भी है।

§४. मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियाँ

आखेटक मनुष्य जानवरों का पीछा करते करते अपने आखेट को सुरक्षित करने की प्रेरणा से कैसे उन्हें पालने लगा होगा इसका अनुमान हमने ऊपर किया है। किन्तु एक और प्रकार से भी उसे पशुओं को पालने की प्रेरणा मिली हो सकती है। किसी शिकारी ने कभी किसी हिरनी साथ उसका छोटा सा बच्चा भी पकड़ा, या हिरनी का पेट फाड़ा तो जीता बच्चा निकल आया जो उसे बहुत प्यारा लगा और उसने उसे

पाल लिया। पशुपालन का आरम्भ यों भी हुआ हो सकता है। सुन्दर प्राणी को प्यार करने की इच्छा जो उस शिकारी में थी उससे उसे अपनी जीविका में कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं था। फिर भी वह इच्छा थी ही।

पुराने आखेटकों की गुफाओं में जहाँ उनके पत्थर के हथियार पाये गये हैं, वहीं गेरु आदि के रंगों से उन गुफाओं की दीवारों पर उनके बनाये चित्र भी मिले हैं, जिनमें से अनेक बहुत जानदार और सुन्दर हैं। नवाश्मी और ताम्र काल के मिट्टी के बर्त्तनों पर सुन्दर रँगाई और चित्रकारी पाई जाती है। उस चित्रकारी से भी जीविका में कोई लाभ न था।

सुन्दर वस्तुओं को पहचानने और रचने की योग्यता तथा पसन्द करने की प्रवृत्ति की तरह एक और ऊँची प्रवृत्ति भी मनुष्य में है। वह है सचाई को खोजने और ज्ञान पाने की। हमने देखा है कि पशुपालक दशा में मनुष्यों ने तारों को झाँकते हुए तारों की स्थिति जो पहचान ली उससे उन्हें अँधेरी रातों में दिशा पहचान कर रास्ते ढूँढने में बड़ी सहायता मिली। पर वह लाभ पीछे जा कर हुआ। पहलेपहल जिन मनुष्यों ने तारे झाँकना शुरू किया उन्हें तब उससे कोई लाभ नहीं होता था। उन्हें केवल जानने की इच्छा थी।

मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाने से उसकी जीविका बेहतर होती गई इसमें सन्देह नहीं। ज्ञान की नई बातें बहुत बार जीविका के लिए या युद्ध के समय जीवन-रक्षा के लिए लाचार होने पर सूझती हैं यह भी ठीक है। पर मनुष्य के ज्ञान का बहुत बड़ा अंश उन लोगों का खोजा हुआ है जिन्होंने केवल इसलिए उसे खोजा कि उनके अन्दर सत्य की प्यास थी, वे सचाई को जानने के लिए यों ही उत्सुक और आतुर होते थे। उन्हें स्वयं उस ज्ञान को ढूँढ निकालने से कुछ लाभ नहीं हुआ, उलटा बहुत बार हानि हुई और बहुत कष्ट झेलने पड़े। पीछे उनके ज्ञान से सब लोगों को लाभ हुआ यह दूसरी बात है।

मनुष्य में एक और ऊँची प्रवृत्ति भी है। वह है भलाई करने की।

मनुष्य सदा अपने या अपने समूह के स्वार्थ के लिए ही नहीं लड़ता। अनेक मनुष्य जिस बात को उचित या न्यायपूर्ण समझते हैं उसके लिए भी लड़ते हैं, और उसके लिए लड़ते हुए अपने स्वार्थ का बलिदान कर बहुत कष्ट झेलते हैं।

भलाई को हम शिव मंगल या कल्याण भी कहते हैं। सत्य शिव और सुन्दर को लक्ष्य करके चलने की मनुष्य में जो प्रवृत्तियाँ हैं उन्हें हम मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियाँ कहते हैं।

ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य में सदा रही हैं। सभी युगों में भिन्न भिन्न मनुष्यों में ये न्यूनाधिक होती हैं, पर ऐसा नहीं कि आखेटक दशा से आज तक जीविका की उन्नति के साथ ये बढ़ती या घटती गई हों। जिस आखेटक ने पहलेपहल आग बालने का तरीका निकाला, या जिस पशु-पालक ने हल में बैल जोत कर खेती करने का रास्ता दिखाया, उसकी प्रतिभा भाप-एंजिन या हवाई जहाज की ईजाद करने वालों से कम न थी। दूसरी तरफ़, मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियाँ भी जीविका की उन्नति के साथ घट नहीं रही हैं। आज जो लोग एक एक अस्त्र से लाखों प्राणियों का संहार करते हैं वे खूँखारी में पुराने पुरुषादकों से कम नहीं हैं।

मनुष्य की ऊँची प्रवृत्तियों को कुछ लोग आध्यात्मिक और उसकी स्वार्थ प्रेरित प्रवृत्तियों को आधिभौतिक कहते हैं। एक पहलू से देखने पर ऐसा दिखाई देता है कि मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति बहुत कुछ इन्हीं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से की गई चेष्टाओं का फल है। आधिभौतिक उन्नति से प्राप्त वैभव जब किसी समूह में अपने मूल-भूत उन्नति के इन प्रेरकों को दबाने लगता है, तब वह समूह अपने पतन और नाश की तैयारी करता है। वैभव के साथ जब तक किसी समूह के अधिक लोग संयम रखते और इन मूल प्रेरणाओं को प्रोत्साहित करते चलते हैं, तब तक वह समूह उन्नति के पथ पर चलता रहता है।

मानव उन्नति और अवनति के सिद्धान्त गणित के से स्पष्ट और निश्चित सूत्रों में नहीं कहे जा सकते। तो भी यह कहा जा सकता है कि

जीविका-संघर्ष द्वारा मनुष्य के उन्नति करने की बात में जैसी सचाई है, वैसी ही सचाई 'ऊँची' या 'आध्यात्मिक' प्रवृत्तियों की प्रेरणा से उन्नति करने की बात में भी है।

§५. कृष्टि का अर्थ और उसके विभेदक कारण

कोई मनुष्य-समूह अपनी ऊँची-नीची अच्छी-बुरी सहज मानव प्रवृत्तियों से प्रेरित हो कर जो कुछ रचता है उसे हम **कृष्टि** कहते हैं। प्राचीन इतालिया की लातीनो भाषा में इसी **कृष्टिः** शब्द का रूपान्तर **कुल्तुस्** (cultus) था। * **कुल्तुस्** के पर्याय रूप में लातीनो में **उमानितस्** (humanitas) अर्थात् मानवता भी कहा जाता था, क्योंकि मानव की कृष्टि में उसकी पूरी मानवता प्रतिबिम्बित होती है।

पर भिन्न भिन्न मनुष्य-समूहों की कृष्टि भिन्न भिन्न प्रकार की क्यों होती रही है? भारतीय कृष्टि चीनी कृष्टि युरोपी कृष्टि आदि का विभेद क्यों किया जाता है? क्या उनमें कोई गहरे अन्तर हैं या ऊपर ऊपर की ही विभिन्नता है? और जो भी अन्तर हैं उनके कारण? देश-काल का भेद?

देश अर्थात् भूमि जलवायु और प्राकृतिक परिस्थिति मनुष्यों की कृष्टि

---

* आधुनिक युरोपी भाषाओं में कुल्तुस् का रूपान्तर हो कर कुल्तूर या कुल्तूरा शब्द बने हैं। अंग्रेज़ी में उसी का उच्चारण कलचर है। हिन्दी में इधर कुछ समय से उस अर्थ में संस्कृति शब्द बर्त्ता जा रहा है। पर कृष्टि या कुल्तुस् में किसी मनुष्य-समूह की संस्कृति विकृति और साधारण कृति—अर्थात् अच्छी बुरी और साधारण सब प्रकार की कृति—सम्मिलित है, केवल अच्छी कृति ही नहीं। भारतीय कृष्टि के विषय में सब से बड़ा प्रश्न यह रहा है कि सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से भारतीय कृष्टि में दीक्षित भारत के लोग युरोपियों से बराबर क्यों मार खाते रहे। इस प्रश्न के सुलझाव का ठीक रास्ता महाराष्ट्र के महान् ऐतिहासिक विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे (१८६४—१९२६) ने दिखाया। पर राजवाडे भारत के लोगों की उस शिक्षा-दीक्षा को जिससे उन्होंने युरोपियों का सामना करने में बराबर पछाड़ खाई, कभी संस्कृति कहना पसन्द नहीं करते थे। उसे उन्होंने 'हिन्दू विकृति' और 'इस्लामी विकृति' कह कर ही याद किया।

को प्रभावित करती है इसमें कोई सन्देह नहीं। कोई भी मनुष्य-समूह जैसे देश में रहेगा उसकी परिस्थिति के अनुसार ही रचना करेगा।

काल अर्थात् ऐतिहासिक परिस्थिति अर्थात् किसी युगविशेष में चारों तरफ के बनाव भी उसी प्रकार मनुष्यों के बर्ताव और उनकी कृति को प्रभावित करते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्यों की कृष्टि उनके अपने बीज, वंश अथवा नस्ल से प्रभावित होती है, ऐसा प्रचलित विश्वास है। अनेक जातियों के लोग अपनी जाति को सब जातियों में श्रेष्ठ और विधाता की विशिष्ट कृपापात्र जाति मानते और कहते रहे हैं। उनकी वैसी धारणा संसार में भयानक युद्ध और मारकाट मचने का कारण होती रही है। दूसरी तरफ संसार के अनेक श्रेष्ठ पुरुष मनुष्य मात्र की समानता की घोषणा करते रहे हैं। इस विवाद का निपटारा हुए बिना भी हम यह मान सकते हैं कि किसी युग-विशेष में किसी मनुष्य-समूह के अधिक लोग दूसरे समूह या समूहों की अपेक्षा अधिक जागरूक, अधिक सचेष्ट, अधिक ऊँची भावनाओं से प्रेरित और अधिक योग्य हो सकते हैं।

मनुष्यों का कोई वंश दूसरे वंशों से किन्हीं अंशों में अच्छा या बुरा है कि नहीं, इस व्यर्थ विवाद में पड़े बिना भी हमें यह जानना चाहिए कि मनुष्य के अनेक वंश और अनेक भाषाएँ होना मनुष्य प्राणी के विकास का एक पहलू है। और जब हम भारत जैसे बड़े देश में कई हजार वर्षों की मानव कृति के विषय में जिज्ञासा ले कर चले हैं तब हमें मनुष्य के उस पहलू को भी देखना समझना चाहिए। उससे हम यह जान सकेंगे कि भारतीय कृष्टि को उत्पन्न अथवा प्रभावित करने में किस किस मानव वंश की क्या क्या देन है।

किसी देश और जाति की कृष्टि दूसरे देशों या जातियों की कृष्टि से बेहतर है कि नहीं इसकी चर्चा भी निरर्थक है। सच कहें तो जब तक हम पृथ्वी के सब देशों और जातियों की कृष्टि का सब युगों में पूरा तुलनात्मक अध्ययन न कर लें, तब तक इस बारे में कुछ कहना केवल

अपनी ज्ञानलवदुर्विदग्धता का परिचय देना है। हमें पहले भारतीय कृष्टि के स्वरूप को समझना है। उसके लिए सब से पहले भारत की भूमि और यहाँ की जनता और भाषाओं के विषय में जानना चाहिए।

§ ६. मानव भाषाएँ और नस्लें

भाषा से मनुष्य अपने विचार दूसरे मनुष्यों तक पहुँचाता है। यों बहुत से मनुष्यों की एक भाषा होती है। कई बार तो मनुष्यों के अनेक छोटे-छोटे समूहों को मिला कर उनकी एक भाषा होती है। पर ऐसा भी होता है कि अनेक भाषाओं वाले लोग मिल कर एक समूह बन जायँ।

आज संसार में मनुष्यों की आठ नौ सौ भाषाएँ या बोलियाँ हैं। उनमें से बहुत बहुत सी मिला कर एक एक वंश या परिवार की हैं। अर्थात् जैसे एक पेड़ से शाखाएँ प्रशाखाएँ निकलते निकलते या एक पुरुष की सन्तान प्रसन्तान होते होते बड़ा परिवार बन जाता है, उसी प्रकार एक एक मूल भाषा से बहुत बहुत सी भाषाएँ बनी हैं।

एक एक भाषा का परिवार कैसे बढ़ता गया इसे हम आसानी से देख सकते हैं। भारत की विद्यमान कुछ भाषाओं में एक ही बात कैसे कही जाती है उसका नमूना लें।

हिन्दी—एक पिता (बाप) के दो पुत्र (बेटे) थे।

बँगला—एक पितार दुइ पुत्र छिल।

उड़िया—एक पितांकर दुइटि पुत्र थिले।

मराठी—एक पित्यास दोन पुत्र होते।

सिंहली—एक पियेकुट पुत्रयो देदेनेक ऊह।

गुजराती—एक बापना बे बेटा हता।

सिन्धी—हिक पीउखा ब पुट हुआ।

पंजाबी—इक प्योदे दो पुत्र सन।

पश्तो—यवो पिलार दा अमन अवुः।

कश्मीरी—आकेस मालिस आस्य ज़ न्यचिव्य ।

(एक पिता के थे दो बेटे)

पर्बतिया—यौटा बाबु को दुइटा छोरा थिये ।

स्पष्ट दिखाई देता है कि इन भाषाओं के मूल शब्द एक ही हैं। भाषाएँ भी धीरे धीरे बदलती रहती हैं। इन्हीं प्रदेशों की हज़ार आठ सौ बरस पहले की और दो सवा दो हज़ार बरस पहले की भाषाओं के नमूने भी हमारे पास हैं। ज्यों ज्यों हम पीछे जाते हैं इन भाषाओं का अन्तर कम होता जाता और अन्त में मिट जाता है।

इस प्रकार की जाँच-पड़ताल से मालूम हुआ है कि दक्खिनी भाग को छोड़ कर लगभग सारे भारत की, अफगानिस्तान-ईरान की तथा लगभग सारे युरोप की भाषाएँ एक ही वंश की हैं। इन सब की मूल भाषा एक ही थी। प्राचीन काल में इस वंश की अनेक भाषाएँ बोलने वाले अपने को आर्य कहते थे, इसलिए इसका नाम आर्य वंश रक्खा गया है।

दक्खिन भारत में चार भाषाएँ हैं—तेलुगु, कन्नड, तमिळ और मलयाळम। ऊपर वाली बात इनमें यों कही जाती है—

तेलुगु—वोक तंड्रिकी इद्दरु कोडुकुलु उंडिरि ।

कन्नड—ओब्ब तन्देगे इब्बरु मक्कलु इद्दरु ।

तमिळ—ओरु तकप्पनारुक्कु इरंडु कुमार्कल इरुन्दनर ।

मलयाळम—ओरु पिताविन्नु रंटु पुत्रन्मार उंटायिरुन्नु ।

इनमें से तमिळ वाक्य में कुमार शब्द तथा मलयाळम वाक्य में पिता और पुत्र शब्द संस्कृत से लिये हुए हैं। इन उधार लिये शब्दों को छोड़ दें तो भाषा के मूल शब्दों और बनावट को देखते हुए इनकी आर्य भाषाओं से कोई सगोत्रता दिखाई नहीं देती। पर इनका परस्पर सम्बन्ध और एक परिवार का होना स्पष्ट है। उस परिवार को हम द्राविड वंश कहते हैं।

हमारे झाड़खंड या छोटा नागपुर प्रदेश की मुंडारी भाषा में वही

बात यों बोली जाती है—

मुंडारी—मियाद आपुआ बारिया कोड़ाघेनकिङ ताइकेना ।

इस भाषा का आर्य या द्राविड भाषाओं से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता । पर अपने पड़ोस की सन्थाली आदि भाषाओं, खासी-जयन्तिया पहाड़ी प्रदेश की भाषा, नक्कवार ('निकोबार') द्वीप की भाषा तथा बरमा-कम्बुज प्रायद्वीप की कुछ भाषाओं से उसकी सगोत्रता है । जिस वंश की ये भाषाएँ हैं वही वंश मलाया और सुमात्रा से ले कर प्रशान्त महासागर के हवाई और ईस्टर द्वीपों तक फैला हुआ है । ये देश और द्वीप पुरानी दुनिया के दक्खिनपूरवी अथवा आग्नेय कोण में हैं, इसलिए जर्मन विद्वान् श्मिट ने इसे आग्नेय (आउस्ट्रिक) नाम दिया ।

नेपाल राज्य में आज बहुत लोगों की भाषा पर्बतिया उर्फ गोरखाली है, पर आधे के लगभग लोग दूसरी भाषाएँ बोलते हैं । ठेठ नेपाल दून में नेवार नामक जाति प्राचीन काल से रहती है । उसी के नाम से उस प्रदेश का नाम नेपाल पड़ा । नेवारी भाषा में उक्त बात यों कही जाती है—

नेवारी—छम्ह अबुया निम्ह काय् दु ।

इसमें और उक्त आर्य द्राविड आग्नेय भाषाओं के नमूनों में कोई एकमूलता नहीं प्रतीत होती । पर हिमालय के उपरले किनारे के साथ साथ तथा भारत की पूरवी स्थल-सीमा पर अनेक भाषाएँ नेवारी के परिवार की हैं । इन भाषाओं के बोलने वालों को हमारे पुरखा किरात कहते थे । तिब्बती और बरमी भाषाएँ भी इसी वंश की हैं । और तिब्बती और बरमी भी एक ही तने की दो शाखाएँ हैं । इसलिए हमारे पुरखों ने अपनी उत्तरी और पूरवी सीमा के लोगों को जो एक ही नाम दिया सो बिलकुल ठीक था । किरात भाषाओं का फिर चीन और स्याम की भाषाओं से नाता है । इन सब को मिला कर भाषाओं का चीन-किरात वंश बनता है ।

चीन की उत्तरी सीमा पर मंगोल और मंचु देश हैं । हूण और तुर्क

लोग भी प्राचीन काल में उन्हीं देशों की उत्तरी सीमा पर रहते थे। मंगोल, मंचु और तुर्की भाषाओं को मिला कर एक समूह बनता है। मंगोलिया के अल्तइ पर्वत के नाम पर विद्वानों ने इसका नाम अल्तइक रक्खा है। रूस के ऊराल पर्वत की सीमा पर भी हूणों-तुर्कों से मिलते-जुलते लोग रहते थे। अल्तइक और ऊराली भाषाएँ मिला कर एक वंश बनता है जिसे विद्वानों ने ऊराल-अल्तइक नाम दिया है। युरोप में फ़िनलैंड और हुनगारी की भाषाएँ भी उसी वंश की हैं।

भारत के पच्छिम अरब देश है। अरबी, यहूदियों की हिब्रू और अबीसीनिया या हब्श देश की हब्शियानी भाषाएँ एक वंश की हैं। वह सामी या शेमी (सेमेटिक) कहलाता था। प्राचीन काल में ईरान की खाड़ी पर बावेरु या बाबिल और खल्द नामक बस्तियाँ थीं; उनके उत्तर-पच्छिम अस्सुर लोगों का देश ('असीरिया') था और आधुनिक सीरिया-फिलिस्तीन के तट पर पणि लोगों का देश ('फ़िनीशिया')। बाबिल-खल्दियों, अस्सुरों और पणियों की भाषाएँ भी शेमी वंश की थीं। वे भाषाएँ मिट चुकी हैं। अरब लोग पहले खास अरब में ही रहते थे। सातवीं शताब्दी में वे ईरान की खाड़ी से भूमध्य सागर तक और मिस्र से मोरक्को तक फैल गये। उन सब देशों में अब अरबी बोली जाती है।

बाबिलियों खल्दियों के समकालीन मिस्र के हामी या हेमी (हैमिटिक) लोग थे। उन हेमियों के थोड़े से वंशज अब मिस्र में बचे हैं। उनके अतिरिक्त अफ़रीका के पूरबी तट पर सोमालिस्तान और उसके पास-पड़ोस की भाषाएँ भी उसी वंश की हैं। बाकी अफ़रीका में दो बड़े वंश हैं, एक सूदानिक जिसमें सूदान से पच्छिमी अफरीका तक की भाषाएँ हैं, और दूसरा बन्तू जिसमें मध्य और दक्खिनी अफरीका की।

मंचूरिया के पूरब तरफ एशिया के उत्तरपूरबी कोने, कोरिया, जापान और कमचतका प्रायद्वीप की भाषाएँ एक अलग परिवार की हैं। पुरानी दुनिया के उत्तरपूरबी या ईशान कोण में होने से इसे हम

ऐशान† वंश कहते हैं।

अमरीका महाद्वीप को युरोप के लोगों ने सोलहवीं सदी में जीता। वहाँ के पुराने लाल इन्दियों का उन्होंने संहार कर दिया या उन्हें बन्द घेरों में रख दिया। उन लाल इन्दियों की भाषाओं के कई वंश अभी तक ज़िंदा है, पर धीरे धीरे मिट रहे हैं। अब उत्तरी अमरीका के बड़े भाग में अंग्रेजी, कैनेडा के एक अंश में फ्रांसीसी, ब्राजील में पुर्त्तगाली तथा बाकी सारे दक्खिनी और मध्य अमरीका में स्पेनी चलती है।

विभिन्न देशों के मनुष्यों के रंग-रूप पर ध्यान दें तो भी मनुष्यों की कई नस्लें या नृवंश दिखाई देते हैं। भाषा से नस्ल या वंश की पहचान बहुत कुछ होती है, पर सदा नहीं होती, क्योंकि जिस देश में जो लोग प्रबल होते हैं उनकी भाषा दूसरे भी अपना लेते हैं। विभिन्न नृवंशों के लोगों में विवाह होने से भी नस्लों के चिह्न मिटते रहते हैं। जलवायु, भोजन और रहन-सहन का भी उन चिह्नों पर प्रभाव पड़ता है।

नृवंशविज्ञानी अर्थात् मानव वंशों की खोज-पड़ताल करने वाले मोटे तौर पर संसार के लोगों को तीन बड़े वंशों में बाँटते हैं। एक गोरा या गेहुँआँ वंश जिसमें मुख्य आर्य लोग हैं। दूसरा काला वंश जिसमें मुख्य अफरीकी, द्राविड और आग्नेयों की बहुत सी शाखाएँ हैं। सामी और हेमी इन दोनों के बीच में हैं। तीसरा पीला वंश जिसमें चीन-किरात, ऊराल-अल्तइक और ऐशान वंश के लोग हैं। लाल इन्दी भी इस पीले वंश की ही शाखा हैं। बहुत पुराने ज़मानों में उत्तरपूरबी एशिया की भूमि अमरीका से जुड़ी हुई थी, बेरिंग खाड़ी तब नहीं थी,

---

† अंग्रेज़ी में हाइपरबोरियन, जिसका मूल यूनानी रूप है इपेरबोरेओस (बहुवचन इपेरबोरेई)। बोरेओस का अर्थ है उत्तरी या उत्तरपूर्वी पवन; इपेर-बोरेओस = उत्तरी पवन से भी परे अर्थात् अत्यन्त उत्तर का। इपेरबोरेई लोग यूनानी धारणा के अनुसार गोरे रंग नीली आँखों और सुनहरे केशों वाले थे। इस धारणा के रहते जापानियों के अर्थ में इपेरबोरेई शब्द उतना ठीक नहीं है जितना संस्कृत का ऐशान शब्द।

जिससे एशिया से अमरीका तक आखेटक मनुष्य भी जा आ सकते थे।

रंग के अतिरिक्त विभिन्न नृवंशों के कद तथा खोपड़ी आँख नाक जबड़े और केशों की बनावट में अन्तर होता है।

गोरे नृवंश का कद प्रायः लम्बा, पीले का प्रायः नाटा होता है।

खोपड़ी की लम्बाई को १०० मानें, और चौड़ाई उसके अनुपात में ७७·७ तक हो तो उसे दीर्घकपाल कहते हैं। यदि चौड़ाई ८० से अधिक हो तो उसे हम वृत्तकपाल अर्थात् गोल खोपड़ी कहते हैं। आर्यों की अधिकतर शाखाएँ दीर्घकपाल हैं, पीली जातियों की वृत्तकपाल। भारत में बंगाली प्रायः वृत्तकपाल हैं; उनका सिर देखते ही चौड़ा लगता है। इसका प्रकट कारण यह कि बंगालियों में किरातों का खून खूब मिला है। खोपड़ी की लम्बाई चौड़ाई नृवंशों के दूसरे चिह्नों की अपेक्षा बहुत अधिक स्थायी है।

नाक की लम्बाई को १०० मानें और चौड़ाई उसके अनुपात से ७० तक हो तो उसे हम सुनास कहते हैं। चौड़ाई ८५ तक हो तो मध्यनास और ८५ से भी अधिक हो तो पृथुनास। आर्य लोग सुनास होते हैं। द्राविडों की मुख्य पहचान चौड़ी नाक है।

दोनों आँखों के बीच में नाक के पुल का कम या अधिक उठा होना एक और पहचान है। पीली जातियों की नाक का पुल बहुत कम उठा होता है, इससे उनकी नाकें चिपटी, गालों की हड्डियाँ उभरी हुई और चेहरे चौड़े दिखाई देते हैं।

मुँह और जबड़े का माथे की सीध से आगे बढ़ा या न बढ़ा होना एक और पहचान है। इसी प्रकार होठों का मोटा या पतला होना। हब्शियों का जबड़ा आगे बढ़ा और होंठ मोटे बाहर निकले हुए होते हैं।

विभिन्न नृवंशों के केशों की बनावट में भी अन्तर है। हब्शियों के केश ऊन की तरह गुच्छेदार, आर्यों के लहरदार और पीली जातियों के सीधे होते हैं। आर्यों की दाढ़ी-मूँछ भरपूर, हब्शियों की मध्यम और पीली जातियों की बहुत कम उगती है।

मनुष्य की भाषाओं और देह-लक्षणों में इतना मौलिक वंशभेद कैसे हो गया? इस विषय में विद्वानों के दो मत हैं। एक यह कि मानुष प्राणी का रूप प्रकट होने से पहले मानुष और वनमानुष का पूर्वज जो प्राणी था, उसी की विभिन्न नस्लें हो चुकी थीं और उन विभिन्न नस्लों से विभिन्न नृवंशों का विकास हुआ। दूसरा यह कि मानुष प्राणी का उदय एक ही रूप में हुआ, पर पुराणाश्मी काल के ४-५ लाख वर्षों में जब उसका विकास हो रहा था, तब लाखों वर्षों तक विभिन्न मनुष्य टोलियों के एक-दूसरे से दूर दूर और विभिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों में विचरने और रहने से विभिन्न नृवंश बन गये। ध्यान रहे कि मनुष्य की वाणी का विकास भी इसी अवधि में हुआ। इसलिए विभिन्न नृवंशों की भाषाओं का आरम्भ से ही पृथक् पृथक् दिशाओं में उगना और बढ़ना पूरी तरह सम्भावित था।

———

अध्याय २

भारत की भूमि और जनता

§ १. भारत का भूमि-निवेश*

क. उत्तर भारतीय मैदान

भारत के जिस नक्शे में भूमि की समुद्रतल से ऊँचाई की सतहें अलग अलग रंगों से दिखाई हों, उसे देखते ही उत्तर भारत के विशाल मैदान पर सब से पहले ध्यान जाता है।

हिमालय से उतरने वाले नदियों के दो जाल इस मैदान को सींचते हैं। सिन्ध-सतलज जाल का रुख एक तरफ और गंगा-जमना का दूसरी तरफ है। दोनों के बीच पनढाल है जिसका उत्तरी अंश कुरुक्षेत्र के बांगर से बना है, और जो दक्खिन तरफ आड़ावळा† और थर या ढाट‡ मरुभूमि के कारण चौड़ा होता गया है।

सिन्ध नदी ने जहाँ ऊपर अपनी पाँचों बाहें फैला रक्खी हैं वह पंजाब है। जहाँ उसका सारा पानी सिमट कर एक धारा में आ गया है

---

* निवेश अर्थात् अपने विशिष्ट रूप में पड़े होना, जैसे भवभूति के उत्तरराम-चरित २, २७ में निवेशः शैलानां···।

† आड़ा = तिरछा, दक्खिनपच्छिम से उत्तरपूरब; वळा = पहाड़। अंग्रेज़ी में उसे किसी ने 'आड़ावली' लिख दिया, जिसका अन्धानुसरण कर बहुत से हिन्दी वाले उसे 'अरवली' लिखने लगे।

‡ थर उसका सिन्धी नाम है, ढाट राजस्थानी। राजस्थान की मरुभूमि के पांच सौ मील पच्छिम ईरान की मरुभूमि है, जिसे दश्त कहते हैं। दश्त और ढाट एक ही शब्द के रूपान्तर हैं।

वह सिन्ध प्रान्त है।

गंगा-जमना का रुख जहाँ दक्खिनपूरब है, वह उपरला गंगा काँठा या ठेठ हिन्दुस्तान है। बीच में जहाँ गंगा प्रायः पूरब बहती है वह बिचला गंगा काँठा या बिहार है। उसका गंगा के उत्तर का अंश मिथिला या तिरहुत है; दक्खिन वाले अंश का पच्छिमी भाग मगध या मगह और पूर्वी भाग अंग। मिथिला और ठेठ हिन्दुस्तान के बीच, दोनों की बगल में, गोमती और घाघरा (सरयू) नदियों का काँठा अवध है। बिहार के आगे गंगा ने जहाँ समुद्र की ओर मुँह फेर कर अपनी बाँहें फैला दी हैं और ब्रह्मपुत्र भी उसमें आ मिला है, वह निचला गंगा काँठा या बंगाल है। ब्रह्मपुत्र का उपरला अकेला काँठा असम ('आसाम')* है।

ख. मध्यमेखला

आड़ावळा से जो पहाड़ों की परम्परा शुरू हुई है वह दक्खिन में कन्याकुमारी तक चली गई है, पर उसे दो भागों में कर के समझना सुगम है। उत्तरी भाग वह है जो कुरुक्षेत्र की सरस्वती और घग्घर नदियों के दक्खिन से ले कर तापी और महानदी के उत्तर तक फैला है। इसे हम भारत की मध्य-मेखला कहते हैं और इसमें तीन या चार लम्बे पर्वत हैं।

आड़ावळा के दक्खिनी भाग से उसकी कई बाँहियाँ पूरबदक्खिन बढ़ी हुई हैं। आड़ावळा और उन बाँहियों को मिला कर प्राचीन भारत के लोग एक पर्वत गिनते जिसे वे पारियात्र कहते थे। उसके पूरब जमना और गंगा काँठों के दक्खिन जो ज़मीन का उठाव लगातार चला गया है वह विन्ध्य पर्वत है। विन्ध्य के पूरबी छोर में नर्मदा के स्रोत हैं। उन स्रोतों के पास विन्ध्य एक और पर्वत के साथ अपना कन्धा लगाता है।

---

* वहाँ के लोग इसे असम लिखते, पर अहोम या अखोम बोलते हैं। अंग्रेज़ी में वही आसाम बन गया है।

इस पर्वत की धार मेकल पहाड़ से पूरब तरफ पारसनाथ पहाड़ तक गई है और इसकी एक बाँह पच्छिम तरफ बढ़ी हुई महादेव और सातपुड़ा पहाड़ों के रूप में नर्मदा के दाँयें बाँयें विन्ध्य के बराबर दक्खिन चली गई है। महादेव-सातपुड़ा शृंखला का पुराना नाम ऋक्ष पर्वत है। उसके पूरब मेकल से पारसनाथ तक के पर्वत को भी या तो ऋक्ष में ही गिना जाता या उसका दूसरा नाम था। इन पर्वतों से मध्यमेखला की रीढ़ बनी है।

इस मेखला के पच्छिमी छोर पर गुजरात काठियावाड़ का हरा भरा मैदान है। उस मैदान के उत्तरपूरब थर और पारियात्र का पूरा प्रदेश राजस्थान है, जिसका दक्खिनपूरवी अंश मालवे का पठार* है। आगे बेतवा और केन नदियों के काँठों तथा नर्मदा के उपरले काँठे वाला प्रदेश बुन्देलखण्ड है। 'बुन्देला' का अर्थ है विन्ध्य का रहने वाला, इसलिए बुन्देलखण्ड का अर्थ है विन्ध्य-भूमि। उसके पूरब सोन का उपरला काँठा अब बघेलखण्ड कहलाता है और उसके दक्खिन तरफ महानदी का उपरला काँठा छत्तीसगढ़। बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ के ठीक उत्तर अवध का मैदान है। अवध का पुराना नाम कोशल था और बघेलखण्ड-छत्तीसगढ़ का दक्षिण कोशल। उसके पूरब मध्यमेखला का बाकी पहाड़ी अंश झाड़खण्ड या छोटा नागपुर कहलाता है। उसके दक्खिन और छत्तीसगढ़ के पूरब समुद्रतट का प्रदेश उड़ीसा है।

ग. दक्खिन

तापी या ताप्ती और महानदी के दक्खिन तीन तरफ समुद्र से घिरा हुआ तिकोना पठार दक्खिन कहलाता है। इस तिकोने के पच्छिमी किनारे के साथ साथ सह्याद्रि अर्थात् सह्य पर्वत चला गया है। पूरबी किनारे पर उसी तरह उड़ीसा प्रदेश में महेन्द्र पर्वत और कृष्णा के दक्खिन मलय पर्वत है†।

---

* पठार मालवे का ही शब्द है, अर्थ ऊँचा पहाड़ी मैदान।

† समुद्रतट से भीतर जाने को इन पर्वतों के अनेक घाटों पर से रास्ते हैं। वह

सह्याद्रि और पच्छिमी समुद्र के बीच मैदान की हरी पट्टी है। उसी प्रकार महेन्द्र मलय पर्वतों और पूरबी समुद्र के बीच। पच्छिम की पट्टी बहुत सँकरी है, पूरब की अच्छी चौड़ी। पच्छिम वाली को उत्तरी भाग में कोंकण और दक्खिन में केरल या मलबार कहते हैं। पूरबी पट्टी का उत्तरी अंश कलिंग और दक्खिनी चोळमंडल* है।

कृष्णा नदी दक्खिन भारत को दो भागों में बाँट देती है। उसके उत्तरी भाग के फिर दो स्पष्ट विभाग हैं, एक पच्छिमी जो प्रायः समूचा पठार है और दूसरा पूरबी जो गोदावरी-कृष्णा मुहाने से बना है। पच्छिमी पठार मोटे तौर से महाराष्ट्र है और पूरबी मैदान आन्ध्र या तेलंगाना। कृष्णा के दक्खिन सह्याद्रि और मलय पर्वत एक दूसरे के निकट आते आते नीलगिरि पर मिल गये हैं। उनके मेल से जो ऊँचा अन्तःप्रवण पठार बनता है वह कर्णाटक† है। कर्णाटक के पूरब तट का मैदान चोळमंडल या तमिळ देश या तमिळनाड† है। नीलगिरि के दक्खिन मलयपर्वत फिर उठ कर भारत की दक्खिनी नोक तक चला गया है। वहाँ उसके पच्छिम केरल और पूरब चोळमंडल या तमिळनाड है।

प्राचीन भारत के लोग मध्यमेखला और दक्खिन में सात पर्वतों की गिनती करते जिन्हें वे भारत के सात कुलपर्वत कहते थे।

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

—वायुपुराण (श्रीवेंकटेश्वर संस्क०) १,४५,८८।

घाट शब्द अनेक स्थानों पर बार बार सुनाई देने से युरोपियों ने इन पर्वतों का नाम घाट मान लिया, और सह्याद्रि को 'पच्छिमी घाट' (बहुवचन) तथा महेन्द्र और मलय पर्वत को मिला कर 'पूर्वी घाट' (बहुव०) नाम दिया।

* अंग्रेज़ी बिगड़ा हुआ रूप 'कौरोमंडल'।

† अंग्रेज़ जब तमिळनाड में आये तब वहाँ विजयनगर के कर्णाटकी राजाओं का राज्य था, इससे वे उसे कर्णाटक कहने लगे। अंग्रेज़ी नक्शों में अब भी तमिळ-नाड या चोळमंडल का ही नाम 'कर्णाटिक' लिखा रहता है जो गलत है।

महेन्द्र, मलय, सह्य का परिचय ऊपर दिया गया है। मलै तमिळ शब्द है जिसका अर्थ है पर्वत, पर संस्कृत में वह कृष्णा नदी के दक्खिन वाले पूरबी पर्वत का नाम हो गया। सिंहल द्वीप का पर्वत भी मलय में सम्मिलित था। शुक्तिमान् या तो मूसी नदी और हैदराबाद का पठार है अथवा मेकल से पारसनाथ तक फैला पर्वत। ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र की भी व्याख्या हो चुकी है।

घ. भारत के प्राकृतिक राजपथ

उत्तर भारत के दो बड़े भागों में से यदि एक से दूसरे में जाना हो तो कुरुक्षेत्र के तंग बांगर को लाँघना आवश्यक होता है। उस बांगर के उत्तर हिमालय है, दक्खिन राजस्थान के पहाड़ और मरुभूमि, इस कारण और कोई सुगम रास्ता नहीं है।

उत्तर और दक्खिन भारत के बीच के रास्ते मध्यमेखला में से हैं। सिन्ध से कच्छ हो कर गुजरात जाने का रास्ता मरुभूमि के कारण काफी विकट है। इसलिए पंजाब और उपरले गंगा काँठे से दक्खिन का रास्ता दिल्ली और मालवा हो कर है। कुरुक्षेत्र का नाका इस रास्ते को भी काबू करता है। इसी से उसमें भारतीय इतिहास के अनेक भाग्यनिर्णायक संघर्ष हुए हैं।

ठेठ हिन्दुस्तान के पूर्वी अंश और अवध से दक्खिन जाने के रास्ते बुन्देलखंड में से है। पर यदि बिहार से दक्खिन जाना हो तो सीधे दक्खिन जाने के बजाय बंगाल उड़ीसा घूम कर तट के साथ साथ जाना सुगम है। इसी से झाड़खंड या छोटा नागपुर उत्तर और दक्खिन भारत के बीच के यातायात के प्रवाहों से प्रायः अछूता बचता रहा है, और इसी कारण अनेक आदिम जातियाँ वहाँ हाल तक अपना आरंभिक जीवन स्वच्छन्दता से बिताती रही हैं।

दक्खिन भारत में महाराष्ट्र और चोळमण्डल की आपेक्षिक स्थिति वैसी ही है जैसी उत्तर भारत में अफगानिस्तान और गंगा-काँठे की। कृष्णा-तुंगभद्रा का दोआब उस हिसाब से दक्खिन का कुरुक्षेत्र है।

ङ. हिमालय

कुलपर्वत भारत के भीतर के पर्वत* थे। उनके मुकाबले में हिमालय और उसके साथ के पर्वतों को **मर्यादापर्वत** अर्थात् सीमा के पर्वत कहा जाता था।

प्राचीन भारत के लोग हिमालय के साथ लगे हुए कराकोरम आदि पर्वतों को शायद हिमालय से अलग नहीं गिनते थे। कराकोरम का दूसरा नाम मुज़्-ताग़ है, जो 'हिम-गिरि' का तुर्की शब्दानुवाद है। आधुनिक भू-शास्त्री हिमालय नाम संसार की उस सब से ऊँची गिरि-शृङ्खला के लिए सीमित रखते हैं जिसका पच्छिमी किनारा सिन्ध नदी के और पूरबी ब्रह्मपुत्र के मोड़ के भीतर है। उत्तर भारत के मैदान से इन सनातन हिम से ढकी ऊँची चोटियों तक हिमालय तीन सीढ़ियों में उठा है। प्राचीन भारतीय उन्हें उपगिरि, बहिर्गिरि और अन्तर्गिरि कहते थे†; आधुनिक भूशास्त्री उप-हिमालय, लघु-हिमालय और महा-हिमालय कहते हैं। ये तीन शृंखलाएँ तीन सीढ़ियों की तरह पच्छिम से पूरब लगातार चली गई हैं। उप-हिमालय का नमूना जम्मू से गढ़वाल तक के शिवालक, अवध के उत्तर का डुँडवा पर्वत या नेपाल तराई की चूड़ियाचौकी है। लघुहिमालय में उरशा (हज़ारा) से भूटान तक के हिमालय के सब प्रसिद्ध प्रदेश हैं। इनमें से कश्मीर और नेपाल ये दो ऐसे हैं जो लघु-हिमालय के पर्वतों के बीच घिरे हुए मैदान हैं। बाकी प्रदेशों की बस्तियाँ उन पर्वतों की कमर पर बसी हैं। उन बस्तियों के ऊपर महाहिमालय की चोटियाँ एकाएक उठती हैं। उनकी परम्परा बीच-बीच में जहाँ टूटती है वहीं हिमालय को पार करने के घाटे या जोत हैं।

---

* 'पर्वत' का अर्थ है जिसमें पर्व अर्थात् पोर हों, यानी पहाड़ की धार या शृंखला। यों शृंखला का अर्थ पर्वत शब्द में विद्यमान है।

† महाभारत (कुम्भघोणम् संस्क॰), २, २८, ३। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३१)—'भारतभूमि और उसके निवासी' में विवेचना।

च. उत्तरपच्छिमी सीमा के देश—पच्छिमी अंश

सिन्ध नदी के उत्तर हिमालय के प्रायः समान्तर कराकोरम या मुज़ताग तिब्बत के पच्छिमी छोर तक चला गया है। कराकोरम का पच्छिमी कन्धा हिन्दकोह* के पूर्वी कन्धे के साथ लगा है, और उस जोड़ के उत्तर पामीर का पठार है। हिन्दकोह वहाँ से पच्छिमदक्खिन दिशा में बढ़ता गया है। उसके पच्छिमी छोर से कोहे-बाबा और आगे बन्दे-बाबा पर्वत पच्छिम तरफ चला गया है। ये तीनों मिल कर अफगान पठार की रीढ़ बनाते हैं। उस पठार का दूसरा किनारा सफ़ेद कोह और सुलेमान पर्वतों से बना है जो सिन्ध नदी के दाहिने फैले हैं।

अफगान पठार के दक्खिन दर्रा बोलान के व्यवधान के बाद कलात पठार है, जिसका दक्खिनपूरबी किनारा खीरथर पर्वत से बना है। सिन्ध प्रान्त के मैदान से समुद्रतट के साथ-साथ सिन्धी भाषा का क्षेत्र खीरथर के पच्छिम तरफ हिंगोल नदी तक चला गया है।

खीरथर और कलात अधित्यका सदा भारत में रहे हैं। पंजाब के सिक्ख राज्य की पच्छिमी सीमा खैबर दर्रे तक रही, और वही सीमा सिक्ख राज से अंग्रेज़ी राज को मिली। यों अंग्रेज़ी गुलामी की शताब्दी में भारत के अंग्रेज़ी-पढ़े लोगों के दिमागों में खैबर को भारत का उत्तरपच्छिमी द्वार मानने की बात धँस गई। पर वैदिक काल से दसवीं शताब्दी तक और फिर मुगल युग में भी अफगानिस्तान भारत का अंग रहा। भारतीय कृष्टि का इतिहास इस बात को भूल कर नहीं समझा जा सकता।

हिंगोल के पच्छिम मक लोगों का मकरान प्रदेश और उसके उत्तर तथा अफगान पठार के दक्खिनपच्छिम शकों का शकस्थान (सीस्तान) प्रदेश भारत और ईरान के बीच साझे माने जाते रहे। वे कभी भारत

---

* इस पर्वत का नाम मध्य काल से अब तक हिन्दूकश या हिन्दूकुश प्रसिद्ध रहा है। हाल में अफगान सरकार ने आदेश निकाला है कि अब से इसे हिन्दकोह कहा जायगा।

के कभी ईरान के साथ रहते। अफगान पठार के पच्छिम से उत्तर घूम जायँ तो उसके उत्तर तरफ बलख प्रदेश है। बलख अब अफ़गान-तुर्किस्तान कहलाता है, पर तुर्क लोग चौथी शताब्दी ई० तक मध्य एशिया में नहीं आये थे, वहाँ तब ईरानी भारतीय या अन्य आर्य वंश के लोग ही थे। बलख भी भारत और ईरान के बीच साझा प्रदेश था। ईरानी उसे बख्त्र कहते, पर बलख नाम हमारे वाह्लीक का रूपान्तर है।

छ. मध्य एशिया

बलख के उत्तर वंक्षु नदी (आमू दरिया) है। वंक्षु और रसा (सीर दरिया) के बीच का दोआब प्राचीन काल में सुग्ध कहलाता और उसमें आर्य वंश के लोग रहते थे। छठी शताब्दी ई० पू० के पारसी साम्राज्य में सुग्ध सम्मिलित था। सीर दरिया के किनारे तब शकों की एक दूसरी शाखा रहती थी जिसे ईरानी **सका तिग्रखौदा** (नुकीली टोपी वाले शक) कहते थे। सीर दरिया के पूरब तरफ ईसिक-कुल झील के उत्तरपच्छिम सुपमाइर और कुरुगति नाम की छोटी नदियों के स्रोत हैं, जिनके बीच पिष्पक बस्ती है। इस पिष्पक तक आर्यों के अवशेष पाये गये हैं। सुपमाइर को अब चू कहते हैं।

वंक्षु नदी पामीर के दक्खिनी छोर से निकल कर उसकी दक्खिनी सीमा के साथ साथ पौने दो सौ मील पच्छिम बहने के बाद एकाएक उत्तर घूम जाती है। आगे सौ मील उत्तर बहती हुई वह पामीर की पच्छिमी सीमा बनाती, और फिर घूम कर साढ़े तीन सौ मील पच्छिम बहने के बाद उत्तरपच्छिम मुड़ अराल सागर से मिलने जाती है। अराल और कास्पी सागर के बीच अब जो मरुभूमि है, प्राचीन काल में वह उथला पानी और दलदल थी। वंक्षु तब अपने अन्तिम उत्तर-पच्छिमी मार्ग की अपेक्षा बायें झुकती हुई उसी उथले सागर में गिरती थी। अराल-कास्पी सम्मिलित समुद्र प्राचीन भारतीयों के सुपरिचित जगत् के उत्तरपच्छिमी छोर पर था। उसके किनारे शकों की तीसरी बस्ती थी। ईरानी उन्हें **सका तरदरया** (समुद्रतट के शक) और भारतीय **शकाः**

सागरकुक्षिस्थाः (समुद्र की कोख में रहने वाले शक) कहते थे ।*

बलख के पूरब लगे हुए, हिन्दकोह के उत्तरी ढालों के, वंक्षु की उत्तरवाहिनी धारा तक के प्रदेश का प्राचीन नाम द्वयक्ष था, जिसका रूपान्तर बदख्शाँ अब भी उसका नाम है। द्वयक्ष को सुग्ध से वंक्षु की निचली पश्चिमवाहिनी धारा अलग करती है। पर सुग्ध के उपरले पहाड़ी भाग का दक्खिनी अंश—लोहघाट तक—द्वयक्ष जैसा है और प्रायः उसके साथ रहा है। उस अंश सहित द्वयक्ष और पामीर मिला कर प्राचीन भारत का कम्बोज महाजनपद था जिसकी मुख्य नगरी द्वारका का नाम पामीर की दरवाज़ बस्ती में अब भी विद्यमान है।

पामीर के पूरब तथा मुज़्ताग और तिब्बत के उत्तर ठेठ चीन की पच्छिमी सीमा तक फैला लम्बा पठार है, जिसकी उत्तरी सीमा थियान-शान† से बनी है। तारीम नदी इसमें पच्छिम से पूरब बहती हुई लोप-नोर झील में अपना पानी मिलाती है। यारकन्द और खोतन नदियाँ तारीम में दक्खिन से मिलती हैं। उनके पूरब और कई छोटी नदियाँ भी उत्तर को बढ़तीं, पर तकलामकान मरुभूमि में लुप्त हो जाती हैं। उस मरुभूमि के कारण इस देश की बस्तियाँ दो विभागों में बँट जाती हैं, एक तारीम के उत्तर वाली काशगर, अक्सू, कूचा, तुरफ़ान आदि, दूसरी उसके दक्खिन वाली यारकन्द, खोतन, नीया, चर्चन आदि। यह देश अब चीनी तुर्किस्तान या शिङ्कियाङ कहलाता है, पर तुर्क इसमें भी बहुत पीछे आये, और चीनी भी भारतीयों के पीछे पहुँचे। यारकन्द तुर्की नाम है, भारतीय उस नदी को सीता कहते थे। चीनियों ने वही नाम अपनाया और अब तक उसे सी-तो कहते हैं। मध्य एशिया के इन देशों का भारत से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

---

* महाभारत २, ३५, १६-१७। ज० च० विद्यालंकार (१९३४)—भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ ८, पृ० ९।

† थियान-शान चीनी नाम है जिसका शब्दार्थ है देव-पर्वत।

ज. उत्तरपच्छिमी सीमा पूरबी अंश और उत्तरी सीमा

उस सम्बन्ध को स्पष्ट समझने के लिए हमें भारत के भीतर के उन सीमा-प्रदेशों के विषय में भी जानना चाहिए जिनमें से हो कर भारत से मध्य एशिया तक रास्ते थे।

हिन्दकोह और कोहेबाबा जहाँ कन्धे भिड़ाते हैं वहाँ अफगान पठार का केन्द्रीय पनढाल है जिससे बामियाँ प्रदेश बना है। काबुल नदी वहाँ से पूरब, हेलमन्द दक्खिनपच्छिम, हरीरूद पच्छिम और वंक्षु में मिलने वाली धाराएँ उत्तर जाती हैं। बामियाँ से विभिन्न घाटों द्वारा उन दूनों† तक रास्ते हैं।

काबुल नदी में उत्तर से कूनड़ और स्वात (सुवास्तु) नदियाँ सिन्ध के समानान्तर बह कर मिलती हैं। हिन्दकोह तथा काबुल और कूनड़ नदियों के बीच के सुन्दर प्रदेश का नाम कपिश था। उसकी राजधानी कापिशी थी। अरब भूवृत्तलेखकों ने उसे काफ़िसिस्तान कहा, जो पढ़ने की गलती से काफ़िरिस्तान बन गया! स्पष्ट है कि बदख्शाँ से कपिश तक

---

†दून = पहाड़ों से घिरा मैदान जो प्रायः किसी नदी का काँठा होता है, संस्कृत द्रोणी, जैसे एतेषां पर्वतानान्तु द्रोण्योऽतीव मनोहराः—मार्कण्डेय पु० (बिब्लीथिका इंडिका संस्करण) ५५. १४; वायु पु० (बि० इं०) १. ३६. ३३; १. ३७. १, ३। अंग्रेज़ी में इस अर्थ में तथा मैदान में नदी के काँठे के अर्थ में भी वैली शब्द है, जिसका अन्धानुवाद कुछ हिन्दी लेखक 'घाटी' करते हैं। वास्तव में घाटी छोटे घाट को कहते हैं, जैसे घाटा बड़े घाट को। उन तीनों शब्दों को हमारी जनता उन दर्रों के अर्थ में बर्त्तती है जिनसे पहाड़ की धार को लाँघा जाता है, जैसे सह्याद्रि के घाट, हिमालय के घाटे, अजमेर और पुष्कर के बीच नाग पहाड़ की घाटी, बोटा और बूँदी के बीच गणेश घाटी, मेवाड़ में हल्दी घाटी। संस्कृत में घाट का शब्दार्थ है गर्दन की पीठ। घाटी पहाड़ की धार को गर्दन सी लगती है। अन्य देशों में भी घाट के अर्थ में गर्दन-वाची शब्द चलते हैं, जैसे अरबी कोतल, फ्रांसीसी कोल (col), अफ़गान सीमा पर 'लंडीकोतल' और 'शुतुरगर्दन' घाट। काँगड़े में घाटे के अर्थ में जोत शब्द है; जोत भी बैलों की गर्दन पर रक्खी जाती है।

आने के रास्ते हिन्दकोह के घाटों पर से हैं।

कूनड़-काबुल-संगम के ठीक दक्खिन का जलालाबाद के चौगिर्द का ज़िला नगरहार था। उसका नाम अब भी निंग्रहार है। उसके उत्तरपच्छिम कपिश के दक्खिनपूरवी छोर का नाम लम्पाक भी लमग़ान रूप में अभी तक विद्यमान है। काबुल नदी के दक्खिन बाकी अफ़गान पठार पक्थों अर्थात् पठानों का देश था। कूनड़ से सिन्ध नदी तक का प्रदेश पच्छिमी गन्धार था। उसकी मुख्य नगरी पुष्करावती सुवास्तु और कुभा (काबुल नदी) के संगम पर थी। सुवास्तु की उपरली दून उड्डीयान कहलाती थी। प्रकट है कि कम्बोज से पच्छिमी गन्धार तक हिन्दकोह के पूर्वी घाटों से सीधा आया जा सकता था।

सिन्ध और जेहलम (वितस्ता) नदियों के बीच उत्तर-दक्खिन फैला पहाड़ी प्रदेश जो हिमालय का सब से पच्छिमी जिला है, उरशा कहलाता था। अब उसका नाम रश या हज़ारा है। उसके पूरब, लघु हिमालय के पहाड़ों के बीच घिरे वितस्ता के उत्तरपच्छिमी बहाव की भूमि कश्मीर है। कश्मीर के दक्खिन की तराई जिसमें पुंच (पर्णोत्सा) राजौरी (राजपुरी) आदि बस्तियाँ हैं अभिसार कहलाती थी। अभिसार के दक्खिन केकय का मैदान था (=गुजरात शाहपुर जेहलम ज़िले), और उसके पच्छिम सिन्ध नदी तक पूरवी गन्धार जिसकी मुख्य नगरी तक्षशिला थी, और जिसके उत्तर उरशा है।

वितस्ता कश्मीर से निकल कर जहाँ एकाएक दक्खिन मुड़ती है, वहीं उसमें कृष्णगंगा मिलती है। कृष्णगंगा की दून कश्मीर के उत्तर के लघु हिमालय और महाहिमालय के बीच है। उस दून में दरद लोग रहते हैं जो भाषा और रंग-रूप में कश्मीरियों जैसे हैं। दरद महा-हिमालय के उत्तर सिन्ध नदी की दून में और सिन्ध में उत्तरपच्छिम से मिलने वाली गिल्गित और हुंज़ा नदियों की दूनों में भी रहते हैं। यों दरदों का देश कश्मीर उरशा और पच्छिमी गन्धार के उत्तरी छोर से कम्बोज अर्थात् पामीर के दक्खिनी छोर तक फैला है। उसकी पूर्वी सीमा हिमालय के

पार तिब्बत से लगती है।

नंगा पर्वत हिमालय की सबसे पच्छिमी चोटी है। उसके आगे हिमालय की धार के साथ साथ दक्खिनपूरब चलते जायँ तो दूसरी बड़ी चोटी नुनकुन से ४० मील पहले वह धार नीचे उतरती है। वह उतार ज़ोजीला अर्थात् ज़ोजी घाटा‡ है, जो तिब्बत* की दक्खिनपच्छिमी, कश्मीर की उत्तरपूर्वी तथा दरद देश की दक्खिनपूरबी सीमा है। दरद की पूरबी सीमा प्राचीन काल में वहाँ से उत्तरपूरब जा कर कराकोरम पर्वत के मध्य में जा लगती थी। पर आठवीं शताब्दी में दरद के पूरबी अंचल बोलोर या बाल्ती प्रदेश में, जो सिन्ध और श्योक के संगम का स्कर्दू के चौगिर्द का प्रदेश है, तिब्बती घुस आये। बोलोर की भाषा तब से तिब्बती है, पर वहाँ के लोग रंग-रूप और सामाजिक संघटन में अब भी दरद ही हैं।

ज़ोजीला के पूरब भारत की उत्तरी सीमा के साथ बराबर तिब्बत चला गया है। तिब्बती अपने देश को पोद्-युल अर्थात् पोद देश कहते हैं, जिसका भारतीय रूप भोट या भोट्ट देश है। हिमालय के पच्छिमी भाग में भारतीय जनता हिमालय के भीतर तक बसी हुई है। ज्यों ज्यों हम पूरब चलते जाते हैं तिब्बती जनता अधिक नीचे तक आई मिलती है, यहाँ तक कि भूटान में वह हिमालय की सब से निचली सीढ़ी तक है।

§२. भारत का भूगर्भ-विकास

अजीव कल्प से नवजीव कल्प तक की परतें पृथ्वी के छिलके में एक के बाद दूसरी जिस क्रम से हैं, भारत के सात कुलपर्वतों और उनके साथ की भूमि में अर्थात् मध्यमेखला और दक्खिन में वे उसी क्रम से

‡ ला तिब्बती शब्द है घाटे के अर्थ में।

* तिब्बत का पच्छिमी प्रदेश लदाख या मरयुल सिक्ख राज के ज़माने में कश्मीर के साथ मिलाया गया। तब से वह कश्मीर राज्य के अधीन चला आता है। पर वह है तो तिब्बत का भाग ही।

पाई जाती हैं। पृथ्वी का आरम्भ हुए प्रायः दो अरब वर्ष बीते हैं, जिसमें से आधे के लगभग अजीव कल्प था। मध्यमेखला और दक्खिन के पर्वतों में कुछ ही नीचे उस अजीव कल्प की चट्टानें आ जाती हैं।

मध्य मेखला और दक्खिन के उस करोड़ों वर्ष के जीवन-काल में उसके उत्तरी किनारे पर गहरे समुद्र की लहरें टकराती थीं, और उत्तर भारत का मैदान, हिमालय, तिब्बत, पामीर और अफगान पठार सब उस समुद्र में थे। पच्छिम की तरफ़ भूमि की लम्बी रीढ़ द्वारा, जो समुद्र के भीतर अब भी टटोली जाती है, दक्खिन भारत अफरीका से जुड़ा हुआ था। नवजीव कल्प के तीसरे उपविभाग में आ कर अर्थात् आज से करोड़ दो करोड़ वर्ष पहले कई हज़ार वर्षों तक समुद्र के भीतर भूकम्प आते रहे, जिनसे हिमालय और उसके साथ के पर्वत और पठार ऊपर उठते गये। उन भूकम्पों की परम्परा, जिनसे हिमालय अपना माथा और और ऊँचा उठाने का यत्न कर रहा है, अभी तक समाप्त नहीं हुई, यद्यपि अब बहुत धीमी पड़ चुकी है। न केवल हिमालय और उसके साथ के वे पर्वत जिनसे एशिया की रीढ़ बनी है, प्रत्युत युरोप का आल्प और दक्खिनी अमरीका का आन्देस पर्वत भी उसी काल का है।

उत्तर भारत का मैदान उसके बाद भी समुद्र ही था। हिमालय, आड़ावळा, विन्ध्य और ऋक्ष पर्वतों की नदियाँ लाख शताब्दियों तक मिट्टी ला ला कर उस समुद्र को भरती रहीं जिससे वह अन्त में दलदल हो गया। आज से प्रायः १२ हज़ार वर्ष पहले वह ऐसा मैदान बना जिसपर मनुष्य रह सके।

ये तथ्य भूगर्भशास्त्रियों की विस्तृत खोज और बारीक छानबीन से निर्धारित हुए हैं। इनसे प्रकट है कि भारत में मानुष प्राणी के विकास के अथवा उसकी पुराणाश्मी कृष्टि के जो चिह्न पाये जा सकते हैं वे दक्खिन भारत, मध्यमेखला या हिमालय में ही। उत्तर भारत के मैदान में तो नवाश्मी कृष्टि के चिह्न भी कठिनाई से मिलते हैं।

§ ३. भारत की भाषाएँ और नृवंश

कुरुक्षेत्र से कानपुर तक और हिमालय तराई से सातपुड़ा तक जो भाषा बोली जाती है उसे पछाँही हिन्दी या हिन्दी कहा जाता है। उसके पूरब अवध बघेलखण्ड और छत्तीसगढ़ की भाषा पूरबी हिन्दी कहलाती है। वास्तव में 'पूरबी हिन्दी' के बजाय कोशली कहना चाहिए और पछाँही हिन्दी न कह कर केवल हिन्दी कहना चाहिए।

हिन्दी की पाँच बोलियाँ हैं—(१) खड़ी बोली जो गंगा-जमना दोआब के उत्तरी भाग में—देहरादून से दिल्ली तक—तथा उसके पूरब रुहेलखण्ड में बोली जाती है। दोआब का उत्तरी भाग प्राचीन कुरु जनपद है और रुहेलखण्ड उत्तर पंचाल। (२) ब्रजभाषा जो गुड़गाँवाँ अलीगढ़ एटा मैनपुरी आगरा मथुरा भरतपुर धोलपुर करौली प्रदेश की बोली है। यह प्राचीन ब्रज या शूरसेन जनपद है। (३) कनौजी, जिसे फर्रुखाबाद इटावा कानपुर प्रदेश के लोग बोलते हैं। यह प्रदेश प्राचीन दक्षिण पञ्चाल है और अब भी पचार कहलाता है। (४) बुन्देली जो जमना के दक्खिन से सातपुड़ा तक, राजस्थान-मालवे के पूरब तथा बघेलखंड के पच्छिम के प्रदेश में अर्थात् समूचे बुन्देलखंड में बोली जाती है। तथा (५) बाँगरू जो जमना के पच्छिम हरियाना या कुरुक्षेत्र प्रदेश की बोली है।

पारियात्र पर्वत के चौगिर्द के समूचे प्रदेश अर्थात् राजस्थान और मालवे की भाषा राजस्थानी है। उसकी भी कई बोलियाँ हैं। कोशली के पूरब तीन बोलियों के क्षेत्र हैं—भोजपुरी, मैथिली, मगही। इन तीनों को मिला कर बिहारी नाम दिया गया है और इनके क्षेत्रों में समूचा बिहार, झाड़खंड और बनारस गोरखपुर प्रदेश आ जाते हैं।

हिन्दी, राजस्थानी, कोशली और बिहारी चारों भाषाओं के क्षेत्र में पढ़ने-लिखने की भाषा आजकल हिन्दी है।

उसके पूरब के खण्ड में बंगाल की बँगला, असम की असमिया

तथा उड़ीसा की उड़िया ये तीन भाषाएँ हैं। असमिया वास्तव में बँगला की ही बोली है।

दक्खिन खण्ड में महाराष्ट्र की भाषा मराठी, आन्ध्र या तेलंगाना की तेलुगु, कर्णाटक की कन्नड, केरल की मलयाळम और सिंहल की सिंहली है। इनमें से मराठी और सिंहली आर्य भाषाएँ हैं, बाकी द्राविड।

पच्छिम खंड में गुजरात की भाषा गुजराती है जो व्रजभाषा और राजस्थानी के बहुत निकट है, तथा कच्छ और सिन्ध की सिन्धी।

प्राचीन भारत के लोग उत्तरपच्छिम और उत्तर के देशों को मिला कर उत्तरापथ कहते थे। सो आज उत्तरापथ की भाषाएँ —पंजाब की पंजाबी और हिन्दकी, काबुल नदी के दक्खिन अफगान ठार की पश्तो, कश्मीर की कश्मीरी और उसके पूरब के पहाड़ों की पहाड़ी। रवी और पच्छिमी पंजाब में आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने दो भाषाएँ पहचानी हैं, पर साथ ही उनका कहना है कि वे आपस में घुल मिल जाती हैं और व्यवहारतः एक हैं। पच्छिमी पंजाब की हिन्दकी* का सिन्धी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कपिश और दरद देश की भाषाएँ कश्मीरी के परिवार की हैं; बदख्शाँ और पामीर की गल्चा या ताजिक भाषा पश्तो के परिवार की।

चम्बे से नेपाल राज्य के पूरबी छोर तक पहाड़ी भाषा चलती है। इसकी तीन शाखाएँ हैं (१) चम्बे से जमना तक पच्छिमी पहाड़ी (२) जमना से काली नदी तक मध्य पहाड़ी और (३) नेपाल राज्य में पूरबी पहाड़ी जिसे पर्बतिया, गोरखाली या खसकुरा भी कहते हैं।

---

* पच्छिम पंजाब की भाषा को पंजाब के लोग 'लँहदे दी बोली' अर्थात् पच्छिम की बोली कहते हैं। अंग्रेज़ पादरी तिस्डाल ने अंग्रेज़ी में उसका सांकेतिक नाम 'लँहदा' रख दिया जिसका शब्दार्थ है पच्छिम। पर उस प्रदेश की विभिन्न बोलियाँ हिन्दकी या हिन्दको भी कहलाती हैं और सिन्धी लोग भी उसे हिन्दकी ही कहते हैं। हिन्दकी का अर्थ सिन्धु देश की। सिन्ध नदी का बिचला काँठा (अर्थात् सिन्धसागर दोआब और डेरा-इस्माइलखाँ डेरा-गाज़ीखाँ ज़िले) प्राचीन काल में सिन्धु जनपद कहलाता था।

उक्त भाषाओं में से चार द्राविड हैं, बाकी सब आर्य। भारत की आर्य भाषाओं को ईरान और युरोप की आर्य भाषाओं से अलग करने के लिए हम आर्यावर्त्ती ('इन्दो-आर्यन') कहते हैं।

उक्त सब भारत की मुख्य भाषाएँ हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना अविच्छिन्न क्षेत्र है। इनके अतिरिक्त कुछ गौण भाषाएँ या बोलियाँ उक्त भाषाओं के क्षेत्रों के बीच छोटे छोटे टापुओं के रूप में विद्यमान हैं। इनमें से कुछ तो द्राविड ही हैं।

छत्तीसगढ़, बुन्देलखंड और महाराष्ट्र में गोंड लोग लाखों की संख्या में रहते हैं। उनमें से अधिकांश की अपनी गोंडी बोली है। छोटा नागपुर में कई लाख ओराँव लोग हैं और उनकी अपनी ओराँव बोली है। उड़ीसा, बिहार और महाराष्ट्र में कुछ और ऐसी छोटी बोलियाँ भी हैं। इनके अतिरिक्त सिन्ध प्रान्त के पच्छिम कलात पठार में ब्राहुई लोगों की ब्राहुई बोली है। ये सभी द्राविड वंश की हैं, पर इनमें से कोई भी लिखी नहीं जाती। तो भी इनकी स्थिति इतिहास की दृष्टि से महत्त्व की है।

भारत* की जनता में से ७६·५ प्रतिशत आर्यभाषी और २०·५ प्रतिशत द्राविडभाषी हैं। बाकी ३ प्रतिशत में से आधे से कुछ अधिक किरातभाषी और कुछ कम आग्नेय-भाषी हैं।

हिमालय के साथ साथ भारत की सीमा के भीतर अनेक छोटी छोटी किरात बोलियाँ हैं। ज्यों ज्यों पूरब चलते जायँ इनके बोलने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। नेपाल राज्य की जनता में आधे लोग किरात-भाषी हैं। कोचबिहार का नाम जिन कोच लोगों के कारण पड़ा वे भी किरात थे। सच कहें तो ब्रह्मपुत्र और सुरमा के मैदानों में बँगला और असमिया आर्य भाषाएँ किरात क्षेत्र के बीच में पच्चर की तरह घुस गई हैं, अन्यथा भारत का उत्तरपूर्वी सीमान्त पूरी तरह किरात है। पर

* भारत से इस ग्रन्थ में सदा अखण्ड भारत समझना चाहिए। 'भारत' और पाकिस्तान रूप में उसके बँटवारे का पुराने इतिहास में कोई अर्थ नहीं है।

भारत के भीतर की इन किरात बोलियों में केवल नेवारी ही लिखी-पढ़ी जाती है।

आग्नेय वंश की मुंडारी, संथाली, खासी, नक्कवारी बोलियों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। उड़ीसा और आन्ध्र की सीमा पर शबर लोग रहते हैं, जिनके कारण बस्तर पठार के दक्खिन के पानी को गोदावरी में ले जाने वाली नदी शबरी कहलाती है। शबरों की बोली भी आग्नेय है। शबरों के साथ भिल्ल और निषाद नाम भी हमारे वाङ्मय में बहुत आते हैं और उनका उल्लेख भारत की मध्य-मेखला में आता है। उनके वर्णन में उन्हें **खर्वटास्य** अर्थात् छोटे चेहरे वाला कहा है और वह बात उनपर ठीक घटती है। आग्नेयभाषी लोग आज भारत में बहुत थोड़े हैं, पर वे आर्य और द्राविडभाषियों में घुल मिल कर उनपर अपना प्रभाव छोड़ गये हैं। आन्ध्र और बिहार की भाषाओं पर उनकी भाषा का प्रभाव विद्वानों ने टटोला है। बिहार में बहुत लोग न दीर्घ-कपाल और न वृत्तकपाल प्रत्युत मध्यकपाल हैं, और वह भी खर्वटास्य निषादों का खून मिलने का लक्षण है।

बरमा स्याम कम्बुज वाला जो विशाल प्रायद्वीप भारत के पूरब लगा है, उसमें व्येतनमी लोग दसवीं और स्यामी बारहवीं शताब्दी के बाद चीन से आये हैं। बरमी भी पहले बरमा के उत्तरी भाग में ही रहते थे। उस विशाल प्रायद्वीप के मुख्य निवासी प्राचीन काल में आग्नेय वंश के लोग ही थे, जिनमें से अब बरमा तट के मोन या तलाँई लोग तथा कम्बुज के ख्मेर लोग हैं। मर्त्तबान की खाड़ी से सिंगापुर तक के समुद्र को प्राचीन भारत के लोग शबर खाड़ी कहते थे,* जिसका यह अर्थ है कि वे शबर नाम को व्यापक जातिवाचक अर्थ में बर्त्तते तथा भारत के

---

* अलक्सान्द्रिया के यूनानी भूवृत्तलेखक प्तोलेमाइओस ने उसे सीनुस् सबारिकुस् कहा है जो कि प्रकटतः संस्कृत नाम का अनुवाद है, जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३१)—भारतभूमि···पृ० ३०७।

शबरों के साथ बरमा तट और मलाया के लोगों की सगोत्रता पहचानते थे।

मलाया प्रायद्वीप के दक्खिन सुमात्रा से इरियान (न्यू गिनी) तक के द्वीपों के लोग प्राचीन काल से इसी वंश के चले आते हैं। उसके आगे प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक यही वंश फैला हुआ है।

पच्छिम तरफ मदगस्कर द्वीप के निवासी भी आग्नेय वंश के हैं और सिंहल के प्राचीन वेद्दा लोग भी। सिंहल और पूर्वी द्वीपों के निवासियों को पालि वाङ्मय में यक्ख कहा है। पुराणों के अनुसार यक्ष पूर्वी द्वीपों के अतिरिक्त हिमालय के निवासी भी थे, और उनके नाम के साथ प्रायः किन्नरों का नाम जुड़ा रहता है। अन्यत्र मैंने सिद्ध किया है कि संस्कृत और पालि वाङ्मय के निर्देशों के अनुसार शिमले के ऊपर का कनोर (रामपुर-बुशहर) प्रदेश ही किन्नर देश है।‡ नेपाल में याखा नामक बोली है जिसका नाम हिमालय के यक्षों की याद दिलाता है। कनोरी और याखा अब किरात परिवार की हैं, पर विद्वानों का कहना है कि उनमें आग्नेय तलछट है। इससे प्रकट है कि यक्ष किन्नर आदि भी आग्नेय जातियाँ थीं और प्राचीन भारत के लोग हिमालय और सिंहल आदि द्वीपों में दूर दूर तक बिखरी उन जातियों की सगोत्रता पहचानते थे।

भारत और उसके पड़ोस के देशों में आग्नेय जातियों की यह स्थिति इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की है। पौराणिक और पालि वाङ्मय से इन जातियों का जैसा महत्त्व प्रतीत होता है, आधुनिक खोज से, जिसका हमने यहाँ संकेत मात्र किया है, उसका पूरा समर्थन हुआ है।

§४. भारत की लिपियाँ और वर्णमाला

हिन्दी, मराठी और पर्बतिया तीनों की लिपि नागरी है। नेवारी ने भी अब नागरी अपना ली है। बँगला, उड़िया, गुजराती आदि लिपियाँ

---

‡ वहीं, पृ० २०५–२०८।

देखने में कुछ भिन्न हैं, पर उन सबकी भी वर्णमाला वही है, [अर्थात् स्वरों और व्यञ्जनों की ध्वनियाँ, उनका क्रम, उन्हें मिलाने की शैली सब वही। और उस वर्णमाला में न केवल सिंहली सहित सब आर्यावर्त्ती भाषाएँ लिखी जाती हैं, प्रत्युत चारों द्राविड भाषाएँ, तथा भारत के

नागरी	अ	इ	उ	ए	क	का	कि	कु	के
गुजराती	અ	ઇ	ઉ	એ	ક	કા	કિ	કુ	કે
गुरमुखी	ਅ	ਇ	ਉ	ਏ	ਕ	ਕਾ	ਕਿ	ਕੁ	ਕੇ
बँगला	অ	ই	উ	এ	ক	কা	কি	কু	কে
उड़िया	ଅ	ଇ	ଉ	ଏ	କ	କା	କି	କୁ	କେ
तेलुगु	అ	ఇ	ఉ	ఎ	క	కా	కి	కు	కె
कन्नड	ಅ	ಇ	ಉ	ಎ	ಕ	ಕಾ	ಕಿ	ಕು	ಕೆ
तमिळ	அ	இ	உ	எ	க	கா	கி	கு	கெ
मलयाळम	അ	ഇ	ഉ	എ	ക	കാ	കി	കു	കെ
सिंहली	අ	ඉ	උ	එ	ක	කා	කි	කු	කෙ
तिब्बती	ཨ	ཨི	ཨུ	ཨེ	ག		གི	གུ	གེ
म्यन (बरमी)	အ	ဣ	ဥ	ဧ	က	ကာ	ကိ	ကု	ကေ
स्यामी	อ	อิ	อุ	เอ	ก	กา	กิ	กุ	เก

ब्राह्मी वर्णमाला के विद्यमान विभिन्न रूप

बाहर चीनकिरात वंश की तिब्बती, बरमी और स्यामी, एवं आग्नेय वंश की कम्बुजी तथा हिन्द-द्वीपों ('इन्दोनीसिया') की कई भाषाएँ भी। इस वर्णमाला का नाम ब्राह्मी है। इसका प्रयोग करने वाली सभी भाषाएँ

संस्कृत से शब्द उधार लेती हैं।

ब्राह्मी वर्णमाला में ध्वनियों का विश्लेषण तथा उनका 'स्थान' और 'प्रयत्न' के अनुसार वर्गीकरण अत्यन्त पूर्ण है, जिससे देखते के साथ ही प्रत्येक शब्द का ठीक उच्चारण विदित हो जाता है। संसार की वर्णमालाओं का विवेचन करते हुए आइज़क टेलर ने उसके बारे में लिखा था "वह अपनी वैज्ञानिक उत्कृष्टता के लिए विश्व की वर्णमालाओं में बेजोड़ है।''' संस्कृत वैयाकरणों ने अपनी अद्भुत भाषा का ध्वनि-विश्लेषण कर जो ध्वनि-परम्परा बारीकी से खोज निकाली थी, उसे वह पूरी शुद्धता से प्रकट करती है। आधुनिक ध्वनि-शास्त्रियों ने जो कृत्रिम वर्णमालाएँ प्रस्तावित की हैं, उनमें से कोई भी विश्लेषण की बारीकी में, मौलिकता में, ठिकाई में और संग्राहकता में इससे आगे नहीं जा सकी।"† १८ सौ चालीसों में बम्बई सुप्रीम कोर्ट के जज सर अर्स्किन पेरी ने उसकी चर्चा करते हुए कहा था "इसका मूल्य इस बात से जाना जाता है कि हिन्दू बच्चे ज्योंही प्रत्येक अक्षर का मूल्य जान चुकते हैं त्योंही वे सीधे पढ़ने में समर्थ हो जाते हैं, फलतः युरोप में जिस बात को सीखने में प्रायः बरसों लग जाते हैं वह भारत में तीन महीने में ही आ जाती है।"

विश्व-इतिहास की इस उत्कृष्ट वैज्ञानिक ईजाद का भारत और उसके पड़ोसी देशों में उपस्थित होना भारतीय कृष्टि का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण तथ्य है। वह ईजाद कैसे हुई और कैसे इन सब देशों में फैल गई इसका पता इतिहास से मिलना चाहिए।

———

† आइजक टेलर (१८८३)—दि आल्फाबेट २ पृ० २८९।

अध्याय ३

वैदिक और पौराणिक वाङ्मय

§ १. वेद-संहिताएँ

मनुष्य की प्रतिभा पहलेपहल विश्व के जिन वाङ्मयों के रूप में पुष्पित हुई उनमें प्रमुख हमारा वेद है। वेद हमें **संहिताओं** अर्थात् संकलनों के रूप में मिलता है। आज वेद की चार संहिताएँ गिनने की चाल है। प्राचीन परिपाटी दूसरी थी।

छान्दोग्य उपनिषद् ७. १. २ में नारद सनत्कुमार को यह बताते हुए कि मैंने सब विद्याएँ पढ़ीं, गिनाता है—**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं**···—भगवन्, मैं ऋग्वेद को पढ़ता हूँ, यजुर्वेद को, सामवेद को, चौथे आथर्वण को पाँचवें इतिहासपुराण को जो कि वेदों का वेद है···। आचार्य कौटल्य ने लिखा है (अर्थशास्त्र १. ३)—**सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ चेति वेदाः।** —साम ऋक् और यजुर् वेद ये त्रयी हैं; ये तथा अथर्ववेद और इतिहासवेद ये वेद हैं।

यों चाहे ऋक् को पहले गिनें चाहे साम को, प्राचीन काल में पाँच वेद गिने जाते थे, जिनमें से ऋक् यजुः और साम की त्रयी का पहला स्थान था, और फिर अथर्व और इतिहास-पुराण का। इतिहास-पुराण वेदों का वेद अर्थात् ज्ञान का ज्ञान था—वेदों का ठीक ज्ञान भी उसी के द्वारा होता था, क्योंकि वेद की ऐतिहासिक परिस्थिति उसी से जानी जाती थी।

ऋच् या ऋचा का अर्थ है पद्य, साम का अर्थ गीत। गीत का भी पद्य होना आवश्यक है। यजुष् का अर्थ है पूजा-वाक्य। वे वाक्य गद्य में हैं, उन्हें गद्यकाव्य के सन्दर्भ कहा जा सकता है। कुछ ऋचाएँ मिल कर एक सूक्त बनता है। सूक्त का अर्थ अच्छी उक्ति, सुभाषित, कविता। ऋग्वेद में हजार से कुछ अधिक सूक्त हैं जिन्हें दस मण्डलों में बाँटा गया है। सब मिला कर उनमें साढ़े दस हज़ार ऋचाएँ हैं। सामसंहिता ऋक्संहिता की लगभग तिहाई है, और उसमें बहुत से साम ऐसे हैं जो ऋक्संहिता में आ चुके हैं। यजुःसंहिता और भी छोटी है। वह ४० अध्यायों में बँटी है, जिनमें सब मिला कर लगभग दो हज़ार यजुष् हैं। ऋचाओं सामों और यजुषों के लिए साधारण शब्द मन्त्र है।

प्रत्येक सूक्त या अध्याय के आरम्भ में यह दर्ज रहता है कि उसकी अमुक ऋचा या यजुष् का अमुक ऋषि और अमुक देवता है। प्रत्येक ऋचा का छन्दस् अर्थात् वृत्त भी लिखा रहता है। देवता का अर्थ है विषय—जिसके विषय में या जिसे सम्बोधित कर ऋचा कही गई हो। अनेक ऋषियों के नाम उनकी ऋचाओं के भीतर भी रहते हैं, जैसे हिन्दी कवि अपना नाम कविता में डाल देते हैं। ऋक्संहिता के पहले मंडल के पहले पचास सूक्त तथा समूचा आठवाँ मंडल काण्व वंश के ऋषियों का है। दूसरा गृत्समद, तीसरा विश्वामित्र, चौथा वामदेव, पाँचवाँ आत्रेय, छठा बार्हस्पत्य और सातवाँ वसिष्ठ वंश का। नौवें मण्डल में एक ही देवता—सोम पवमान—के विषय में विविध ऋषियों के सूक्त हैं, और दसवाँ तथा पहले का शेषांश (५१–१९१ सूक्त) विविध ऋषियों के और विविध-विषयक हैं।

प्रकट है कि ऋचाओं यजुषों और सामों का यह बँटवारा विचार-पूर्वक किया गया है। इस प्रकार के बँटवारे से ही उनकी संहिताएँ बनीं। **सं-हिता** का शब्दार्थ है इकट्ठी रक्खी हुई। महाभारत युद्ध के सम-कालिक कृष्ण द्वैपायन मुनि ने वेदों की संहिताएँ बनाईं। इसी से कृष्ण द्वैपायन का नाम वेदव्यास अर्थात् वेद का वर्गीकरण करने वाला पड़ा।

वेदव्यास के कुछ अरसा पहले से वेद की संहिताएँ बनाने के प्रयत्न कई लोगों द्वारा किये गये थे। वेदव्यास का कार्य सर्व-संग्राहक और अन्तिम था।

संहिताओं में एकत्रित की जाने से पहले अवर्गीकृत रूप में ऋचाएँ साम और यजुप् परम्परा से चली आती थीं। एक एक ऋषि के वंश या शिष्य-सन्तान में उस उस वंश की ऋचाओं आदि का संचय होता आता था। वेद का नाम श्रुति भी है—अर्थात् जो वस्तु सुनी जाय। वे ऋचाएँ परम्परा से सुनी जातीं और मौखिक याद रक्खी जाती थीं।

अथर्व वेद में विविध मन्त्र हैं—देवताओं विषयक ऊँची कविताओं के अतिरिक्त जन-साधारण के विश्वास की अनेक बातें, जादू टोना आदि भी। इन चार वेदों की संहिताएँ बनाने के बाद

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पजोक्तिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

—विष्णु पु० (आनन्दाश्रम संस्क०) ३. ६. १६।

—आख्यानों उपाख्यानों गाथाओं (गीतमय कथाओं) और कल्पों विषयक उक्तियों से पुराने विषयों में विशारद (कृष्ण द्वैपायन) ने पुराण-संहिता बनाई। सो इस पुराण-संहिता में पुराने राजवंशों की ख्यातें आदि थीं—देवताओं विषयक नहीं प्रत्युत अपने पूर्वजों के चरित विषयक परम्परा से चली आती पुरानी बातें जिनकी रक्षा सूत लोग करते आते थे। पुराण का शब्दार्थ ही है पुरानी बात। वह पुराण **पंचलक्षण** अर्थात् पाँच प्रकार का था।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

—वायु पु० १. ४. १०।

—सृष्टि (कैसे हुई), प्रति-सृष्टि (प्रलय के बाद फिर से सृष्टि कैसे हुई इसका तथा) वंशों और मन्वन्तरों (मनु-युगों का वृत्तान्त) तथा वंशों के भीतर व्यक्तियों के चरित, पुराण के ये पाँच प्रकार हैं।

अपने से पहले चले आते समूचे वेद अर्थात् ज्ञान की यों पाँच संहिताएँ बनाने के बाद वेदव्यास ने एक एक वेद के अध्ययन को आगे जारी रखने के लिए उसे अपने विभिन्न शिष्यों को सौंप दिया। अध्ययन और शिक्षण के वैसे अनेक सम्प्रदाय उसके पहले से भी चले आते थे। वे सम्प्रदाय **शाखा** या **चरण** कहलाये, क्योंकि वेद-संहिताओं का विभिन्न सम्प्रदायों में जो थोड़ा-बहुत भेद हुआ उससे वेदों की अनेक शाखाएँ सी होती दिखाई दीं।

महाभारत युद्ध के बाद अर्जुन पाण्डव के पोते जनमेजय ने तक्षशिला पर चढ़ाई कर उसे जीता और वहाँ नाग-यज्ञ किया। वहाँ वैशम्पायन सूत ने व्यास का अनुसरण करते हुए कौरव-पाण्डव-युद्ध का पूरा वृत्तान्त जनमेजय को गा कर सुनाया। जनमेजय के पड़पोते अधिसीमकृष्ण के राज्यकाल में नैमिषारण्य में मुनियों ने यज्ञ किया। वहाँ व्यास का तैयार किया हुआ **पुराण** अर्थात् प्राचीन अनुश्रुति* का संग्रह सूतों ने पहलेपहल गा कर सुनाया। उसके बाद अगले इतिहास की नई अनुश्रुति भी बनती गई, और गुप्त राजाओं के युग अर्थात् चौथी शताब्दी ई० तक वैसा होता रहा। किन्तु उस नई अनुश्रुति के लेखकों ने उसे विचित्र शैली में लिखा। उन्होंने उसे अपने मुँह से न कह कर सदा नैमिषारण्य के सूतों के मुँह से ही कहलवाया—इस प्रकार कि मानो वही प्राचीन सूत भविष्य की बातें कह रहे हों।

वह "भविष्यत्" वृत्तान्त बढ़ता बढ़ता "भविष्यत् पुराण" बन गया। **भविष्यत् और पुराण** परस्पर विरोधी शब्द हैं। पुराण शब्द जब अनुश्रुति-विषयक ग्रन्थ के अर्थ में तथा भविष्यत् शब्द भी अपने इस विशिष्ट अर्थ में योगरूढ़ि हो गया, तभी 'पुराण' का विशेषण 'भविष्यत्' हो सका। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पुराण और भविष्यत्पुराण से उद्धरण

---

* पुराने वृत्तान्त सुनाने वाले प्रायः कहते थे—"इत्येवमनुशुश्रुम:"—ऐसा हमने परम्परा से सुना है। इसलिए परम्परा से सुनने में आती बात = अनुश्रुति।

दिये गये हैं (१.६.१६.१३ । १.१०.२६.७ । २.६.२३.३–५ । २.६.२४. ३–६) । ये उद्धृत सन्दर्भ विद्यमान भविष्य पुराण में नहीं हैं, पर मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, पद्म और हरिवंश पुराणों में हैं । इसका यह अर्थ हुआ कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के काफी पहले पुराण और भविष्यत् शब्द इन अर्थों में योगरूढि हो चुके थे । धर्मसूत्रों का उदय वेदांग रूप में हुआ था, जो कि वेद-संहिताओं के बाद बने । जब कि पहली पुराण-संहिता वेदों की अन्य संहिताओं के साथ ही बनी, तब उसके बाद के भविष्यत् पुराण का किसी धर्मसूत्र में उल्लेख होना संगत ही है ।

पुराण-संहिता की भी कई शाखाएँ हो गईं । आज जो १८ पुराण हैं वे इस रूप में बहुत पीछे की रचनाएँ हैं । उनमें से वायु और ब्रह्माण्ड का अनुश्रुति अंश श्रेष्ठ है, फिर मत्स्य, ब्रह्म, विष्णु और हरिवंश का । जर्मन विद्वान् किर्फ़ेल ने सब पुराणों के पंच-लक्षण अंश को ले कर उनके मिलान से मूल पाठ का पुनरुद्धार करने का जतन किया है ।

पुराण-संहिता में संकलित वृत्तान्त हमारे समूचे प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालता है । वैदिक वाङ्मय के उदय और विकास की कहानी भी उससे स्पष्टतर हो जाती है । न केवल उस कहानी को प्रत्युत भारतीय कृष्टि के प्रत्येक पहलू के विकास को ठीक समझने के लिए पुरानी अनुश्रुति का खाका अपने सामने रखना चाहिए ।

§२. पौराणिक अनुश्रुति

पौराणिक अनुश्रुति भारत के प्राचीन इतिहास को मन्वन्तरों अर्थात् मनु-युगों में बाँटती है । प्रत्येक मन्वन्तर का आरम्भ किसी मनु से होता है । पहले के मनु-वंशों के वृत्तान्तों की तह में तथ्य क्या है इसका कुछ आभास अभी तक नहीं मिला । अन्तिम कहानी का आरम्भ मनु वैवस्वत से होता है । उसकी जाँच से कीमती तथ्य मिले हैं ।

कहानी के अनुसार वैवस्वत अर्थात् सूर्य-पुत्र मनु के ९ या १० बेटे थे, जिनमें उसने समूचे भारत का राज्य बाँट दिया । सब से बड़े बेटे इक्ष्वाकु को मध्यदेश (कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के देश) का राज्य मिला,

जिसकी राजधानी अयोध्या थी। एक दूसरे बेटे को आजकल के तिरहुत में, एक को बघेलखण्ड में, शर्याति नामक बेटे को गुजरात-काठियावाड़ में और एक बेटे को पंजाब में राज्य मिला; इत्यादि। मनु की इळा नामक एक बेटी थी, जिसका सोम के बेटे बुध के साथ सम्बन्ध होने से पुरूरवस् का जन्म हुआ। इळा का बेटा होने से वह ऐळ कहलाया। ऐळ पुरूरवा का राज्य प्रतिष्ठान में था।

मनु ऐतिहासिक व्यक्ति है कि कल्पित सो कहना कठिन है। इळा भी केवल ऐळ उपनाम की व्याख्या के लिए कल्पित की गई लगती है। पुराणों के अनुसार मध्य हिमालय अर्थात् कनौर-जौनसार-गढ़वाल प्रदेश का नाम इळावृत वर्ष था; उस इळावृत से आये लोग ऐळ कहलाते हों यह अधिक सम्भावित है। इतना तथ्य इस कहानी में स्पष्ट है कि भारत के इतिहास का पर्दा जब पहलेपहल खुलता है तब अवध, बघेलखंड और तिरहुत में तथा उत्तर भारत के कुछ अन्य भागों में एक वंश के राजा राज्य कर रहे थे जो अपने को मानव या सूर्य वंश का कहते थे, और प्रतिष्ठान में एक और वंश का राज्य था जो अपने को ऐळ या सोम (चन्द्र) वंश कहता था। प्रतिष्ठान कहाँ था यह एक और प्रश्न है। आगे के वृत्तान्त से अनुमान होता है कि वह सरस्वती-यमुना काँठों में कहीं रहा होगा।

इक्ष्वाकु वंश का राज्य अयोध्या में शताब्दियों तक प्रायः अविच्छिन्न चलता रहा। इक्ष्वाकु से महाभारत युद्ध के काल तक उसकी प्रायः पूरी वंशावली पुराण में दी है। दूसरी वंशावलियाँ बीच बीच में टूटी हैं। पर विभिन्न वंशों के चरितों के बीच युद्ध विवाह आदि के समकालिकता-सूचक निर्देश यथेष्ट हैं, और एक आधुनिक विवेचक ने उन निर्देशों की बड़े यत्न से छानबीन कर के इस समूची कालावधि में घटनाओं व्यक्तियों आदि की आपेक्षिक कालस्थिति निश्चित की है।* उस छानबीन

* एफ० ई० पार्जीटर (१९२२)—एंश्येंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति.)।

के अनुसार मनु से महाभारत युद्ध तक औसत हिसाब से ६५ पीढ़ियाँ हुईं, और इस अवधि की प्रायः सब घटनाओं का काल पीढ़ी के हिसाब से निश्चित हो जाता है।

छठी पीढ़ी के ज़माने में ऐळ वंश में राजा ययाति हुआ। उसके पाँच बेटे हुए—यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, अनु और पूरु। पूरु और तुर्वसु के वंशज मध्यदेश में ही रहे। यदु के वंशज यादव आगे चल कर यमुना के दक्खिन दूर तक फैलते गये। आनवों की एक शाखा पंजाब में जा बसी और दूसरी बिहार के पूर्वी छोर पर, जो अंग देश कहलाया। पंजाब में आनव खूब फूले फले। द्रुह्यु का वंश उसके और आगे उत्तरपच्छिमी पंजाब में जा बसा। इन वंशों के विस्तार का इतिहास ही बहुत कुछ भारत में आर्यों के फैलाव का इतिहास है।

२१वीं पीढ़ी में अयोध्या में राजा मान्धाता हुआ जो पहला सम्राट् और चक्रवर्त्ती था। उसका साम्राज्य नर्मदा तक था। उसके दो पीढ़ी बाद हैहय वंश में, जो कि यादवों की एक शाखा थे, राजा महिष्मन्त हुआ, जिसने नर्मदा पर माहिष्मती नगरी बसाई। इस और अगली पीढ़ियों में द्रुह्यु और आनव वंशों से गन्धार, शिवि, केकय, मद्र आदि शाखाएँ फूटीं। ३०वीं पीढ़ी के समय हैहय वंश में राजा कृतवीर्य हुआ जिसका बेटा अर्जुन बड़ा विजेता हुआ। अयोध्या के वंश में ३३वीं पीढ़ी में राजा हरिश्चन्द्र हुआ और ४१वीं में सगर जो कि कृत युग के अन्त पर और त्रेता युग के आरम्भ में था।

४३वीं पीढ़ी के समय पौरव वंश का राजा दुष्यन्त हुआ, जिसका राज्य गंगा-जमना दोआब के उपरले भाग में था। दुष्यन्त का बेटा भरत चक्रवर्त्ती और सम्राट् हुआ। उसने कोशल की पच्छिमी सीमा से सरस्वती के काँठे तक साम्राज्य स्थापित किया। भरत के नाम से उसके न केवल वंशज प्रत्युत पूर्वज भी भारत कहलाए। भरत के वंशज हस्ती ने हस्तिनापुर की स्थापना की। उस राज्य का पूरवी भाग आगे चल कर उससे अलग हो कर पञ्चाल कहलाया। उत्तर पञ्चाल आजकल का

रुहेलखंड है, और दक्षिण पञ्चाल उसके दक्खिन गंगा पार का फर्रुखाबाद-इटावा-कानपुर प्रदेश, जो अब भी पंचार कहलाता है। ६५वीं पीढ़ी पर त्रेता के अन्त में इक्ष्वाकु के वंश में राजा रामचन्द्र हुआ।

रामचन्द्र के लंका जीतने की कहानी प्रसिद्ध है। पर रामायण वाली अनुश्रुति के अनुसार चित्रकूट से पंचवटी लगभग ७८ और किष्किन्धा ६६ मील थी। लंका किष्किन्धा से दूर न थी। विन्ध्याचल और सातपुड़ा में रहने वाले गोंड लोग अपने को रावण का वंशज मानते आये हैं। गोंडी बोली में किसी भी नदी को गोदारि और टापू दोआब या टीले को लंका कहते हैं। जंगलों में विचरने वाली जातियों के लोग पशु पक्षी वनस्पतियों को पूजते थे और जिस जाति के लोग जिसे पूजते उसके चित्र से अपने देह को अंकित करते और उसके नाम से उस जाति का नाम पड़ जाता था। इन बातों के आधार पर एक आधुनिक विद्वान् ने यह निश्चय किया है कि लंका अमरकंटक की चोटी थी, गोंडों के पूर्वज राक्षस तथा ओराँवों के पूर्वज वानर थे। रामचन्द्र की यात्रा और लंका-विजय से कोशल के आर्यों का दक्षिण कोशल तक फैलने का मार्ग बना।*

रामचन्द्र के भाई भरत को अपने ननिहाल का केकय (=चनाब नदी के पच्छिम आधुनिक गुजरात शाहपुर जेहलम ज़िले) का राज्य मिला। भरत ने केकय के पच्छिम लगा गन्धार देश भी जीता और वहाँ उसके दो बेटों तक्ष और पुष्कर ने तक्षशिला और पुष्करावती नगरियाँ बसाई।

रामचन्द्र के बाद द्वापर युग की पहली पाँच पीढ़ियों में यादवों की अन्धक और वृष्णि खाँपें फूटीं, उत्तर पञ्चाल का विजयी राजा सुदास हुआ तथा मुख्य पौरव वंश में राजा संवरण और कुरु हुए। ७८वीं पीढ़ी

---

* हीरालाल (१९२८)—अवधी हिन्दी प्रान्त में राम-रावण-युद्ध; कोशोत्सव स्मारक संग्रह पृ० १५–२७।

के ज़माने में पौरव राजकुमार वसु ने जमना के दक्खिन लगा हुआ यादवों का प्रदेश, जो उनके एक पूर्वज के नाम से चेदि कहलाता था, जीत लिया, जिससे वसु का उपनाम चैद्योपरिचर हुआ। चेदि आधुनिक बुन्देलखण्ड है। वसु ने उसके बाद मत्स्य (अलवर) से मगध तक जमना-गंगा के दक्खिन दक्खिन अपना साम्राज्य बना लिया, जो उसके बाद उसके ५ बेटों में बँट गया। इनमें से एक बेटे बृहद्रथ को मगध का राज्य मिला। बार्हद्रथ वंश में ६२वीं पीढ़ी के ज़माने में राजा जरासन्ध हुआ जिसने मध्यदेश के बड़े भाग पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। जरासन्ध से दो पीढ़ी ऊपर हस्तिनापुर का राजा शान्तनु हुआ था। ६२, ६३, ६४, ६५ पीढ़ियों के काल में महाभारत युद्ध हुआ।

इस अनुश्रुति में आर्यों के वंशों की शाखा-प्रशाखाएँ होने और उनके अनेक राज्य स्थापित होने का जो वृत्तान्त है, उससे भारत के ठीक उस भाग में जिसमें कि आज आर्यावर्त्ती भाषाएँ बोली जाती हैं अत्यन्त स्वाभाविक क्रम से आर्यों के फैलाव का चित्र खुलता है। यह इस अनुश्रुति की साधारण सत्यपूर्णता के पक्ष में बड़ा प्रमाण है। फिर इससे उस फैलाव की एक विशिष्ट पद्धति भी प्रकट होती है। वह फैलाव बड़े साम्राज्यों के विजयों से उतना नहीं हुआ, जितना अनेक राजवंशों की शाखाएँ फूट कर उन शाखाओं के अगली अगली भूमि में रोपे जाने से। उस फैलाव की सीमा महाभारत युद्ध के काल तक उत्तरपच्छिम तरफ़ गन्धार, सिन्धु (=सिन्ध नदी का बिचला काँठा) तथा सौवीर (=आधुनिक सिन्ध), पूरब तरफ़ अंग देश (मुंगेर-भागलपुर) तथा दक्खिन तरफ़ विदर्भ (बराड) तक थी। अंग के आगे वंग और कलिंग का नाम भी दो-एक जगह आता है, पर उन राज्यों के बारे में हम निश्चय से नहीं कह सकते कि उनकी स्थापना इस काल तक हो गई थी। आर्यों के इस फैलाव में विभिन्न अनार्य जातियाँ विभिन्न युगों में कहाँ कहाँ थीं, इसकी भी बहुत झाँकियाँ अनुश्रति से मिलती हैं।

अनुश्रुति के अनुसार कृत युग ४० पीढ़ी का, त्रेता २५ और द्वापर

३० पीढ़ियों का था—अर्थात् कृत की अवधि लगभग साढ़े छः शताब्दी, त्रेता की चार शताब्दी और द्वापर की पौने पाँच शताब्दी रही। कृत त्रेता और द्वापर यों ऐतिहासिक युग थे, जैसे मुगल युग, मराठा युग आदि। पीछे ज्योतिषियों ने भी अपने युगों के लिए यही नाम अपना लिये जिसके कारण हमारे देश में आज तक भ्रम चला आता है।

पौराणिक अनुश्रुति में यह बात स्पष्ट दर्ज है कि अर्जुन पाण्डव के पोते परीक्षित के अभिषेक से मगध के राजा नन्द तक १०१५ वर्ष बीते, और उस अवधि का नाम कलि युग था। उसके बाद **नन्दात् प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति**—नन्द के काल से कलि बढ़ जायगा। उस बढे हुए कलि का अन्त दो शताब्दी बाद माना गया जब कि उत्तरपच्छिमी भारत में यवन राजा स्थापित हुए—

> **शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः।**
> **यवनाः**....................................॥*

यवन राज्य की गन्धार में स्थापना लग० १८८ ई० पू० में हुई। इस प्रकार महाभारत युद्ध की तिथि लग० १४२५ ई० पू० आती है और इक्ष्वाकु के राज्य का आरम्भ लग० २६५० ई० पू० में।

§ ३. ऋचा युग और संहिता युग, ब्राह्मी वर्णमाला का उद्भव

ऋग्वेद के ५ सूक्तों (८. २७–३१) पर ऋषि रूप में मनु वैवस्वत का नाम है। इस मनु वैवस्वत से अभिप्राय क्या इक्ष्वाकु के पिता से ही है, और है भी तो ये सूक्त उसी की कृति हैं या उसके नाम पर किसी और की, ऐसे सन्देह होते हैं। एक और सूक्त (१०. ९५) में पुरूरवा और उर्वशी का संवाद है। इसमें एक ऋचा का ऋषि पुरूरवा और

---

* काशीप्रसाद जायसवाल (१९१७)—क्रौनोलौजिकल टोटल्स इन पुरानिक क्रौनिकल्स ऐंड दि कलि एज (पौराणिक वृत्तान्तों में कालगणना के जोड़ और कलि युग), जर्नल औफ़ दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (बिहार-उड़ीसा अनुसन्धान परिषद् की पत्रिका) जि० ३, पृ० २४६ प्रभृति।

देवता उर्वशी है तो दूसरी की ऋषि उर्वशी और देवता पुरूरवा। यह संवाद स्पष्ट ही किसी तीसरे व्यक्ति ने उनके नाम पर रचा है।

वंशावली के अनुसार गृत्समद वंश का आरम्भ ११वीं पीढ़ी के काल से हुआ, पर ऋषियों की मुख्य परम्परा ३०वीं पीढ़ी से चली। ऊर्व, उसका बेटा ऋचीक, दत्तात्रेय, जमदग्नि, देवराज वसिष्ठ, विश्वामित्र, मधुच्छन्दा, ये सब ऋषि ३०वीं से ३३वीं पीढ़ी तक हुए। फिर ४० से ४३ पीढ़ियों में बृहस्पति, दीर्घतमा, भरद्वाज, अगस्त्य और उसकी पत्नी लोपामुद्रा ऋषि हुई जो कि विदर्भ राजा की कन्या थी। आगे दुष्यन्त-पुत्र भरत के वंश में और भारतों के राज्यकाल में बहुत ऋषि हुए। ५५वीं पीढ़ी में ऋषि मेधातिथि काण्व हुआ। उत्तर पञ्चाल के राजा सुदास और उसके पुत्र सोमक के राज्यकाल में कई ऋषि हुए, जिनमें से वामदेव बहुत प्रसिद्ध है। ऋषियों की मुख्य परम्परा उसके साथ समाप्त हुई, यद्यपि उसके बाद भी कोई कोई ऋषि होते रहे। राजा शन्तनु का बड़ा भाई देवापि ऋषि हो गया था, और जिस सूक्त पर उसका नाम है उसकी ऋचाओं के अन्दर भी उसका और शन्तनु का नाम आता है।

मोटे तौर पर अधिकतर ऋषि ३०वीं से ७३वीं पीढ़ी तक हुए। उस अवधि को ऋचा-युग कहना चाहिए। उसके आगे वाले युग में संहिताएँ बनने लगीं। यह स्वाभाविक ही था कि ऋचायें काफी इकट्ठी हो जाने पर उनके संग्रह करने की ओर लोगों का ध्यान जाता।

अयोध्या के वंश में ८२वीं पीढ़ी में राजा हिरण्यनाभ हुआ। तभी भारत वंश की एक छोटी शाखा में जो कोशल के पड़ोस में राज्य करती थी, राजा कृत हुआ। कृत हिरण्यनाभ कौशल्य का शिष्य था। उन दोनों ने मिल कर सामों की संहिता बनाई जो **पूर्व साम** अर्थात् पूरब के गीत कहलाये।

दक्षिण पञ्चाल में ८६वीं पीढ़ी के समय राजा ब्रह्मदत्त हुआ जिसका एक मन्त्री कण्डरीक पाञ्चाल और दूसरा सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल था। ब्रह्मदत्त और उसके वे दोनों मन्त्री जैगीषव्य मुनि के शिष्य थे। अनुश्रुति

कहती है कि सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल ने **शिक्षा-शास्त्र** का **प्रणयन** किया तथा ऋक्संहिता का क्रमपाठ पहलेपहल बनाया । **प्रणयन** का अर्थ है प्रवर्तन, पहलेपहल स्थापित करना और चलाना । **शिक्षाशास्त्र** आगे चल कर वेदांगों में गिना गया । उस वेदांग शिक्षा में वर्णोच्चारण के नियमों की अर्थात् वर्णों के 'स्थानों' और 'प्रयत्नों' की ही विवेचना है। आधुनिक परिभाषा में हम उसे ध्वनिशास्त्र कहते हैं। अन्यत्र मैंने यह स्थापना की थी कि सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल ने शिक्षाशास्त्र का प्रणयन किया इसका अर्थ यह है कि उसने वर्णों के स्थानों और प्रयत्नों विषयक छानबीन को अन्तिम रूप और शास्त्र का रूप दे दिया । अर्थात् ध्वनियों की छानबीन उसके कुछ काल पहले से चल रही थी, सुबालक ने उसके सिद्धान्त अन्तिम रूप से निश्चित कर दिये । इसका यह अर्थ है कि भारत की तत्कालीन भाषा की ध्वनियों का विश्लेषण कर ब्राह्मी वर्णमाला निश्चित करने का काम अन्तिम रूप से सुबालक ने किया । दूसरे शब्दों में "विश्व की वर्णमालाओं में बेजोड़" ब्राह्मी वर्णमाला महाभारत युद्ध से प्रायः आठ पीढ़ी पहले अर्थात् लगभग १५५० ई० पू० में कन्नौज प्रदेश में सुबालक पाञ्चाल द्वारा पूर्ण की गई ।*

उक्त स्थापना के साथ मैंने यह मत भी रक्खा था कि वर्णमाला और लिखने की कला का आविष्कार होने से ही "यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हुई कि पिछले सब कानोंकान चले आते गीतों और सूक्तों अर्थात् सुभाषितों और ज्ञानपूर्ण उक्तियों का संग्रह कर लिया जाय । यही कारण था कि इस युग में एकाएक ··· पिछले ज्ञान को संहिताओं में इकट्ठा करने की लहर चल पड़ी।··· वर्णों की विवेचना और संहिताएँ बनाना ··· एक ही लहर के दो परस्पर-निर्भर पहलू थे।"

इस विवेचना से यह स्पष्ट होना चाहिए कि वेद वाङ्मय और

---

* जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० २००–२११, २७२–२७९ ।

वेदांगों का उदय कैसे हुआ। सूक्तों के रूप में कविता के प्रकट होने से पहले लोग लिखना पढ़ना जानते हों यह आवश्यक नहीं। "अनपढ़ लोग भी बुद्धिमान् हों तो सयानी बातें करते हैं। और यदि उनके मन में भावों की लहर उठे, और उनमें वह सहज सुरुचि हो जिससे मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दों के सुर-ताल का अनुभव करता है, तो वे अक्षर पढ़ना जाने बिना भी गा सकते और गीत रच सकते अर्थात् कविता कर सकते हैं। आरम्भ के कवि ऐसे ही थे। उनकी कविताओं में विचारों और भावों का स्वाभाविक प्रकाश था, विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौंदर्य नहीं। ऐसी रचनाएँ जब बहुत हो चुकीं, तब उन्हें बार बार सुनने से विचारकों का ध्यान उनके सुर-ताल, उनके छन्दों की बनावट, उनकी शब्द-रचना के नियमों और उन शब्दों के घटक उच्चारणों की तरफ गया। तब इन विषयों की छानबीन होने पर वर्णमाला तथा वर्णोच्चारणशास्त्र, छन्दःशास्त्र और व्याकरण आदि की धीरे धीरे उत्पत्ति हुई।... छन्दःशास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है।"*

§४. ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, वेदाङ्ग

जैसा कि हम आगे देखेंगे, आर्य लोग प्रकृति की शक्तियों को दिव्य रूप में देखते और उन देवताओं की तृप्ति के लिए यज्ञ करते थे। उन यज्ञों में ऋचाएँ और साम पढ़ी और गाई जातीं तथा यजुषों का पाठ होता। पीछे पुरोहितों ने उन यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ा दिया। उनकी कार्यप्रणाली को दर्ज करने के लिए उन्होंने नये वाङ्मय की रचना की जो **ब्राह्मण ग्रन्थ** नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे भारी-भरकम गद्य के ग्रन्थ हैं, पर प्राचीन भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं की ठीक ठीक झाँकियाँ देते हैं।

ज्ञान की खोज में लगे कुछ विचारशील लोगों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध पुकार उठाई। संसार के मूल तत्त्वों को टटोलने के

---

* वहीं पृ० २०९–२११, कुछ शाब्दिक फेरफार के साथ।

उनके उन प्रारम्भिक प्रयत्नों से **आरण्यक** अर्थात् जंगल में लिखे गये ग्रन्थ तथा **उपनिषद्** ग्रन्थ उत्पन्न हुए। आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के ही अन्तिम अंश हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में जिन व्यक्तियों, स्थानों और जातियों के नाम आते हैं, वे प्राचीन अनुश्रुति और आधुनिक खोज के अनुसार महाभारत युद्ध के बाद के हैं, जो कि बिलकुल ठीक है।

वेदाङ्गों का उदय वेद की संहिताएँ बनने और ऋचाओं पर विचार करने से ही होने लगा था, सो ऊपर स्पष्ट किया गया है। वेदाङ्ग छः थे, जिनमें से **शिक्षा** या **शीक्षा** का प्रथम स्थान है। उसके अतिरिक्त **व्याकरण, छन्दस्** और **निरुक्त** ये तीन वेदाङ्ग भी शब्द-शास्त्र अर्थात् भाषा-विषयक विज्ञान के अन्तर्गत हैं। वैदिक काल के सर्वप्रथम व्याकरण-ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहलाते थे। निरुक्त में शब्दों का निर्वचन किया जाता अर्थात् मूल धातु से विकास टटोला जाता था। उत्तर वैदिक काल के अनेक निरुक्त ग्रन्थों में से अब केवल यास्क का निरुक्त बचा है, जो अन्दाज़न सातवीं शताब्दी ई० पू० का है।

बाकी दो वेदाङ्ग हैं **ज्योतिष** और **कल्प**। ज्योतिष प्राचीन आर्यों का एकमात्र भौतिक विज्ञान था। वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। **कल्प** में आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक अनुष्ठानों और नियमों का समुच्चय था। उसके तीन भाग थे—**श्रौत, गृह्य** और **धर्म**। **श्रौत** में वैयक्तिक अनुष्ठान यज्ञ आदि की विवेचना थी, जो सब श्रुति पर निर्भर होने से श्रौत कहलाया। **गृह्य** अर्थात् पारिवारिक अनुष्ठान में श्रुति की विधियों के अतिरिक्त प्रथाएँ भी थीं। विवाह अन्त्येष्टि आदि के संस्कार उसी के अन्तर्गत थे। कल्प के **धर्म** भाग में सामाजिक अनुष्ठान और नियम थे। कल्प ग्रन्थ सब के सब सूत्र शैली में थे, जिसमें थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक विचार भर दिया जाता था।

ब्राह्मण-ग्रन्थों उपनिषदों और वेदाङ्गों को मिला कर हम उत्तर **वैदिक वाङ्मय** कहते हैं। उसके विशिष्ट लेखकों के नाम हम

नहीं जानते। वह समूचा वाङ्मय **शाखाओं** अथवा **चरणों** अर्थात् सम्प्रदायों की उपज है। एक एक शाखा की गुरु-शिष्य-परम्परा में वह उत्तरोतर मँजता और सम्पादित होता रहा है। मुख्य उपनिषदों का अन्तिम काल लगभग आठवीं शताब्दी ई० पू० तक है। कल्पसूत्रों का आरम्भ तभी से हुआ। विद्यमान रूप में उनमें से अनेक पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के भी हैं। तो भी अपनी अपनी शाखा में उनका पहला रूप और पहले से विद्यमान था, तथा उसमें थोड़ा संशोधन ही पीछे हुआ, इस कारण उनमें कई शताब्दी पहले के जीवन का चित्र है। इन वेदाङ्गों के नमूने पर पीछे अनेक स्वतन्त्र सूत्र-ग्रंथ भी बने।

§५. रामायण, महाभारत

अनुश्रुति के अनुसार वाल्मीकि मुनि रामचन्द्र का पिछला समकालिक था। उसे आदि कवि कहा है। वाल्मीकि ने राम के उपाख्यान की छोटी सी कविता रची यह प्रतीत होता है। देवतापरक कविता तो पहले से चल रही थी, पर लौकिक विषय को ले कर पहली कविता वाल्मीकि ने की। यही उसके आदि कवि होने का अर्थ है। वाल्मीकि के उस उपाख्यान से रामायण महाकाव्य बना अनुमान से पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में, क्योंकि उसमें अनेक बातें ऐसी हैं जो बौद्ध मार्ग की विद्यमानता को सूचित करती हैं। विद्यमान वाल्मीकि-रामायण मुख्यतः तभी की है, पर उसका भी अंतिम संस्करण पहली शताब्दी ई० पू० में हुआ। उत्तर कांड तो और पीछे का है।

सावधान छानबीन द्वारा विद्यमान वाल्मीकि रामायण के ये विभिन्न स्तर अलग अलग पहचाने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए राम की वन-यात्रा की जिस मुख्य कहानी की ऊपर विवेचना की गई है, वह और वैसी अन्य कथावस्तु स्पष्टतः पुरानी है। वाल्मीकि-रामायण का समाज-चित्र मुख्यतः पाँचवीं शताब्दी ई० पू० का है। उसमें जो अंश और पीछे मिलाये गये उनका नमूना वे देश-वर्णन हैं जो सीता की खोज के लिए

जाने वाले वानरों के पथदर्शन के लिए किये गये हैं। उन देशों में बृहत्तर भारत के अनेक द्वीपों और स्थानों के नाम हैं, यवद्वीप और उसके शिशिर पर्वत का भी उल्लेख है। जब मूल कहानी से प्रकट है कि चित्रकूट से लंका दो-एक सौ मील से अधिक न थी, तब ये वर्णन स्पष्टतया उससे असंगत और पीछे के हैं। यवद्वीप नाम न केवल आधुनिक जावा के लिए प्रत्युत उसके अड़ोस-पड़ोस के सब द्वीपों के लिए सामूहिक रूप से भी बर्त्ता जाता था। शिशिर पर्वत अब भी उसी नाम से विद्यमान है और वह उस द्वीपावली के सब से पूरवी द्वीप इरियान (न्यू गिनी) में है। रामायण के ये प्रक्षिप्त अंश भी पहली शताब्दी ई० पू० से विद्यमान हैं यह बात उस द्वीपावली की ऐतिहासिक परम्परा से सिद्ध होती है।

महाभारत का मूल उपाख्यान भी भारत-युद्ध के समकालिक या उसके शीघ्र बाद के वैशम्पायन की कृति रूप में था यह मानना चाहिए। लगभग ५वीं शताब्दी ई० पू० तक उस उपाख्यान के आधार पर **भारत** काव्य बन चुका था यह आश्वलायन गृह्य सूत्र (३.४.४) में उसके उल्लेख से सिद्ध होता है। वह भारत से महाभारत बना सातवाहन युग में अर्थात् २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच, इसके लिए भरपूर प्रमाण हैं जिन्हें हम उस युग में देखेंगे। तब उसमें रामायण की तरह थोड़े से प्रक्षेप नहीं किये गये, प्रत्युत उसका पूरा नया संस्करण किया गया और उसके संस्कर्त्ताओं ने अनेक बार इस बात को छिपाना भी अनावश्यक माना कि वे पिछले युग में लिख रहे हैं। उदाहरण के लिए शान्तिपर्व के राजधर्म में गणराज्यों विषयक कृष्ण और नारद के संवाद को वे भीष्म के मुँह से युधिष्ठिर को सुनवाते हुए कहते हैं—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं वासुदेवस्य महर्षेर्नारदस्य च॥ ८१. २॥

—यहाँ इस पुरातन इतिहास को उद्धृत करते हैं (जो कि) वासुदेव और महर्षि नारद का संवाद है। यदि भीष्म का कोई समकालिक कह रहा होता तो इसे पुरातन इतिहास क्यों कहता ?

अध्याय ४

वैदिक और उत्तर वैदिक काल का जीवन

§१. वैदिक और उत्तर वैदिक काल

वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन अनुश्रुति का जो दिग्दर्शन ऊपर किया गया है उससे यह प्रकट हुआ कि वैदिक काल की समाप्ति लगभग १४२५ ई० पू० में हुई तथा उत्तर वैदिक वाङ्मय का पहला अंश—ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद्—उसके बाद लग० ७०० ई० पू० तक बनता रहा। उक्त अवधि में अर्थात् लग० ७०० ई० पू० तक भारतीय आर्यों के जीवन और कृष्टि का जो रूप वेदों ब्राह्मणों उपनिषदों और पौराणिक अनुश्रुति के प्रकाश में प्रकट होता है, उसका अब हम दिग्दर्शन करेंगे। उत्तर वैदिक वाङ्मय का अन्तिम अंश ७०० ई० पू० के बाद का है। उस युग पर प्रकाश डालने वाली अन्य सामग्री भी है। इसलिए उस युग की कृष्टि का पर्यालोचन उस अन्य सामग्री की विवेचना के बाद अगले अध्याय में किया जायगा।

§२. वैदिक आर्यों की जीविका और आर्थिक जीवन

पशुपालन और कृषि वैदिक आर्यों की मुख्य जीविकाएँ थीं। आखेट भी खूब चलता था। कृषि के लिए सिंचाई भी होती थी। खादों का प्रयोग था कि नहीं सो नहीं कह सकते। पर बागवानी अर्थात् फलों की खेती नहीं थी। खेती की उपज मुख्यतः अनाज ही थे। आर्य लोग कपास को भी न जानते थे। उस समय संसार की अधिकतर दूसरी जातियों को भी कपास का पता नहीं था।

लोगों का धन मुख्यतः उनके पशुओं के रेवड़ होते थे। भूमि भी पारिवारिक सम्पत्ति में गिनी जाती, पर उसके खरीदने बेचने का रिवाज नहीं के बराबर था। दाय-भाग से, जंगल साफ करने से या नये देश खोजने या जीतने से नई भूमि पाई जा सकती थी। जंगम सम्पत्ति का क्रय-विक्रय या विनिमय काफी था। गाय तो विनिमय की इकाई ही थी; वस्तुओं के दाम गौओं में गिने जाते थे। निष्क नाम का सोने का सिक्का भी चलता था; पर आरम्भ में तो वह आभूषण था, और पीछे भी दान या खंडनी (कैदी को छुड़ाने का मूल्य) देने में उसका अधिक उपयोग होता था, व्यापार के लिए नहीं। ऋण देने लेने की प्रथा भी थी, और प्रायः जुए में हारना ऋण लेने का कारण होता था। ऋण न चुकाने से दास बनना पड़ता था। दास-दासियाँ भी होती थीं, पर लोग उनपर निर्भर न थे, सब साधारण काम गृहस्थ लोग स्वयं करते थे।

कुछ शिल्प भी थे। बढ़ई या रथकार का काम बहुत ऊँचा गिना जाता था, क्योंकि युद्ध और खेती के लिए रथ हल और गाड़ियाँ वही बनाता था। उसी तरह 'कर्म्मार' अर्थात् धातु से हथियार बनाने वाले कारीगर की प्रतिष्ठा थी। पर वैदिक काल में वह ताँबे के हथियार बनाता था कि लोहे के, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। जिस धातु के हथियार वह बनाता था उसका नाम वेद में अयस् है। अयस् का अर्थ पिछली संस्कृत में लोहा है, पर वेद में उसके लाल रंग का वर्णन है, इसलिए कुछ विद्वानों का यह विचार है कि वैदिक अयस् शायद ताँबा ही था, और उस काल में आर्य लोग लोहे को नहीं जानते थे। चमड़ा रँगने और ऊन सन क्षौम (अलसी के रेशे) आदि का कपड़ा बुनने के काम भी ऊँचे गिने जाते थे। स्त्रियाँ चटाइयाँ भी बुनती थीं। प्रत्येक ग्राम में कृषकों के साथ सूत (रथ हाँकने वाले), रथकार, कर्म्मार आदि भी होते थे, जिनकी प्रतिष्ठा साधारण लोगों से अधिक और प्रायः ग्रामणी अर्थात् ग्राम के नेता के बराबर थी।

थोड़ा वाणिज्य भी था वस्तु-विनिमय द्वारा। नदियों में तो नावें खूब

चलती ही थीं, शायद वे ईरान की खाड़ी में भी किनारे के साथ साथ जाती थीं।

§३. वैदिक समूह का सङ्गटन

आर्य लोग अपने समूहों को **जन** कहते थे। वे समूह परिवार के नमूने पर बने होते और प्रत्येक समूह का नाम उसके किसी बड़े पूर्वज या विद्यमान पुरुष के नाम पर पड़ता। जन के सब लोग **सजात** या **सनाभि** अर्थात् एक ही वंश के कहे जाते। उन्हें **स्व** अर्थात् अपने भी कहा जाता। अपने जन के बाहर के लोग **अन्यनाभि, निष्ठ्य** (निकाले हुए) अथवा **अरण** कहे जाते। एक जन के सब सजात मिला कर **विशः** अर्थात् प्रजा कहलाते। कृषक होने के कारण प्रत्येक जन की विशः किसी न किसी प्रदेश में प्रायः बस चुकी थीं, परन्तु कोई कोई **अनवस्थिता विशः** अर्थात् खानाबदोश लोगों के समूह उस काल में भी थे।

प्रत्येक जन की कई खाँपें या टुकड़ियाँ होतीं जो **ग्राम** कहलातीं। ग्राम शब्द का मूल अर्थ है जत्था या समुदाय। पीछे एक-एक ग्राम जहाँ बस गया वह ज़मीन भी ग्राम कहलाने लगी। किन्तु अनेक घूमते फिरते ग्रामों की चर्चा भी वैदिक वाङ्मय में है, जैसे "शर्याति मानव अपने ग्राम के साथ घूमता फिरता था" (शतपथ ब्राह्मण ४.१.५.२)। ग्राम का नेता **ग्रामणी** कहलाता था। युद्ध के लिए जन के सब लोग ग्राम-वार अर्थात् जत्थेवार जमा होते। उनका वह ग्रामवार जमाव **संग्राम** कहलाता। उसी से 'संग्राम' का अर्थ युद्ध हो गया।

संग्राम में प्रत्येक जवान अपने शस्त्रास्त्र ले कर और कवच पहन कर आता। साधारण लोग पैदल और नेता लोग रथों में आते। रथ प्रायः बैल के चमड़े से मढ़े होते। संग्राम में घुड़सवारी का उल्लेख नहीं मिलता। धनुष, भाला, बर्छा, कृपाण और परशु मुख्य शस्त्र थे। बाण या शर प्रायः सरकंडे के होते और उनकी अनी सींग हड्डी या धातु की।

युद्ध आर्यों के जनों में परस्पर भी होते और **दासों** अर्थात् अनार्य

लोगों के साथ भी। दास आर्यों से भिन्न **वर्ण** अर्थात् रंग के, कृष्ण त्वचा वाले होते। उनकी नाक नुकीली और उभरी न होती, इसलिए आर्य लोग उन्हें **अनासः** अर्थात् बिना नाक के भी कहते।

ग्राम का नेता जैसे ग्रामणी कहलाता, वैसे ही जन का नेता **राजा**। वह जन या विशः का राजा होता, न कि भूमि का। उसका राज्य **जान-राज्य** अर्थात् जन का मुखियापन कहलाता और वह एक प्रकार का **ज्यैष्ठ्य** यानी जेठापन या नेतृत्व था, न कि स्वामित्व। युद्ध में जीती भूमि राजा की न होती, वह सारे जन में बँट जाती।

आर्यों के विभिन्न जनों को मिला कर **पञ्च जनाः** अर्थात् 'सब जातियाँ' कहा जाता।

जन के सब लोगों को सजात मानना इस स्थापना पर निर्भर था कि जन का पूर्वज एक जोड़ा था, उसकी सन्तान हुई, सन्तान की फिर सन्तान हुई, इस प्रकार वंश बढ़ता और फैलता गया तथा उसकी अनेक खाँपें होती गईं। यह स्थापना वास्तव में पूर्ण सत्य न थी। एक तो इस कारण कि जनों में जब तब बाहर के 'ग्राम' या कुल भी सम्मिलित होते रहते थे। उदाहरण के लिए कार्तवीर्य अर्जुन के समय गुजरात के हैहय-यादवों के जन का एक कुल शार्यात भी था, पर शार्यात वास्तव में यादव तो क्या ऐळ भी न थे। वह मानवों का कुल था जो यादवों के गुजरात पहुँचने से पहले वहाँ विद्यमान था। जैसे परिवार में व्यक्तियों को गोद लेने की प्रथा पिछले काल में चली, वैसे ही जन में बाहरी कुलों या ग्रामों को मिला लेने की प्रथा तब थी।

दूसरे, एक जोड़ा आरम्भ के किसी युग में भी अकेला नहीं रह सकता था। मनुष्य अपनी सुरक्षा के लिए आदि काल से ही समूहों में रहते, पर उस काल में टिकाऊ जोड़े न होते। पौराणिक अनुश्रुति बताती है कि ऋषि दीर्घतमा (४१वीं पीढ़ी) के पहले तक विवाह बन्धन स्थिर न होता था (महाभारत, १. १०४. ३४-३६)। उस पहले काल में जब कि अधिकतर जोड़े अस्थायी होते, अनेक बार बच्चा अपने पिता को न

जान पाता, इसलिए माता की ही मुख्यता होती। वैदिक काल में विवाह-बन्धन स्थिर हो गया तो भी उस पुरानी दशा की याद और उसके चिह्न बाकी थे। माता के नाम से अपना गोत्र बताना और बहुपतिक विवाह आदि उस पुरानी दशा के चिह्न थे। पाँच पांडवों का द्रौपदी से विवाह महाभारत युग की साधारण प्रथा के अनुसार नहीं, उस पुरानी प्रथा के अनुसार ही था। महाभारत (१. १२२. २–५) के शब्दों में "पुराने काल में स्त्रियाँ अनावृत (बे-पर्दे) थीं ; वे स्वतन्त्र थीं और अपनी इच्छानुसार विहार करती थीं। उन्हें कुमारी दशा से ही कभी किसी कभी किसी पति के साथ विचरते अधर्म न होता था—पुराना धर्म वही था।" छान्दोग्य उपनिषद् (४. ४) में सत्यकाम जाबाल की कहानी है। नवयुवक सत्यकाम आचार्य हारिद्रुमत् गौतम के पास जा कर कहता है—भगवन्, मैं ब्रह्मचारी बन कर आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ, क्या आपके पास आ सकता हूँ? आचार्य ने पूछा—सौम्य तुम कौन-गोत्र हो? "मैं नहीं जानता महाराज मैं कौन-गोत्र हूँ। माँ से पूछा था, उसने उत्तर दिया यौवन में बहुत घूमते फिरते मैंने तुम्हें पाया था, सो मैं नहीं जानती तुम कौन गोत्र हो, मेरा नाम जाबाल है और तुम्हारा सत्यकाम। सो मैं सत्यकाम जाबाल ही हूँ।" आचार्य गौतम ने सत्यकाम की इस सत्यवादिता से प्रसन्न हो उसे अपना ब्रह्मचारी बनाया और वह बड़ा ब्रह्मवक्ता बना।

यों उत्तर वैदिक काल तक ऐसी घटनाएँ होती आती थीं। पर ऐसे अपवादों के रहते भी यह कहना चाहिए कि वैदिक काल में विवाह संस्था स्थिर हो चुकी थी।

§४. वैदिक राज्यसंस्था

राजनीतिक रूप से संघटित जन या विशः को **राष्ट्र** कहते थे। राजा राष्ट्र का मुखिया होता। विशः राजा का **वरण** करतीं—अर्थात् उसे चुनतीं अथवा यदि वह पिछले राजा का बेटा हो तो उसे पसन्द कर राजा

बनने की स्वीकृति देतीं। राजा का वरण होने पर राज्याभिषेक होता, जिसमें राजा विशः के साथ यह **प्रतिज्ञा** करता कि यदि मैं विशः का द्रोह करूँ, तो मैं अपने जीवन अपने सुकृत (पुण्य कर्म के फल) अपनी सन्तान सबसे वञ्चित किया जाऊँ। तब उसे राज्य की थाती सौंपी जाती और किरीट (मुकुट) पहनाया जाता तथा पुरोहित उसे कहता—यह राज्य तुम्हें कृषि के लिए, क्षेम के लिए समृद्धि के लिए पुष्टि के लिए सौंपा गया, तुम इसके यन्ता (संचालक) यमन (नियामक) और ध्रुव धारणकर्ता हो। यों अभिषेक द्वारा राजा एक जिम्मेदारी उठाता, जिसे निबाहने के लिए उसे प्रजा से **बलि** या **भाग** (कर) लेने का अधिकार दिया जाता।

उक्त प्रकार से वरण राजा की आयु भर के लिए होता, पर यदि वह 'सच्चा' न निकले अर्थात् अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा को पूरा न करे, तो विशः उसे पदच्युत और निर्वासित भी कर देतीं। निर्वासित राजा का कभी कभी वे फिर वरण भी कर लेतीं।

राजा **समिति** की सहायता से राज्य करता, जो समूची विशः की संस्था थी। राज्य की बागडोर समिति के ही हाथ में रहती। समिति के सदस्य कौन कौन होते और कैसे चुने जाते थे इसका ठीक पता नहीं है, पर ग्रामणी सूत रथकार और कर्म्मार अर्थात् प्रत्येक ग्राम के ग्रामणी और शिल्पी उसमें अवश्य सम्मिलित होते थे। यों ग्राम समिति के आधार थे। समिति का एक **पति** या **ईशान** होता। राजा भी समिति में जाता। राजा का वरण निर्वासन पुनर्वरण समिति द्वारा ही होता। राज्य का **मन्त्र** अर्थात् नीति निर्धारित करना भी समिति का ही कार्य होता। उसकी बैठकों में वाद-विवाद पूरी स्वतन्त्रता और शान्ति से होता, वक्ता लोग युक्तियों और वक्तृत्व-कला से सदस्यों को अपने पक्ष में करने का यत्न करते।

समिति के अतिरिक्त **सभा** नाम की एक संस्था भी राष्ट्र में होती, जो समिति से छोटी होती। राष्ट्र के मुख्य न्यायालय का काम वही करती। प्रत्येक ग्राम में भी अपनी सभा होती जिसमें न केवल वृद्ध प्रत्युत जवान

लोग भी भाग लेते। आवश्यक कार्यों के बाद ग्रामों की सभाओं में विनोद की बातें भी होतीं और तब वे सभाएँ गोष्ठी का काम देतीं। गौवों की चर्चा गोष्ठियों में सब से अधिक होती, इसी से उनका नाम गोष्ठी पड़ा।

समिति के सदस्य **राजानो राजकृतः** अर्थात् राजा बनाने वाले राजा कहलाते थे। किसी किसी राष्ट्र में राजा न होता और वे ही मिल कर राज्य करते। वैसे राष्ट्रों को **संघ** कहा जाता, क्योंकि उनमें एक पुरुष के बजाय संघ का राज्य होता। उसका एक प्रसिद्ध उदाहरण अनुश्रुति में है। महाभारत युद्ध से ठीक पहले मथुरा प्रदेश में यादवों की दो खाँपें—अन्धक और वृष्णि—रहती थीं। अन्धकों का राजा कंस मगध के राजा जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध ने मध्यदेश पर साम्राज्य स्थापित कर लिया था; कंस ने उसके सहारे के भरोसे अपनी प्रजा को पीडित किया। अन्धकों ने तब अपने पड़ोसी वृष्णि यादवों से सहायता माँगी, और वृष्णियों के नेता वासुदेव कृष्ण ने कंस को मार डाला। तब जरासन्ध का कोप अन्धकों और वृष्णियों पर उमड़ा। वे लोग जरासन्ध का सामना न कर सके और मथुरा छोड़ द्वारका चले गये। वहाँ अन्धक-वृष्णि-संघ स्थापित हुआ जिसके दो **संघमुख्य** एक साथ चुने जाते। उग्रसेन एक संघमुख्य था और वासुदेव कृष्ण दूसरा।

जरासन्ध के **साम्राज्य** का अर्थ भी समझना चाहिए। जो प्रतापी राजा अपनी शक्ति अपने **जान-राज्य** के बाहर भी फैला लेते वे सम्राट् कहलाते थे। **साम्राज्य** वास्तव में कुछ राज्यों का समुदाय होता जिनमें से एक मुखिया मान लिया गया हो। उस प्रकार की मुख्यता उनमें से किसी छोटे राज्य को भी मिल सकती थी, और उसका यह अर्थ न होता कि दूसरे राज्य उसके अन्दर लीन हो गये। साम्राज्य के बाद दूसरी राज्य-पद्धति भी चली जिसे **आधिपत्य** कहते थे। अधिपति की अपने पड़ोसियों पर प्रभुता रहती। अन्त में **सार्वभौम** राजा का आदर्श चला। सार्वभौम का लक्षण किया जाता था—समुद्र-पर्यन्त पृथिवी (आर्यावर्त्त) का एक-राज्। वह **चक्रवर्त्ती** भी कहलाता; चक्रवर्त्ती अर्थात् जिसके रथ का

चक्र विभिन्न राज्यों में निर्बाध चल सके। जनमूलक राज्य रहते हुए भी ये राजनीतिक आदर्श वैदिक काल में चल चुके थे।

§५. वैदिक आर्यों का धर्म-कर्म

वैदिक आर्यों के धर्म-कर्म में मुख्य बात देवताओं और पितरों की पूजा थी, जो प्रायः यज्ञ में आहुति देने से होती थी। प्रत्येक गृहस्थ के घर में अग्नि सदा उपस्थित रहता; आहुतियाँ उसी में दी जातीं। नित्य की पूजा में देवताओं की मूर्त्तियाँ तब नहीं थीं।

वैदिक देवता प्रकृति की बड़ी शक्तियों के मूर्त्त रूप थे। उनकी गिनती **द्यावापृथिवी** (द्यौः और पृथिवी) से आरम्भ की जाती है। **द्यौः** अर्थात् आकाश। **वरुण** भी द्यौः का एक रूप था, उसकी ज्योति का सूचक। वह धर्मपति था, मनुष्यों के सच-झूठ को देखता रहता। दो मनुष्य एकान्त में बैठ कर जो मन्त्रणा करते वरुण उसे भी जान लेता। उसके हाथ में पाश रहता। नदियों और समुद्रों का भी वही अधिपति था। उसका पाश पापी को पकड़ने के लिए अथवा जल का देवता होने के कारण रहा हो सकता है।*

द्यावापृथिवी और वरुण की अपेक्षा **इन्द्र** की महिमा अधिक थी। वह वृष्टि का देवता, इसलिए सब सम्पत्ति का स्रोत था। उसके हाथ में बिजली का वज्र रहता जिससे वह वृत्र अर्थात् अनावृष्टि के दैत्य का संहार करता। इन्द्र वरुण जैसा पुण्यात्मा नहीं प्रत्युत शक्तिशाली देवता था, जो वृत्र को मार कर सदा आर्यों का उपकार करता और युद्ध में भी उनका पक्ष ले कर उन्हें जिताता।

सूर्य के विभिन्न गुणों से कई देवताओं की कल्पना हुई थी। प्रभात वेला **उषा** देवी प्रकट होती, उसका प्रेमी सूर्य उसके पीछे पीछे आता।

---

* सक्खर में सिन्ध नदी के किनारे बरना पीर का स्थान है। दीवार पर बरना का चित्र है, उसके हाथ में पाश है, आसपास मकर और मछलियाँ हैं। सिन्धी जनता के मुस्लिम बन जाने पर वरुण देवता भी बरना पीर बन गया।

उदय होता हुआ सूर्य ही **मित्र** था। वह मैत्रीपूर्ण देवता मनुष्यों को नींद से उठाता और धन्धों में जुटाता। मित्र और वरुण की जोड़ी को प्रायः **मित्रावरुणौ** रूप में याद किया जाता। सूर्य जब पूरा उदय हो कर अपनी किरणों से जगत् को जीवन देता, तब वही **सविता** कहलाता। मित्र जैसे सूर्य के तेज का सूचक था और सविता जीवन-शक्ति का, वैसे ही **पूषा** उसकी पोषक शक्ति का और **विष्णु** क्षिप्र गति का। पूषा पशुओं और वनस्पतियों का देवता था, इसी से खानाबदोश टोलियों का पथ-प्रदर्शक भी। **विष्णु** के तीन पद थे, जिनसे वह सारे जगत् को व्याप लेता। उनमें से तीसरे अथवा **परम पद** को मनुष्य न देख पाते। प्रत्यक्ष **सूर्य** भी देवता था जिसकी पूजा की जाती थी। **अश्विनौ** की कल्पना शायद प्रातःकाल और सायंकाल के तारों से हुई थी।

अग्नि और **सोम** की महिमा केवल इन्द्र से कम थी। अग्नि के तीन रूप थे—सूर्य, विद्युत् और अग्नि या **मातरिश्वा**। **सोम** मूलतः वनस्पति था; पीछे चन्द्रमा में भी वही देवता माना गया क्योंकि चन्द्रमा का वनस्पति पर प्रभाव दिखाई देता। **प्रजापति** आरम्भ में सोम और सविता का विशेषण मात्र था, पीछे वह भी मूर्त्त देवता हो गया।

प्रकृति में जो कुछ भयंकर और घातक था उसकी जड़ में **रुद्र** माना जाता। **मरुतः** अर्थात् वायुएँ तूफ़ान के देवता रुद्र की सहायक थीं। किन्तु रुद्र भी प्रसन्न होने पर अपनी **शिवा तनूः**—मंगल रूप—को प्रकट करता, तब वह **शम्भु शंकर** और **शिव** होता।

वैदिक आर्यों की इस देवकल्पना में पूजा-प्रवृत्ति के साथ काव्यकल्पना भी स्पष्ट मिली हुई थी। वह कल्पना मधुर और सौम्य थी, डरावनी घिनौनी और अश्लील मूर्त्तियाँ नहीं रचती थी। आर्यों के सब देवता वर और असीस देने वाले थे। वैदिक ऋषि उनसे डरते हुए प्रार्थना न करते, प्रत्युत उन्हें वैसे ही पुकारते जैसे थन भरे हुए "गाय रँभाती हुई अपने बछड़े को पुकारती है" (अथर्व० २०.९.१)। आर्यों की जीवन-यात्रा जैसे अपने देवताओं पर निर्भर थी, वैसे ही उनके देवताओं

का जीवन भी आर्यों के यज्ञों में बलि पाने पर निर्भर था। जिसे भक्ति-भाव कहा जाता है वह वेद में नहीं पाया जाता।

आर्यों की जो दृष्टि उन्हें अनावृष्टि में वृत्र का प्रकोप, वर्षा में इन्द्र का औदार्य, शस्य-समृद्धि में सविता की असीस और वनस्पतियों के फलने में सोम का प्रसाद दिखाती थी, उसी दृष्टि ने उन्हें कुछ तत्त्व-चिन्तन की ओर भी प्रेरित किया था। इसी से सब देवताओं में एक-देव-कल्पना (ऋक् १.८९.१०) और सृष्टि-विषयक चिन्तन भी वेद में थोड़ा बहुत है। पर परलोकचिन्ता नहीं है, और दैन्यवाद और निराशतावाद से तो वेद कोसों दूर हैं। वैदिक देवताओं का मुख्य लक्षण बल सामर्थ्य और शक्ति है। आर्य उपासक उनसे प्रजा पशु अन्न तेज और ब्रह्म-वर्चस्—सभी इस लोक की वस्तुएँ—माँगता। उसकी सबसे अधिक प्रार्थना यही होती कि मुझे अपने शत्रुओं पर जिताओ, "जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं" उसका दलन करो!

प्रकृति-शक्तियों के मूर्त्त रूप देवताओं की पूजा के अतिरिक्त पशुओं या वनस्पतियों की पूजा (जैसे नागों की, या बड़ या पीपल की) तीन वेदों में नहीं पाई जाती। किन्तु त्रयी की देवपूजा समाज के ऊँचे वर्गों के विचारों को सूचित करती है। साधारण जनता में जादू-टोना कृत्या अभिचार आदि भी प्रचलित थे। उन विश्वासों का संग्रह अथर्ववेद में है। संसार के सभी देशों के इतिहास में रोग दूर करने के लिए ओषधियों के प्रयोग का आरम्भ जादू-टोने के साथ मिला रहा है। वैद्यकशास्त्र रसायनशास्त्र और अन्य अनेक शास्त्रों का उदय सब जगह जादू-मन्त्रों के बीच से ही हुआ है। इस दृष्टि से अथर्व के कई अंश, जिनमें ऐसी बातें भी मिली हुई हैं, बड़े महत्त्व के हैं।

ऋग्वेद ७.२१.५ में इन्द्र से प्रार्थना है कि **शिश्नदेवाः** (लिंग जिनका देवता है वे लोग) हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। दूसरी जगह शिश्नदेवों के **पुर** (गढ़) के इन्द्र द्वारा जीते जाने की बात है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि शिश्नदेव कोई ऐसे लोग थे जिनमें लिंग की पूजा प्रचलित

थी।† वैदिक काल में आर्य लोग उनसे घृणा करते थे, पर पीछे उनके वंशजों ने स्वयं उनकी वह पूजा अपना ली।

देवताओं की तृप्ति यज्ञ में आहुति या बलि पाने से होती। दूध घी अनाज मांस और सोमलता के रस की आहुतियाँ दी जातीं। पौराणिक अनुश्रुति है कि राजा वसु चैद्योपरिचर (७८वीं पीढ़ी) के राज्यकाल में अर्थात् वैदिक काल के अन्त से २॥-३ सौ वर्ष पहले ऋषियों का एक सम्प्रदाय उठा जिसका यह मत था कि यज्ञ में मांस के बजाय अन्न की ही आहुति दी जाय। वह सम्प्रदाय यज्ञों के कर्मकाण्ड और तप की अपेक्षा भक्ति को अधिक अच्छा कहता था। उसे **एकान्तिक धर्म** कहा गया, क्योंकि एकाग्र भक्ति की बात उसमें मुख्य थी।

पीछे के वृत्तान्तों में इस मार्ग को **सात्वत विधि** कहा गया है और इसके साथ वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण, संकर्षण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नाम जुड़ा है। सत्वन्त कृष्ण का पूर्वज था (६५वीं पीढ़ी में), उसके वंशज सात्वत कहलाते थे। प्रतीत होता है कि वसु के ज़माने में जो अहिंसा-भक्ति-प्रधान एकान्तिक धर्म पहलेपहल उठा, उसे वासुदेव कृष्ण और उसके भाई ने अपनाया, जिससे सात्वतों में वह बहुत चल गया। तो भी वैदिक काल में आर्यों का धर्म यज्ञ-प्रधान ही रहा।

देवताओं के अतिरिक्त पितरों का भी तर्पण किया जाता जो श्राद्ध कहलाता। अनुश्रुति के अनुसार श्राद्ध पहले-पहल दत्तात्रेय ऋषि (३१वीं पीढ़ी) के बेटे निमि ने चलाया था। वैदिक काल से ही आर्यों में मृतक को जलाने, पर बच्चे के शव को दफ़नाने की प्रथा थी।

यज्ञों का आडम्बर पिछले वैदिक काल में बढ़ता गया। धनी लोग बड़े बड़े यज्ञ पुरोहितों से करवाते। इससे पुरोहितों की विशिष्ट श्रेणी खड़ी हो गई।

---

† परन्तु देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य (१९३४)—भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ १ पृ० ३२-३३। उनका मत है कि शिश्नदेव का अर्थ केवल कामुक है

§ ६. वैदिक काल का समाज

क. समाज में स्त्री-पुरुष

विवाह संस्था के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। अनुश्रुति में एक जगह उसकी स्थापना का श्रेय दीर्घतमा ऋषि को दिया गया है, दूसरी जगह श्वेतकेतु औद्दालकि को जो महाभारत युद्ध के चार पीढ़ी पीछे हुआ। वास्तव में उसकी स्थापना दीर्घतमा ने ही की, और श्वेतकेतु ने उसकी शिथिलता को हटा कर उसे फिर सुदृढ किया, यह प्रतीत होता है।

आर्यों के विवाह का जो चित्र हम वेदों में पाते हैं उसमें युवक-युवतियों के परिपक्व आयु में ही विवाह होने की प्रथा दिखाई देती है। कन्याओं और स्त्रियों को समाज में पूरी स्वतन्त्रता थी, वे प्रत्येक कार्य में पुरुषों का हाथ बँटातीं। स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ऊँची शिक्षा पाने—**ब्रह्मचर्य** धारण करने—में स्वतन्त्र होतीं, और वैसी शिक्षा से उन्हें पति खोजने में सुविधा होती। अनेक स्त्रियाँ **ब्रह्मवादिनी** और ऋषि भी होतीं।

युवकों युवतियों को अपना संगी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी। सामाजिक समागम और विनोद के स्थानों में उन्हें परस्पर परिचय और प्रेम में फँसने के भरपूर अवसर मिलते। **मर्य** अर्थात् जवाँमर्द का **योषा** अर्थात् युवती के तईं **अभ्ययन** और **अभिमनन**—पीछे पड़ना मनाना रिझाना—**कल्याणी युवतियों** के साथ **मर्यों** का **मोद** और **हर्ष** करना समाज में साधारण बातें थीं। सभाओं और ग्राम-जीवन के अन्य समागमों के अतिरिक्त वसन्त ऋतु में **समन** नाम के उत्सव होते जिनमें नाच-गान घुड़दौड़ और क्रीडाएँ होतीं। **योषाएँ** उन समनों में सजधज कर आतीं। उनमें प्रायः कुमारियाँ अपने लिए वर पा जातीं। माता पिता भाई-बन्धु अपनी बेटियों और बहनों को सिंगारने-सँवारने और अनुकूल वर खोजने में पूरी सहायता देते। जो अभागी कन्याएँ **अभ्रातृका** होतीं उन्हें इसी कारण प्रगल्भ बनना पड़ता। वे प्रायः भड़कीले लाल कपड़े पहन कर सभाओं में सम्मिलित होतीं और युवकों का ध्यान अपनी ओर खींचतीं।

राजपुत्रियों के स्वयंवर तो बड़े उत्सव ही बन जाते थे।

वैदिक आर्यों में युवकों युवतियों का मिलना जुलना जैसे स्वस्थ और खुले ढंग से होता, वैसा ही उनका विवाह का आदर्श उज्ज्वल और ऊँचा था। **साम्मनस्य** अर्थात् एक मन का हो कर रहना उसका तत्त्व था। तो भी विवाह पत्थर की लकीर न होता। विधवाएँ देर तक विधवा न रहतीं, उन्हें फिर विवाह करने में रुकावट न थी। दहेज की प्रथा भी थी और शुल्क ले कर लड़की देने की भी। किन्तु इन प्रथाओं की शरण उन युवतियों और युवकों को लेनी पड़ती जिन्हें स्वाभाविक रीति से अपना साथी या संगिनी पाने में सफलता न होती।

ख. सामाजिक ऊँचनीच

वैदिक काल के भारतीय समाज में सबसे बड़ा वर्ग-भेद **आर्य** और **दास** का था। दास वास्तव में आर्यों से भिन्न नृवंशों के और भिन्न **वर्ण** अर्थात् रंग के थे। वे विजित जाति के थे। उनकी भाषा या भाषाएँ भी आर्यों की भाषा से भिन्न थीं। आज के भारतीय समाज में अनेक आर्य अनार्य जातियाँ घुल मिल चुकीं और एक दूसरे की भाषा अपना चुकी हैं। उस काल में उनका नृवंशीय अन्तर स्पष्ट दिखाई देता था। उदाहरण के लिए उत्तर वैदिक काल तक के वाङ्मय में चंडाल नाम एक विशिष्ट जाति का है, जिसकी अपनी भाषा थी। आर्यों और अनार्यों के बीच सम्बन्ध वैदिक काल में भले ही बुरे माने जाते, तो भी होते रहते थे। अनुश्रुति में राक्षसों निषादों आदि के साथ आर्यों के सम्बन्ध होने के बहुत दृष्टान्त हैं।

विवाह-संस्था स्थिर हो जाने के बाद भी उत्तर वैदिक काल में **रामा** अर्थात् रखैल रूप में अनार्य स्त्रियों को रखने का काफी चलन रहा; यहाँ तक कि वे 'रमण के लिए' रक्खी जाने वाली स्त्रियाँ चूँकि **कृष्णजातीय** होतीं इससे राम का अर्थ काला हो गया (निरुक्त १३. १२. २)।

आर्य और दास के भेद के अतिरिक्त वैदिक काल में कोई जाति-भेद या वर्ण-भेद न था। वर्ण और जाति शब्द तब अपने ठीक अर्थों में

प्रयुक्त होते थे, और वर्ण दो ही थे (**उभौ वर्णौ** ऋक् १.१७९.६)। समाज के विभिन्न वर्गों को जाति या वर्ण कहने की प्रथा तब तक नहीं चली थी, और समाज में वर्गों की ऊँचनीच बहुत ही थोड़ी थी।

रथी और महारथी की प्रतिष्ठा साधारण पदाति योद्धा से स्वभावतः ऊँची होती। रथियों के **क्षत्रिय** परिवार विशः का ही अंश थे, तो भी विशः के साधारण लोगों (वैश्यों) से वे अपने को कुछ ऊँचा मानते। **वैश्य** का अर्थ ही था विशः में का साधारण व्यक्ति, जनसाधारण। समाज में वैश्यों अर्थात् जनसाधारण की आपेक्षिक प्रतिष्ठा कितनी थी यह समझने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि वैदिक राज्यसंस्था में विशः ही सब कुछ थे।

रथियों या क्षत्रियों में भी जिन परिवारों में से प्रायः राजा चुने जाते, उनके व्यक्ति **राजन्य** कहलाते और वे साधारण रथियों या क्षत्रियों से भी ऊँचे माने जाते। उधर यज्ञों का क्रियाकलाप बढ़ने के साथ पुरोहितों का पृथक् वर्ग बनने की प्रवृत्ति हुई। विद्या और ज्ञान की खोज में लगने वाले और अपने जीवन जंगलों के आश्रमों में बिताने वाले ब्राह्मण लोग भी एक वर्ग से हो गये। यह थोड़ा बहुत वर्ग-भेद उस काल में दिखाई देता था, पर इसके होने पर भी सब आर्यों में परस्पर खानपान और विवाह-सम्बन्ध खुला चलता था। सभी सजात विशः थे और **समानी प्रपा सह वो अन्नभागः** (अथर्व ३.३०.६)—तुम्हारा पीना और खाना साथ हो—यह उनकी भावना थी।

§७. आर्यों का अभिजन

आर्य भाषाओं का परिवार भारत के बाहर भी दूर दूर तक फैला हुआ है इसका उल्लेख हो चुका है। इन भाषाओं के प्राचीन रूपों की सगोत्रता बहुत स्पष्ट है। वैदिक संस्कृत, पूर्वी ईरान की पह्लवी और पच्छिमी की पारसी, प्राचीन तुर्की की हत्ती या खत्ती, यूनानी, इतालिया की लातीनी, पच्छिमी युरोप की केल्त, मध्य युरोप की जर्मन, पूर्वी युरोप

की स्लाव और प्राचीन मध्य एशिया की शक तुखार आदि भाषाएँ एक ही मूल भाषा की शाखाएँ थीं। इन भाषाओं में से कइयों के बोलने वाले अपने को आर्य कहते थे। आर्यावर्त के आर्यों की तरह प्राचीन ईरानी अपने को ऐर्य कहते, जिससे उनके देश का नाम ऐर्यान हुआ जो घिस कर ईरान बना। उसी प्रकार आयर्लैंएड के केल्स-भाषी अपने देश को अब तक ऐरे कहते हैं।

इन भाषाओं के बोलने वालों का प्राचीनतम समूह-संघटन भी एक सा था। वैदिक आर्यों के जैसे 'जन' थे, वैसे ही प्राचीन ईरानियों, यूनानियों, इतालवियों आदि के भी, और वे भी उन्हें जन ही कहते थे। इन विभिन्न जातियों की आरम्भिक देवकल्पना भी एक थी। वैदिक देवता द्यौस् (आकाश) और यूनानियों का ज़ेउस् एक ही थे, उसी प्रकार वैदिक सोम और ईरानी होम, इत्यादि। आगे चल कर वह कल्पना विभिन्न रूपों में पल्लवित हो गई, पर मूल सब का एक ही था। इन सभी जातियों की भाषाओं में पालतू पशुओं के नाम और कृषि-सम्बन्धी शब्द भी समान हैं, जिससे सिद्ध होता है कि जब इन जातियों के पूर्वज इकट्ठे रहते थे तभी पशुपालन और आरम्भिक कृषि की मंजिल तक पहुँच चुके और घुड़सवारी में अभ्यस्त हो चुके थे।

यों यह प्रकट है कि एक मूल आर्य कृष्टि थी और कि वैदिक कृष्टि के बहुत से तत्त्व उस कृष्टि के थे। उस मूल आर्य कृष्टि का विकास कहाँ किस परिस्थिति में हुआ, अर्थात् आर्यों के पूर्वज मूलतः कहाँ रहते थे, यह बड़ी समस्या है।

जहाँ किसी के पूर्वज रहते रहे हों, संस्कृत में उस स्थान को उसका अभिजन कहते हैं। आज से ६०-७० वर्ष पहले यह बात मान ली गई थी कि आर्यों का अभिजन मध्य एशिया में था, जहाँ से उनकी कुछ शाखाएँ युरोप चली गईं, एक ईरान गई और एक अफ़गानिस्तान हो कर भारत उतरी। पूर्वी अफ़गानिस्तान की नदियों कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) का तथा पच्छिमी गन्धार की

सुवास्तु (स्वात) का ऋग्वेद में उल्लेख है; उसी प्रकार रावी के तट पर राजा सुदास की दस राज्यों से लड़ाई का जिन दस में से एक पक्थ अर्थात् पख्तून या पठान लोग भी थे। सुदास की रावी पर वह लड़ाई उक्त मत के अनुसार आर्यों के पंजाब से पूरब बढ़ाव को सूचित करती है।

मध्य एशिया अभिजन वाला मत विद्वानों ने बाद में छोड़ दिया, क्योंकि युरोप में आर्यों के चिह्न बहुत पुराने पाये गये। तो भी भारत में उत्तरपच्छिम से अफगानिस्तान के रास्ते आर्यों के आने की बात को अभी तक अधिकतर विद्वान मानते हैं।

भारत के भाषाविवेचकों के मत से आर्य भाषावंश की आर्यावर्त्ती शाखा की भीतरी उपशाखा का एक केन्द्र वर्ग है, एक पहाड़ी वर्ग। केन्द्र वर्ग में हिन्दी, पंजाबी (केवल पूरबी पंजाबी), राजस्थानी और गुजराती हैं। भीतरी उपशाखा के पूरब दक्खिन और उत्तरपच्छिम बाहरी उपशाखा की भाषाएँ बँगला उड़िया मराठी सिन्धी हिन्दकी आदि हैं। केन्द्र वर्ग की भी केन्द्रीय भाषा हिन्दी है, और उसके केन्द्र में खड़ी बोली और व्रजभाखा। ऋग्वेद की भाषा उसी प्रदेश में बोली जाती थी जिसमें आज खड़ी बोली। अफगानिस्तान के रास्ते भारत में आर्यों का आना मानने वालों को इस बात की व्याख्या के लिए कि आर्यावर्त्ती वाणी का केन्द्रीय रूप उत्तरपच्छिम में न हो कर सरस्वती-यमुना-गंगा काँठों में कैसे है, क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं।

पौराणिक अनुश्रुति की विवेचना के बाद श्री पार्जीटर ने कहा कि वह अनुश्रुति ठीक सरस्वती यमुना-गंगा काँठों से ऐळों का चारों तरफ फैलना दिखाती है। २८वीं, २९वीं पीढ़ी के बाद से गन्धार के ऐळों की शाखाओं द्वारा पच्छिमी देशों में जा कर राज्य स्थापित करने की बात भी उसमें है। सुदास अनुश्रुति के अनुसार उत्तर पंचाल का राजा था। उसकी रावी तट पर पंजाब अफगानिस्तान के अनेक राजाओं से लड़ाई उत्तरपच्छिम से आर्यों का आना किसी प्रकार सूचित नहीं करती। यों अनुश्रुति से प्रकट होता है आर्य भारत में उत्तरपच्छिम से नहीं आये।

उत्तरपच्छिम से भारत में आने वाले जन-प्रवाह एक बार भारत के मैदान में पहुँचने के बाद हिमालय के भीतर आसानी से नहीं घुसते। किन्तु हिमालय के मध्य और पच्छिमी भाग में महा-हिमालय शृंखला और उसके पार तक भी आर्यों की बस्ती है, अथवा उन प्रदेशों से आर्यों का परिचय प्राचीनतम काल से है। कश्मीर की पूरवी सीमा पर हिमालय के भीतर की मरुद्वृधा (मरुवर्द्वान) नदी का उल्लेख ऋग्वेद में है; उसी प्रकार पच्छिमी गन्धार की हिन्दकोह से उतरने वाली सुवास्तु (स्वात) का। यों उन दोनों नदियों के बीच के पच्छिमी हिमालय के भीतरी प्रदेश वैदिक काल से आर्यों के परिचित थे। किन्नरों के देश, गढ़वाल की मन्दाकिनी अलखनन्दा भागीरथी आदि नदियों, एवं कैलाश पर्वत और मानस सर का उल्लेख प्राचीनतम अनुश्रुति में है। पुराणों के भूवर्णन में अनेक युगों के चित्र मिल कर घिचपिच हो गये हैं, तो भी उसके विभिन्न कालों वाले अंशों को छानबीन कर अलग किया जा सकता है। पौराणिक भूवर्णन का सब से पुराना चित्र वह है जिसमें इळावृतवर्ष हरिवर्ष आदि का विवरण है, और वह चित्र मध्य और पच्छिमी हिमालय तथा मध्य एशिया के देशों का प्रतीत होता है। भारतीय इतिहास का पिछला कोई युग ऐसा नहीं है जिसमें भारत से कैलाश-मानस प्रदेश में भारतीयों के जाने का उल्लेख हो। किन्तु उस प्रदेश की चर्चा हमारे वाङ्मय में प्राचीनतम काल से है।

आर्यों का अभिजन भारत में ही रहा हो और यहीं से वे ईरान और युरोप तक फैले हों, सो निश्चय से नहीं हो सकता। कारण कि एक तो भारत का प्राचीनतम वाङ्मय उन्हें पशुपालक और कृषक दशा में प्रकट करता है, दूसरे, उत्तर भारत का मैदान आज से प्रायः दस हज़ार वर्ष पहले तक मनुष्य के रहने योग्य न था, जब कि युरोप में और विशेष कर दक्खिनी रूस और कास्पी सागर के पूरब अश्काबाद के मैदान में नवाश्मी कृष्टि के ऐसे अवशेष मिले हैं जो उनके साथ पाई गई खोपड़ियों से आर्य नृवंश के सिद्ध होते हैं, अर्थात् युरोप और मध्य एशिया में

आर्य लोग नवाश्मी काल से विद्यमान थे। † पामीर से ठेठ चीन की सीमा तक तारीम और लोपनौर के काँठों में भी हमारे इतिहास के मध्य काल तक आर्य जातियाँ ही रहती थीं। इस पूर्वी मध्य एशिया के ठीक दक्खिन तिब्बत का पठार है जो खुला और विस्तृत चरागाह है। पशु-पालक गिरोहों का पूर्वी मध्य एशिया से पच्छिमी तिब्बत के पठार पर चढ़ आना कठिन नहीं है।

उक्त सब बातों को देखते हुए हमें यह मानना चाहिए कि मूल आर्य कृष्टि का विकास भारत के बाहर किसी देश में ही हुआ, और कि आर्यों की एक शाखा पूर्वी मध्य एशिया से नई चरागाहों की खोज करती पच्छिमी तिब्बत चढ़ी और कुछ काल पीछे उसके दक्खिन छोर पर पहुँच कर लग० ३००० ई० पू० में हिमालय के नीचे उतरने लगी। हिमालय के भीतर भीतर वह कश्मीर तक फैल गई, तथा गंगा-यमुना-सरस्वती काँठों में उतर कर वहाँ से भारत के मुख्य भाग में अगले डेढ़ हज़ार वर्ष में धीरे धीरे फैलती रही। इस अवधि में यहाँ उसने अपनी विशिष्ट कृष्टि का विकास किया। सरस्वती काँठे से गन्धार तक पहुँचने के

---

† देखिए अ० अ० सेमेनोफ़ (१९२५)—पाम्यातिनकि आरियस्कोय कुल्तुरि प्स्रेन्देय आज़िई (मध्य एशिया में आर्य कृष्टि के अवशेष), अभ्‌श्चेस्त्‌भा ल्दा ईज़ुचेनिए ताजिकिस्ताना ई इरानस्किख़ नारोदनस्तेय ज़ा एभो प्रेदेलामि (ताजि-किस्तान-ईरान-सीमा-पारीण-आर्य-जनता-अध्ययन-सभा) द्वारा ताशकन्द से १९२५ में प्रकाशित 'ताजिकिस्तान ज़र्बनिक स्तातेय' (ताजिकिस्तान—निबंधों का संग्रह) शीर्षक रूसी लेख-संग्रह से पृथक् मुद्रित। इस लेख के अनुवाद के लिए मैं अपने मित्र श्री सुरेशचन्द्र सेनगुप्त का कृतज्ञ हूँ। प्रो० सेमेनोफ़ के इस लेख में नवाश्मी काल से पिछले मध्य युग तक के मध्य एशिया के आर्य अवशेषों की विशद पर्यवेक्षा और वहाँ की अनेक प्रसिद्ध मुस्लिम इमारतों के पुराने आर्य अंशों का दिग्दर्शन है। यह पर्यवेक्षा और दिग्दर्शन सन् १९२५ के है जब कि मध्य एशिया की आर्य कृष्टि का अध्ययन करने वाली सोवियत-संघ की इस सभा ने अपना कार्य आरम्भ ही किया था। पिछले तीस बरस में इसने जो और कीमती खोजें की होंगी उनका भारत के आर्य-कृष्टि-अभिमानी शिक्षित वर्ग को कुछ भी पता नहीं है।

बाद इसकी कुछ छोटी शाखाएँ वहाँ से पच्छिम भी गईं ।

§ ८. वैदिक आर्यों के विदेश-सम्पर्क

भारत की वैदिक कृष्टि के विकास-काल में पच्छिमी एशिया और उत्तरपच्छिमी अफ़रीका में अनेक सभ्य राष्ट्र थे । फ़ारिस-खाड़ी में मिलने वाली तिग्रिस (दजला) और उफ्रातुस (फ़रात) नदियों के काँठे में, जो अब ईराक कहलाता है, लग० ३५०० ई० पू० से दो बस्तियाँ थीं, जिन्हें वहाँ बाद में आने वाले बाबिली लोग शुमेर और अक्काद कहते थे । शुमेर-अक्कादी या शुमेरी लोग किस नृवंश के थे सो नहीं जाना जा सका । तो भी यह निश्चित है कि वे सभ्य लोग थे और अनेक शिल्प जानते थे । बाइबल के पूर्वार्ध में जो देवगाथाएँ हैं वे भी उन्हीं की हैं । पीछे उसी प्रदेश में खल्द और फिर लग० २५०० ई० पू० में बाबिल नामक बस्ती बसी । बाबिली लोग निश्चय से और खल्दी भी सम्भवतः सामी या शेमी वंश के थे । वे दोनों मिल कर एक हो गये और उन्होंने अपना साम्राज्य स्थापित किया । लग० २२५० ई० पू० में बाबिलियों ने तिग्रिस के पच्छिमी तट पर अश्शुर नामक बस्ती अपने देवता अश्शुर के नाम पर बसाई । वहाँ के अश्शुर लोग वास्तु-कला अर्थात् भवन-निर्माण शिल्प में प्रसिद्ध हो गये । लग० १३०० ई० पू० में अश्शुर के राजा शाल्मनेसर ने बाबिली साम्राज्य को जीत लिया, तब से वह अश्शुर साम्राज्य कहलाने लगा ।

लग० २२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक आधुनिक तुर्की में हत्ती या खत्ती लोगों का राज्य अनेक उतार-चढ़ावों के बीच रहा । वे लोग आर्य वंश के थे ।

नील नदी के उद्गम-प्रदेश हब्श देश में लग० २२०० से १८०० ई० पू० तक कुश लोगों का राज्य रहा ।

विद्वानों का कहना है कि वेद में अनेक जादू टोने की बातें और मन्त्र-तन्त्र बाबिलियों और खल्दियों से लिये हुए हैं। बाल गंगाधर टिळक

ने अथर्ववेद के अनेक शब्दों का खल्दी मूल दिखाया था। इसी प्रकार वेद के ज्यौतिष कालगणना और सृष्टि-प्रलय-विषयक कुछ विचारों की भी खल्दी विचारों से अभिन्नता प्रतीत होती है।

बाबिलियों का एक उपनिवेश आधुनिक फिलिस्तीन के स्थान पर था जिसे वे कानान कहते थे। यूनानी वहाँ के लोगों को फोइनिकोई कहते थे, और उनके देश को फोइनिके जिसका अर्थ है लाल। वे लोग एक प्रकार के सुन्दर लाल कपड़े का व्यापार करते थे, इससे यूनानियों ने उनका वह नाम डाला। उस यूनानी नाम का लातीनो रूपान्तर था पूनि, और आधुनिक युरोपी रूपान्तर है फिनीचिया या फ़िनीशिया।

फोइनिकोई या पूनि लोग प्राचीन जगत् में प्रसिद्ध नाविक और व्यापारी थे। वेद में जो असुर शब्द है वह बाबिली खल्दी अश्शुर लोगों का सूचक है। असुर पणियों का वेद में अनेक बार उल्लेख है। वे निश्चय से वही फोइनिक या पूनि लोग हैं। पणि का अर्थ ही वैदिक भाषा में व्यापारी हो गया और हमारा वणिज् शब्द उसी से बना। भारत के पिछले ज्यौतिष ग्रन्थों में मय असुर को ज्यौतिष का पहला आचार्य बताया गया है। हमारी अनुश्रुति में मयासुर को बड़ा वास्तु-विशारद भी माना गया है। ज्यौतिषी वेंकटेश बापूजी केतकर ने दिखाया है कि खल्दियों ने पहले भारतीयों से आरम्भिक ज्यौतिष सीखा, फिर उन्होंने ज्यौतिष में बड़ी उन्नति की और भारतीयों ने उनसे वह ज्ञान लिया।

नील नदी के उद्गम-प्रदेश को पुराणों में कुशद्वीप कहा है। कुशों का राज्य वहाँ जब था उसी युग का वह नाम होना चाहिए। कुशद्वीप का पुराण में जो विवरण है उसी से पथदर्शन पा कर आधुनिक युग में कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यों हब्श देश (अबीसीनिया) के साथ लग० २००० ई० पू० से भारतीयों का सम्पर्क सिद्ध होता है।

पच्छिमी एशिया के मित्तानि नामक राष्ट्र के राजाओं और खत्ती राजाओं का पुराना सन्धिपत्र मिला है जिसमें इन्द्र वरुण नासत्य आदि

वैदिक देवताओं को साक्षी बनाया गया है। नासत्यौ वेद में अश्विनौ का पर्याय है। मित्तानि राजाओं की लग० १४०० ई० पू० की मिस्र के राजाओं से चिट्ठीपत्री मिली है। उसमें मित्तानि राजाओं के नाम आर्यावर्त्ती से हैं, जैसे दशरत्थ। पौराणिक अनुश्रुति में गन्धार से ऐळों की शाखाओं के पच्छिम जाने की जो बात है उसकी इससे पुष्टि हुई है।

अरब के पच्छिमी तट के यमन प्रदेश को प्राचीन काल में शेबा कहते थे। लग० १२०० ई० पू० की शेबाई लिपि और तभी की हब्श देश की लिपि में ब्राह्मी लिपि की सी मात्रापद्धति और अन्य बातें हैं। अनेक लिपि-विज्ञों ने उनके ब्राह्मी-मूलक होने का अनुमान किया था। वह अनुमान आज से पौनी शताब्दी पहले से हमारे सामने है। पर हमारे देश में अपने इतिहास की जैसी उपेक्षा—मूल स्रोतों का अध्ययन न कर केवल अंग्रेज़ी ग्रन्थों की बातें दोहराने की जैसी आदत—है, उसके फलस्वरूप किसी भारतीय विद्वान् ने इस महत्त्वपूर्ण संकेत को ले कर इस विषय की जड़ तक खोज नहीं की।

शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की जो कथा है वह बाबिली-मूलक है। वास्तव में वह जलप्लावन बाबिल की ऐतिहासिक घटना है।

इस प्रकार वैदिक और उत्तर वैदिक काल में आर्यावर्त्त के पच्छिमी देशों के साथ सम्पर्क के और उन देशों के साथ कृष्टि के आदान-प्रदान के यथेष्ट प्रमाण हैं।

§९. मुअन जो दड़ो और वैदिक कृष्टि

हमारे अपने देश में सिन्ध के लारकानो ज़िले के मुअन जो दड़ो*

---

* बस्ती के खँडहरों के दब जाने से बनी ढेरी को प्रयाग की बोली में भीटा कहते हैं। उसी को भोजपुरी में भीट या डीह, पच्छिमी पंजाब में भिड़ या ढेरी, पूर्वी पंजाब में थेह और सिन्धी में दड़ो कहते हैं। मुअन जो दड़ो उस भीटे का ठीक स्थानीय नाम है और उसका अर्थ है मुओं का भीटा। अंग्रेज़ी का अन्धानुसरण करने वालों ने उसे "मोहेंजो दारो" बना रक्खा है।

नामक स्थान, रावी के निचले काँठे के हड़पा नामक कस्बे, कलात पठार के नाल नामक गाँव तथा अन्य कुछ स्थानों की खुदाई से लग० ३००० ई० पू० की पुरानी कृष्टि के अवशेष मिले हैं।

मुअन जो दड़ो में एक नगरी के अवशेष हैं जिसकी इमारतें ईंट और पत्थर की थीं और जिसके मकान नालियाँ गलियाँ और बाज़ार बड़े सिलसिले से बने थे। वहाँ के लोग गेहूँ की खेती, कपास के कपड़े बनाना और लिखना भी जानते थे। उस नगरी के खँडहरों में बाट भी पाये गये हैं जो क्रमशः एक दूसरे से दूने तोल के हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वहाँ के लोग गणित भी अच्छा जानते और वाणिज्य-व्यापार करते थे। वहाँ जो रत्न मिले हैं उनसे वहाँ के लोगों का दूर दूर तक वाणिज्य सिद्ध होता है—वैदूर्य का एक भेद हकीक (अंग्रेज़ी—अगेट) जिसका निकटतम उद्भव भरुच के पास रतनपुर में या फारिस खाड़ी पर या यमन में था, अश्मसार या यशब (अं०—जेड) जो अफ़गानिस्तान ईरान मध्य-एशिया या बरमा में होता है, राजवर्त या लाजवर्द (अं०—लापिस लाज़ली) जो बदख्शाँ में होता है, ज्योतिरस (अं—जस्पर) जो दक्खिनभारत में होता है, और जहरमोहरा (अं०—सर्पेंटाइन) जो मैसूर के सिवा कहीं नहीं होता। वहाँ से जो हथियार निकले हैं वे सब तांबे और पत्थर के हैं; लोहे का पता वहाँ के लोगों को न था। अन्य कई जानवरों से परिचित होते हुए भी वे घोड़े को न जानते थे। कला की रुचि भी उनमें थी। लिंगपूजा और योगाभ्यास उनके धर्म-कर्म में सम्मिलित थे।

इस कृष्टि का वैदिक कृष्टि से क्या कोई सम्बन्ध था?

सिंध काँठे की इस कृष्टि की सुमेरी कृष्टि से अनेक बातों में समानता है और यह अनुमान किया गया है कि ३००० ई० पू० में सुमेरी कृष्टि पच्छिमी एशिया से भारत के पच्छिमी छोर तक फैली हुई थी। कपास का ज्ञान, लिंगपूजा और घोड़े का ज्ञान न होना इस कृष्टि का वैदिक आर्य कृष्टि से भेद दिखाते हैं। घुड़सवारी तो मूल आर्य कृष्टि का विशिष्ट लक्षण था। वैदिक भाषा में पीपल को अश्वत्थ कहते थे, सो प्रकटतः इसीलिए

कि आर्यों के ग्राम या जत्थे यात्रा करते हुए रास्ते में प्रायः पीपल के पेड़ों के नीचे पड़ाव डालते और उन पेड़ों से उनके घोड़े बाँधे जाते।

दूसरी तरफ मुअन जो दड़ो की लिपि समात्रिक ब्राह्मी सी लगती है। शेकोस्लोवाकिया के विद्वान् हॉन्त्सी ने, जिन्होंने हत्ती लोगों का आर्य होना पहलेपहल सिद्ध किया था, मुअन जो दड़ो की मुहरों के लेख पढ़ने और उनमें पौराणिक अनुश्रुति के अनेक नामों को चीन्हने का यत्न किया है। एक बंगाली विद्वान् ने हड़पा की ऋग्वेद ६.२७.५ में उल्लिखित हरियूपीया से अभिन्नता होने का सुझाव दिया है।

हॉन्त्सी द्वारा किया हुआ उक्त लिपि का पाठोद्धार असन्दिग्ध और सर्वसम्मत नहीं हुआ। सच बात यह है कि जब तक वे लेख ठीक ठीक पढ़ न लिये जायँ और उनका अर्थ निर्विवाद रूप से निश्चित न हो जाय, तब तक इस बारे में कोई पक्की बात नहीं कही जा सकती कि सिन्ध काँठे की वह प्राचीन कृष्टि किन लोगों की थी।

§१०. उत्तर वैदिक आर्यावर्त्त—जनपदों का उदय

वैदिक काल में आर्यावर्त्त का विस्तार पक्थ और गन्धार से पूरब तरफ अंग और कलिंग तक तथा दक्खिन तरफ विदर्भ तक था। उत्तर वैदिक काल में विदर्भ के दक्खिन अश्मक राष्ट्र का नाम पहलेपहल सुनाई देता है, जो मध्य गोदावरी काँठे में था। अश्मक और कलिंग के बीच और उसके दक्खिन अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूचिक जातियों से आर्यों का सम्पर्क था। अन्ध्र आजकल के आन्ध्र देश से काफी उत्तर तक रहते थे—महानदी में दक्खिन से मिलने वाली तेल नदी पर उनकी राजधानी थी। मूचिक या मूषिक कृष्णा में मिलने वाली हैदराबाद की मूसी नदी पर थे।

गन्धार के उत्तर तरफ कम्बोज देश (बदख्शाँ-पामीर) का नाम भी पहलेपहल उत्तर वैदिक काल में सुनाई देता है।

इसी काल में आर्यों की राज्यसंस्था में भीतर भीतर बड़ा परिवर्तन

हो जाता है। **जनों** के बसने के स्थान **जनपद** कहलाते और राज्य अब **जन** के बजाय धीरे धीरे **जनपद** का माना जाने लगता है। जनपदों के नाम जनों के नामों से ही पड़े थे, जैसे कुरु, पञ्चाल, चेदि, वत्स, अंग, शूरसेन, अवन्ति, यौधेय, मद्र, शिवि, मालव, केकय, गन्धार आदि। किन्तु नाम वही रहते हुए भी भीतर से उनकी राज्यसंस्था में चुपके चुपके परिवर्तन हो गया। **जानराज्य** के बजाय अब वे **जानपद राज्य** बन गये। यद्यपि अब भी उन उन नामों के जनपदों में उन्हीं उन्हीं मूल जनों के वंशज मुख्यतः बसे हुए थे, तो भी लोगों ने अब सजातता की परवा करना छोड़ दिया। बाहर के लोग उन राष्ट्रों में पहले बहुत कम आ कर बसते और जो बसते वे कल्पित सजातता स्वीकार किये बिना राष्ट्र की प्रजा (विशः) न बन पाते थे। अब वैसी बात नहीं रही। जो कोई भी व्यक्ति उन राष्ट्रों में से किसी में बस जाय और उसमें **भक्ति** रक्खे वह सजात हो या न हो, अब उसकी प्रजा बन सकता था। जनपद में **भक्ति** का विचार उत्तर वैदिक काल के अन्त में पहलेपहल सुनाई देता है। धार्मिक अर्थ में उसी भक्ति शब्द का प्रयोग और पीछे होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ (८. १४) से यह पता मिलता है कि भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की राज्यसंस्थाएँ स्थापित हो गई थीं। उस सन्दर्भ का सार यह है कि पूरब के अर्थात् मगध आदि जनपदों के राजा अपने को सम्राट् कहते, वहाँ साम्राज्य बनने की प्रवृत्ति थी। मध्यदेश के राजा राजा कहलाते, वहाँ साधारण राज्य थे। पंजाब से सुराष्ट्र और विदर्भ तक अधिकतर संघराज्य थे। यह बड़े महत्त्व की सूचना है। हम देखेंगे कि लग० ८०० ई० पू० से यह जो प्रवृत्ति प्रकट हुई, सो प्राचीन काल के अन्त—लग० ५४० ई०—तक अर्थात् लगातार डेढ़ हज़ार बरस तक बनी रही।

§११. उत्तर वैदिक दार्शनिक और सामाजिक चिन्तन

उपनिषदों में आर्यावर्त्त का दार्शनिक चिन्तन पहलेपहल प्रकट होता

है। मनुष्य क्या है, कहाँ से आया, मर कर कहाँ जायगा, इस सब सृष्टि का अर्थ क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासाएँ उस युग में आर्यावर्त्त के मेधावियों को आतुर किये हुए थीं। कर्मकाण्डियों के परम्परा-प्राप्त उत्तरों से उन्हें सन्तोष न होता था। वास्तव में यह नया चिन्तन यज्ञों के कर्म-काण्ड में हुए अविश्वास से ही पैदा हुआ था। **प्लवा एते अदृढा यज्ञ-रूपाः**—ये यज्ञ कच्चे बेड़े हैं (मुण्डक उप० १.२.७) यह साक्षात्कार उस चिन्तन की जड़ में था।

सृष्टि के अन्दर कोई चेतन शक्ति है जो उसे चलाती है यह उपनिषदों का मुख्य विचार है। उस शक्ति को वे प्रायः **ब्रह्म** कहती हैं। यज्ञों की पूजाविधि के बजाय वे नये आचरण-मार्ग का उपदेश देती हैं। दुश्चरित से विराम, इन्द्रियों का वशीकरण, मनस्कता अर्थात् मन के संकल्प की दृढ़ता, शुचिता, वाणी और मन का नियमन, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, शान्ति, सत्य, सम्यक् ज्ञान और विज्ञान इन सब उपायों से तथा समाहित होने अर्थात् आत्मा या ब्रह्म में ध्यान लगाने, उसमें लीन होने और उसकी उपासना अर्थात् भक्तिपूर्वक ध्यान से मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है (कठ उप० २. २३; ३. ६-७, १३; प्रश्न उप० १. १५; मुण्डक उप० १. २. ११; ३. १. ५)। मनुष्य का अन्तरतम जो **आत्मा**—अर्थात् अपना आप—है, वह सब से प्रिय है, उस अपने आप को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए; उसके दर्शन श्रवण मनन और विज्ञान से यह सब (संसार) जाना जाता है। उस आत्मा को चाहने वाले विद्वान् लोग पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा (सन्तान धन और यश की लालसा) से ऊपर उठ कर भिखारी बन जाते हैं (बृहदारण्यक उप० १. ४. ८; २. ४. ५; ४. ४. २२)। एक तरफ जहाँ यह उपदेश है कि "यह आत्मा बलहीन को नहीं मिलता और न प्रमाद से या तप के अभाव से", वहाँ दूसरी तरफ यह भी कहा है कि "यह आत्मा न प्रवचन से मिलता है, न मेधा से, न बहुत पढ़ने से; जिसे यह वर लेता है वही इसे पा सकता है; उसके सामने

यह आत्मा अपने रूप को खोल देता है" (मुण्ड० ३. २. ३–४; कठ० २. २२) । इनमें से पिछले कथन में स्पष्टतः भक्ति का उपदेश है ।

यह प्रचलित विचार है कि उपनिषदें अद्वैतवाद का—अर्थात् इस जगत् में एक ही ब्रह्म है और यह जगत् उसी की अभिव्यक्ति है इस विचार का—उपदेश देती हैं । पर जैसा कि श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने लिखा था, "ध्यान से देखने से प्रकट होगा कि वे परमात्मा पुरुष सृष्टि और उनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में एक नहीं अनेक सरणियों के विचारों का प्रतिपादन करती हैं ।... उपनिषत्-कालिक विचार बहुत स्वतन्त्र थे । आत्मा का लगभग निषेध करने वाले मत भी उनमें हैं ।... संसार को माया और एकमात्र आत्मा की सत्ता मानना उपनिषदों का सार है यह मत स्पष्टतः भ्रान्त और ... अनालोचक दृष्टि का सूचक है ।"*

स्थूल सृष्टि और अनेक प्रकृति-शक्तियों के परे और अन्दर एक महान् चेतन शक्ति—आत्मा या ब्रह्म—है, यह सब उपनिषदों की विशेष अनुभूति, प्रायः सर्वसम्मत सार है । किन्तु सम्प्रदायबद्ध एकमार्गीय विचार उनमें नहीं है; वहाँ तो तत्त्वचिन्तन की आरम्भिक अस्फुट उड़ानें हैं ।

इस दार्शनिक चिन्तन के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों का सामाजिक चिन्तन बड़े महत्त्व का है । यह समझा जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति जो पैदा होता है, चार ऋण ले कर पैदा होता है—वह देवों का, ऋषियों का, पितरों का और मनुष्यों का ऋणी पैदा होता है (शतपथ ब्रा० १. ७. २. १) । उन ऋणों के कारण उसके कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं । मनुष्य अपने पड़ोसी मनुष्यों का ऋणी है, आतिथ्य आदि का धर्म निबाहने से उस ऋण को चुकाता है । देवों का ऋण यज्ञ से चुकता था, ऋषियों का ज्ञान का ऋण अध्ययन से, पितरों का सन्तान-जनन से । ऋणों की यह कल्पना स्पष्टतः मनुष्य को सामूहिक प्राणी रूप

---

* रा० गो० भंडारकर (१९१३)—वैष्णविज्म शैविज़्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स् (वैष्णव शैव और गौण धर्म-सम्प्रदाय) पृ० १-२ ।

में देखती थी। और उसकी दृष्टि में मनुष्य न केवल अपने समकालिक समाज का प्रत्युत पूर्वजों का भी ऋणी था, और चूंकि पूर्वजों का ऋण वंशजों के तईं चुकाया जाता था, इस कारण उसके वंशजों के प्रति भी कर्त्तव्य थे। पूर्वजों विद्यमान पीढ़ी और वंशजों को मिला कर राष्ट्र की एक ही परम्परा ऋणों और कर्त्तव्यों की कड़ियों से जुड़ी हुई है, यह विचार भी इस कल्पना में स्पष्ट है।†

कुछ कुछ ऋणों के विचार पर आश्रम-व्यवस्था निर्भर थी। मनुष्य का जीवन चार आश्रमों या पड़ावों में बाँटा गया था। पहले दो आश्रम—विद्यार्थी और गृही—तो सर्वसाधारण के लिए थे; दूसरे दो—वानप्रस्थ और परिव्राजक या भिक्षु—विशेष ज्ञानवान् लोगों के लिए। यह आश्रमों का विचार उत्तर वैदिक काल तक स्पष्ट परिपक्व हो चुका था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शब्द पिछले वैदिक वाङ्मय से मिलने लगते हैं। इनमें से शूद्र वे दास थे जो आर्यों के समाज में निचले वर्ग के रूप में सम्मिलित हो गये थे। वे वस्तुतः आर्यों से भिन्न जाति और भिन्न वर्ण अर्थात् रंग के थे, और उनसे विवाह निषिद्ध था। वैश्य का अर्थ जन-साधारण था, और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जनसाधारण से कुछ विशिष्ट वर्ग रूप में दिखाई देते थे। उन वर्गों के पृथक् नाम होने का इससे अधिक कुछ अर्थ तब तक न था। वे जातें हरगिज़ न थीं, उनमें से एक वर्ग से दूसरे में जाना आना सरलता से हो सकता था, और उनमें विवाह या खान-पान के कोई प्रतिबन्ध न थे।

इस प्रकार का समाज विशेष कर मध्यदेश में था। पूरब और

---

† पिछले विश्व युद्ध में जापान जब कूदा, तब बर्लिन-स्थित जापानी राजदूत ने वहाँ भाषण देते हुए कहा कि आप जर्मन लोग अपनी भावी सन्तान की खातिर लड़ते हैं, हम जापानी अपने पितरों का ऋण चुकाने को जान देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भारतीय आदर्श को चरितार्थ करने में जापानी आज भारतीयों से कहीं आगे हैं।

उत्तरपच्छिम में अनेक व्रात्य जन-समुदाय थे जिनमें ब्राह्मणों का कोई विशिष्ट स्थान न था।*

§ १२. योग और सांख्य

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार दक्षिण पञ्चाल के जिस राजा ब्रह्मदत्त के मन्त्री सुबालक बाभ्रव्य पाञ्चाल ने शिक्षा-शास्त्र का प्रणयन किया था (ऊपर पृ० ५४—५६), उसी ब्रह्मदत्त ने अपने गुरु जैगीषव्य के उपदेश से योगशास्त्र की पहलेपहल रचना की। यों योगशास्त्र का आरम्भ महाभारत युद्ध से ८-९ पीढ़ी पहले हुआ।

महाभारत-युद्ध के बाद तीसरी पीढ़ी में उद्दालक आरुणि नामक विचारक हुआ, जिसका उल्लेख उपनिषदों में बार बार है। उसका बेटा श्वेतकेतु औद्दालकि भी ब्रह्मवादी था। उससे अगली पीढ़ी में शाकपूर्णि नामक वैयाकरण हुआ। फिर अगली पीढ़ी में आसुरि हुआ जिसका शिष्य पञ्चशिख था। या तो आसुरि के बड़े भाई का या पञ्चशिख का नाम कपिल था।

अनुश्रुति के अनुसार कपिल आदि-विद्वान् अर्थात् पहला दार्शनिक था। उसका दर्शन सांख्य कहलाया, क्योंकि वह जड-चेतन जगत् की सब सत्ताओं का संख्या-बद्ध और शृंखला-बद्ध विवेचन करता था, उसकी पद्धति में परिसंख्यान मुख्य बात थी।

यों भारत में दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ महाभारत-युद्ध के सौ सवा सौ वर्ष पीछे हुआ। उस मूल सांख्य और योग में मुख्य विचार क्या थे इसकी झलक हमें अगले युग में मिलेगी। उपनिषदों के विचारों पर भी उनकी स्पष्ट छाप है।

---

* व्रात्यों के विषय में देखिए याकोब विल्हेल्म् हाउअर (१९३४)—भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ १ पृ० १३—२२।

अध्याय ५

जैन बौद्ध मार्गों का उदय—महाजनपद युग

§ १. तीर्थंकर पार्श्व और वर्धमान महावीर

उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। पर उपनिषदें वैदिक सम्प्रदायों की ही उपज थीं। उन सम्प्रदायों के बाहर वैसी प्रतिक्रिया और भी ज़ोर से हुई। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वैदिक काल में ही मध्यदेश के पूरब और उत्तरपच्छिम अनेक ऐसे जन या राष्ट्र थे जो मध्यदेश के कुलीन ब्राह्मणों क्षत्रियों के आचार का अनुसरण न करते थे। वे व्रात्य कहलाते, उनकी शिक्षा-दीक्षा की भाषा प्राकृत थी, वेशभूषा उतनी परिष्कृत न थी; वे मध्यदेश के आर्यों वाले सब संस्कार न करते और ब्राह्मणों के बजाय अर्हतों (सन्तों) को मानते और चैत्यों अर्थात् समाधियों को पूजते थे।

जैनों की धारणा है कि जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर से पहले २३ और तीर्थंकर हुए थे। जैन धर्म के मूल तत्त्वों का महावीर के पहले जिन अर्हतों ने प्रचार किया, वही तीर्थंकर थे। बहुत से तीर्थंकरों के वृत्तान्त कल्पित कहानियों में उलझ गये हैं। पर ७५० ई० पू० के लगभग अर्थात् ठीक उपनिषत्-काल में पार्श्व नामक तीर्थंकर का होना निश्चित तथ्य प्रतीत होता है। पार्श्व का पिता वाराणसी का 'राजा' अश्वसेन था, और माँ का नाम वामा था। पार्श्व ने यह प्रचार किया कि अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह धर्म के मुख्य लक्षण हैं।

सातवीं शताब्दी ई० पू० में उत्तरी बिहार में वृजियों का संघ-राज्य था जिसके ७७०७ राजा माने जाते थे। उस शताब्दी के अन्तिम भाग

में वृजियों के ज्ञात्रिक कुल में एक राजा सिद्धार्थ हुआ। सिद्धार्थ और उसकी पत्नी त्रिशला दोनों पार्श्व के अनुयायी थे। इनके दो बेटों में से छोटा वर्धमान था, जिसने तीस बरस की आयु में घर छोड़ प्रव्रज्या ली और फिर १२ बरस के भ्रमण और तप के बाद **कैवल्य** (ज्ञान) प्राप्त किया। वर्धमान तब से **अर्हत्**, **जिन** (विजेता), **निर्ग्रन्थ** (बन्धनहीन) और **महावीर** कहलाने लगे और चौबीसवें तीर्थंकर माने गये। पार्श्व ने धर्म के चार लक्षण कहे थे; महावीर ने पाँचवें ब्रह्मचर्य पर भी बल दिया। महावीर का मार्ग अनीश्वरवादी और आचार-मूलक है। उसके अनुसार मनुष्य को तप द्वारा जीवन सुधारना चाहिए।

§२. गौतम बुद्ध

वर्धमान महावीर के समकालिक गौतम बुद्ध थे, जिनके ५८६ ई० पू० में बोध प्राप्त कर सारनाथ में पहला उपदेश देने से मानव इतिहास में महान् नई ज्योति उदित हुई। बुद्ध की जीवनी सुविदित है। महावीर के समान वे भी संघ-राज्य की प्रजा थे। कोशल के उत्तर आदि-विद्वान् कपिल की स्मारक शाक्य संघ की राजधानी कपिलवास्तु में जन्म ले कर, गृहस्थ जीवन के अनुभव के बाद २८ बरस की आयु में घरबार छोड़ वे सत्य और कल्याण की खोज को निकले, और निरर्थक कर्मकाण्ड, दार्शनिक वादों और कृच्छ्र तप में उसे कहीं न पा कर, छः बरस भटकने के बाद उन्होंने यह बूझा कि मनुष्य को "दो **अन्तों** (किनारों सीमाओं) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दो अन्त कौन से हैं? एक तो यह काम और विषय-सुख में फँसना जो अत्यन्त हीन ग्राम्य अनार्य और अनर्थकर है, और दूसरा शरीर को व्यर्थ में अति कष्ट देना जो अनार्य और अनर्थक है। इन दोनों अन्तों को त्याग कर तथागत (ठीक रास्ते पर चले बुद्ध) ने **मध्यमा प्रतिपदा** (मध्यम मार्ग) को ग्रहण किया है जो आँख खोलने वाली और ज्ञान देने व ली

है" (महावग्ग १. १) ।

गौतम बुद्ध की वह मध्यमा प्रतिपदा कोई नया वाद नहीं थी। बुद्ध के शब्दों में वह **पोराणक पण्डिता** (पुराने पण्डितों) का ही मार्ग था जिसे आडम्बर और ढोंग ने छिपा लिया था। बुद्ध ने देखा कि मनुष्य का कल्याण न बनावटी कर्मकाण्ड में है, न कोरे वादों में और न शरीर को सुखाने में। उस युग के ब्राह्मण कर्मकाण्ड में उलझे थे, और बहुत से नये पन्थ (**तित्थिया**) चल पड़े थे जो प्रायः विवादों में उलझे रहते थे (सुत्तनिपात ३८१, ३८३)। बुद्ध ने कहा इन तीनों उलझनों से बच कर जीवन को सरल और सच्चा बनाना ही ठीक रास्ता है। उस सरल कर्त्तव्य-मार्ग को बुद्ध ने **आर्य अष्टांगिक मार्ग** कहा, जिसके आठ अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ठीक देखना-समझना, ठीक इरादा करना, उसके बाद ठीक बोलना और ठीक करना, ठीक प्रकार से अपनी जीविका चलाना, उसके लिए ठीक उद्यम करना, और इस सब के फल-स्वरूप ठीक विचार और ठीक ध्यान करना। इस प्रकार के सम्यक् जीवन वाला व्यक्ति निर्धन हो चाहे अपढ़, वह बड़े बड़े यज्ञ और शास्त्रार्थ करने वालों से अधिक धर्मात्मा है। बुद्ध का यह धर्म सब मार्गों से **निपुण और सुख** (समझदारी का और सरल) है (सु० नि० ३८१, ३८३)। संयत आचरण ही उसका सार है (धम्मपद २४-२५)।

बुद्ध के मध्यम मार्ग को वीणा का उदाहरण एकदम स्पष्ट कर देता है। वह उदाहरण शायद स्वयं बुद्ध या उनके किसी शिष्य ने दिया हो और पीछे यह कहानी बन गई हो कि गौतम ने नाचने वालियों के गीत में उसे सुना था। कहानी यह है कि गौतम जब गया के जंगल में तप करता अपना शरीर सुखा रहा था तब कुछ स्त्रियाँ नाचती गातीं वहाँ से गुजरीं, और वे यह गा रही थीं कि अपनी वीणा के तार को ढीला न छोड़ो, नहीं तो वह बजेगा नहीं, और उसे इतना कसो भी नहीं कि वह

टूट ही जाय। कहते हैं यह गीत गौतम के कान में पड़ा तो उसे सूझा कि वह अपने शरीर के तार को बहुत कसे जा रहा है, और इसी से उसके मन में वह चिन्तन जगा जिससे अन्त में उसे बोधि (बूझ) हुई।

पर बुद्ध की प्रेरणा केवल अपने जीवन को सम्यक् बना कर बैठ जाने की नहीं थी। ऊँचा लक्ष्य सामने रक्खे बिना मनुष्य सम्यक् मार्ग पर चलता नहीं रह सकता, उसके दाहिने बाँएँ आगे पीछे इतने प्रलोभन हैं कि उनमें फँस कर फिसल जाता है। इसलिए बुद्ध का उपदेश था **साततिक** (सदा जागरूक और प्रयत्नशील) होने का, **उत्थान** (उद्यम) **स्मृति** (विचार) और **अप्रमाद** से कर्त्तव्य करते जाने का (ध० प० २१–२५, सु० नि० ३३१–३३४)। अपने शिष्यों को पहला उपदेश दे कर बुद्ध ने कहा—"भिक्खुओ, अब तुम चलो, घूमो, बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, देवों और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो।... उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याण है, मध्य में कल्याण है, पर्यवसान में कल्याण है" (संयुत्तनिकाय ४. १. ४; म० व० १. २)। यह ध्यान देने की बात है कि बुद्ध बहुत जनों का सुख कहते हैं, सब का नहीं, क्योंकि अधिकतर लोग जहाँ भले हैं वहाँ कुछ न कुछ ऐसे रहेंगे ही जो दूसरों को दुःख पहुँचा कर सुख मानेंगे और जिनका दमन आवश्यक होगा। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को न केवल मनुष्यों प्रत्युत देवों का भी कल्याण करने को कहा। देवता उनकी दृष्टि में वे भाग्यशाली सत्ताएँ थीं जो अपने पहले सुकृतों के बल पर ऊँचा पद पाये हुए थीं। सम्यक् मार्ग पर चलने वाला मनुष्य उन देवों से भी ऊपर उठ कर उन्हें उपदेश दे सकता था।

बुद्ध के जीवन का अन्त निकट देख जब उनके शिष्यों ने उनसे विशेष शिक्षा चाही, तब उन्होंने कहा—"मैंने धर्म का साफ साफ उपदेश कर दिया। तथागत के धर्म में कोई अचरज की मूठ (चमत्कार या रहस्य) नहीं है।... अब तुम अपनी ही ज्योति में चलो, अपनी ही शरण जाओ, किसी दूसरे की शरण मत ढूँढो, धर्म की ज्योति में धर्म की शरण

चलो।" और अन्त में अपनी आँखें मूँदते हुए बुद्ध ने कहा—"भिक्खुओ अब मैं तुम्हें अन्तिम बार बुलाता हूँ, सब सत्ताओं की आयु है, अप्रमाद से काम करते जाओ, यही तथागत की अन्तिम वाणी है" (दीघ निकाय १६—महापरिनिब्बाण सुत्त)।

बुद्ध ने लोगों को सीधी दृष्टि और सरल बुद्धि से प्रत्येक प्रश्न को देखना सोचना सिखा दिया। उनके उद्बोधन में ऐसा बल था जिसने शताब्दियों की जडता को उखाड़ फेंका और शताब्दियों के लिए भारत-सन्तान में ऊँचे आदर्शों की ओर बढ़ने का उत्साह भर दिया।

§ ३. महाजनपद युग का आर्यावर्त्त

बौद्ध-जैन उत्थान ने जिस वाङ्मय को जन्म दिया उसकी चर्चा आगे होगी। उस वाङ्मय में उस युग के भारत का जो चित्र है उसकी एक झाँकी यहाँ दी जाती है।

बुद्ध के प्रायः शताब्दी पहले से भारत में सोलह महाजनपद गिने जाते थे। उन १६ में ये आठ जोड़ियाँ थीं—(१) अंग-मगध (२) काशी-कोशल (३) वृजि-मल्ल (४) चेदि-वत्स (५) कुरु-पञ्चाल (६) मत्स्य-शूरसेन (७) अश्मक-अवन्ति (८) गन्धार-कम्बोज। अंग की राजधानी चम्पा (=भागलपुर) थी, मगध की राजगृह। मगध और कोशल के बीच का प्रदेश काशी कहलाता था उसकी राजधानी वाराणसी थी। वृजि= उत्तरी विहार, राजधानी वैशाली; मल्ल उसके पच्छिम गोरखपुर-देवरिया प्रदेश। वत्स=प्रयाग प्रदेश, राजधानी कौशाम्बी; चेदि=बुन्देलखंड। पञ्चाल=कन्नोज-रुहेलखंड प्रदेश, कुरु=हस्तिनापुर-कुरुक्षेत्र प्रदेश। शूरसेन=व्रजभूमि; मत्स्य=मेवात (अलवर प्रदेश)। अवन्ति= मालवा, राजधानी उज्जयिनी; अश्मक=मध्य गोदावरी काँठा। गन्धार तक्षशिला-पुष्करावती प्रदेश, कम्बोज=पामीर-बदख्शाँ। इनमें से वृजि और मल्ल दोनों संघराज्य थे, बाकी एकराज्य।

गन्धार और कुरु के बीच सिन्धु, शिवि, सौवीर, मद्र आदि अनेक

छोटे जनपद थे। सिन्धु = सिन्ध नदी का बिचला काँठा = सिन्धसागर दोआब और डेरा-इस्माइलखाँ डेरा-गाजीखाँ प्रदेश। शिवि = शोरकोट प्रदेश। सौवीर = सिन्ध प्रान्त, राजधानी रोरुक (रोरी)। मद्र = रावी चनाब दोआब; राजधानी शाकल (स्यालकोट)।

अंग देश के पूरब राढ (पच्छिमी बंगाल) और वंग (पूरबी बंगाल) जनपदों के राज्य भी यदि उत्तर वैदिक काल में ही नहीं, तो इस युग में अवश्य स्थापित हो चुके थे, क्योंकि बुद्ध के निर्वाण-काल में वहीं से सिंहल उपनिवेश के बसाने वाले गये। अश्मक के पूरब कलिंग जनपद था। अश्मक के दक्खिन अन्ध्रराष्ट्र के अतिरिक्त अब दामिलरट्ठ (तमिळ या द्राविड राष्ट्र), नागद्वीप और कारद्वीप थे। नागद्वीप उत्तरपच्छिमी सिंहल का नाम था। आर्य तापसों और व्यापारियों के इन राष्ट्रों में आने जाने के अनेक वृत्तान्त इस युग के वाङ्मय में हैं। अन्त में बुद्ध के ही ज़माने में उत्तर भारत के उपनिवेशक पांड्य और सिंहल उपनिवेश स्थापित करते हैं। पांड्य देश भारत के दक्खिनी छोर का नाम था; उसकी राजधानी का नाम शूरसेन की राजधानी मधुरा (मथुरा) के नाम पर रक्खा गया था। वही आजकल की मदुरा है।

यों इक्ष्वाकु और ययाति के युग में भारत में आर्यों का जो फैलना आरम्भ हुआ था, वह बुद्ध युग में आ कर भारत के अन्तिम कोनों तक पहुँच पूरा हुआ। महाजनपद युग के वाङ्मय से आर्यों के फैलाव की ठीक वही प्रक्रिया प्रकट होती है जो पौराणिक अनुश्रुति में थी। यह भी उस अनुश्रुति की सचाई का प्रमाण है।

भारत के दक्खिनी और पूरबी छोर तक पहुँचने के बाद इस युग में भारतीय नाविक और व्यापारी और पूरब के देशों और द्वीपों को जाने तथा वहाँ बसने भी लगे थे यह भी इस वाङ्मय से प्रकट होता है। इन पूरबी देशों और द्वीपों को, अर्थात् उस विशाल प्रायद्वीप को जिसमें बरमा मलाया आदि देश हैं, वे सुवर्णभूमि कहते थे। चम्पा, वाराणसी आदि से सीधे भी सुवर्णभूमि के लिए नावें रवाना होती थीं। नर्मदा के मुहाने

के भरुकच्छ (भरुच) पत्तन से भी सुवर्णभूमि के लिए नावें चलतीं, जो रास्ते में सिंहल में दारूदक (ईंधन-पानी) लेतीं। भरुकच्छ के व्यापारी पच्छिम तरफ़ बावेरू (बाबिल) और उसके आगे के देशों से भी व्यापार करने जाते। (बावेरु जातक ३३६, सुस्सोन्दि जा० ३६०, सुप्पारक जा० ४६३, समुद्वाणिज जा० ४६६, महाजनक जा० ५३६)।

§४. महाजनपद युग का आर्थिक संघटन और राज्यसंस्था

जानपद राज्यसंस्था में राज्य भूमि पर निर्भर हो गया था, तो भी भूमि राज्य की नहीं, कृषकों की सम्पत्ति थी। राजा खेतों की उपज पर वार्षिक **भाग** या **बलि** ले सकता, जंगल और परती भूमि का निपटारा कर सकता और अस्वामिक सम्पत्ति पर अधिकार कर सकता था। इस **राजभोग** का वह निजी कार्यों के लिए भी उपयोग कर सकता। राजकीय भाग को **ग्रामभोजक** (गाँव के मुखिया) या राजकीय **महामात्य** वसूलते। भूमि वैयक्तिक सम्पत्ति थी। उसका दाय-विभाग दान और विक्रय हो सकता था। पर गाँव का कोई व्यक्ति गाँव के बाहर के किसी व्यक्ति को ज़मीन दे या बेच सकता था कि नहीं, सो स्पष्ट नहीं है।

गाँवों के चौगिर्द अन्न खेतों के साथ साथ **आराम** और **उद्यान** (बाग-बगीचे) भी भरपूर थे। फलों और कपास की कृषि सुविदित थी। कपास का पहला उल्लेख उत्तर वैदिक वाङ्मय (आश्वलायन श्रौत सूत्र ६. ४. १७) में है।

जमींदारियाँ नहीं थीं; कृषक ही भूस्वामी थे; ग्राम उन्हीं के समूह थे। प्रत्येक ग्राम में अनेक **कुल** अर्थात् संयुक्त परिवार रहते। ३० से १००० कुलों तक के ग्रामों का उल्लेख है। कृषि ऊँचा पेशा गिना जाता था। **भृतकों** अर्थात् भाड़े के श्रमियों से भी खेती कराई जाती थी। एक व्यक्ति की ज़मीन पर ५-५ सौ तक हलवाहों के मज़दूरी करने का उल्लेख है। उन भृतकों का जीवन काफ़ी कठिनाई का था। उन्हें रहने की जगह और अनाज अथवा मुद्रा के रूप में भृति मिलती। कृषि में श्रमविभाग भी

हो चला था; उदाहरण के लिए बहुत लोगों का पेशा हल वाहने का ही था। दास-दासी धनी आर्य गृहपतियों के घरों में रहते, परन्तु उनकी संख्या कम थी और उनसे खेती नहीं कराई जाती थी।

ग्राम के लोग सामूहिक रूप से सिंचाई और अन्य सामूहिक कार्यों का प्रबन्ध करते। ग्रामभोजक राज-सभा मे ग्राम का प्रतिनिधि तथा ग्राम के सामूहिक जीवन का नेता होता, पर वह मनमानी नहीं कर सकता था। ग्राम के सभी लोग मिल कर सामूहिक कार्यों पर विचार और निर्णय करते। ग्रामसभाएँ सभाभवन और पान्थशालाएँ बनवातीं, बगीचे लगवातीं, सड़कों की मरम्मत करवातीं, तालाब खुदवातीं और उनके बाँध बँधवातीं। उनके निश्चय के अनुसार ग्राम के युवक बारी बारी मुफ्त मजदूरी करते। ग्रामों की उन सभाओं और उनके कार्यों में स्त्रियाँ भी खुल कर भाग लेतीं।

शिल्पों व्यवसायों की यथेष्ट उन्नति और श्रमविभाग हो गया था। जैसे **वर्धकि** (बढ़ई) पेशे की शाखाओं रूप में **तक्षक** (रन्दा फेरने वाले) और **भ्रमकार** (खराद करने वाले) के पेशे निकल चुके थे। शिल्पों का स्थानीय केन्द्रीभाव भी हो चला था, जैसे अनेक गाँव केवल बढ़इयों के, लोहारों के या शिकारियों के थे। एक कम्मारगाम में १००० लोहार परिवार और एक महावड्ढकिगाम में हज़ार बढ़ई परिवार रहने का उल्लेख है। बड़ी नगरियों के गली-मुहल्लों में विशेष शिल्प केन्द्रित हो गये थे, जैसे वाराणसी की दन्तकारवीथी (हाथीदाँत के कारीगरों की गली) या रजकवीथी (रंगरेज़ों की गली) आदि।

प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे लोगों का अपना संघटन था जिसे **श्रेणि** कहते। श्रेणि शब्द पहलेपहल उत्तर वैदिक वाङ्मय में मिलता और फिर प्राचीन काल के अन्त तक बराबर इसी—अर्थात् शिल्पियों के संघटित समूह के—अर्थ में बर्त्ता जाता है। महाजनपद युग के वाङ्मय में "वड्ढकि कम्मार चम्मकार चित्रकार आदि अठारह श्रेणियाँ" प्रचलित मुहावरा ही था। एक एक श्रेणि में हज़ार तक शिल्पी होते। प्रत्येक

श्रेणि का एक **प्रमुख** या **ज्येष्ठक** चुना जाता। प्रत्येक शिल्प का संचालन और नियन्त्रण श्रेणि के हाथ में रहता। कच्चे माल की खरीद, तैयार की बिक्री, उपज और श्रमकाल का निर्धारण, मिलावट को रोकना, शिल्प सीखने वाले **अन्तेवासिकों** की शिक्षा के नियम, अन्तेवासिकों और भृतकों की भृति नियत करना आदि सब श्रेणि के हाथ में रहता। ये श्रेणियाँ जातें न थीं। श्रमविभाग के बढ़ने और व्यवसायों के स्थान-विशेषों में केन्द्रित होने से यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी कि बेटा बाप के धन्दे में जाय, तो भी सदा वैसा न होता। श्रेणि के लोगों के अपने बेटों के अतिरिक्त दूसरे नवयुवकों के अन्तेवासिक बनने के बहुत दृष्टन्त इस युग के वाङ्मय में हैं।

शिल्पों के विकास के साथ साथ वाणिज्य-व्यापार की भी खूब उन्नति हुई। व्यापारियों की चेष्टा एक बस्ती के भीतर कृषि या शिल्पों की उपज को जनता तक पहुँचाने के लिए उतनी नहीं होती थी जितनी एक से दूसरे प्रदेश तक माल ले जाने के लिए। वे **सार्थों** में चलते और दूर दूर की यात्राएँ करते। सार्थ का मुखिया **सार्थवाह** कहलाता। समुद्रगामी जहाजों में ५-५ सौ ७-७ सौ व्यापारियों के इकट्ठे जाने का उल्लेख है। रास्ते में जानवरों डाकुओं आदि से बचाव तथा जहाज, **स्थल-निय्यामकों**, **जल-निय्यामकों** (स्थल और जल के पथदर्शकों) और **अटवी-आरक्खकों** आदि के अलग अलग खर्चे से बचने की दृष्टि से उनके लिए मिल कर धन्धा करना ही हितकर होता। उनकी पूँजी भी अनेक बार सम्मिलित होती, और व्यापार और लाभ भी साझा; किन्तु किस अंश तक सो कहना कठिन है।

उस काल में यातायात का खर्चा अधिक होने से कीमती वस्तुओं का ही व्यापार होता था। नदियों द्वारा वाणिज्य खूब चलता। कौशाम्बी के नीचे जमना-गंगा में लगातार नावें चलतीं। वाराणसी, चम्पा आदि से चलने वाली नावें आगे समुद्र में सुवर्णभूमि तक भी चली जातीं। सामुद्रिक नावें भी लकड़ी की बनी होतीं; उनमें **योक्त्र** (रस्से), **कूपक**

(मस्तूल) और **लकार** (लंगर) लगे रहते (जातक—फ़ौसबोल संस्करण—२. पृ० ११२)।

स्थलमार्गों पर भी व्यापार भरपूर था। पर नदियों पर पुल नहीं थे; उथले पानी के बीच जो बाँध उठा दिये जाते वही सेतु कहलाते थे। मध्यदेश से गन्धार तक का रास्ता खूब चलता था, क्योंकि गन्धार की राजधानी तक्षशिला में मध्यदेश से धनी निर्धन सब प्रकार के लोग पढ़ने जाते थे। उस रास्ते पर अनेक निःशस्त्र लोगों के अकेले यात्रा करने का उल्लेख है।

क्रय-विक्रय खुले सौदे से होता, दामों पर कोई बन्धन न था। राज्य की ओर से नगरों में आने वाले माल पर केवल चुंगी ली जाती थी। व्यापार मुख्यतः धातु की मुद्राओं से होता। मुख्य सिक्का **कार्षापण** था, पर सोने के **निष्क** और **सुवर्ण** भी चलते थे।

शिल्प और व्यापार के बढ़ने से अनेक नगरियाँ खड़ी हो गई थीं। नगरियों में व्यापारियों के संघ बन गये थे जो **निगम** कहलाते। उनके मुखिया **श्रेष्ठी** कहलाते, जो प्रायः जीवन भर के लिए चुने जाते।

निगम और श्रेणियाँ यों अपने सदस्यों की आर्थिक चेष्टा का संचालन तो करती ही थीं, वे ग्रामों के साथ साथ राज्यसंस्था की सब से निचली इकाइयाँ भी थीं। वे अपने सदस्यों के लिए स्वयं नियम बनातीं, उन नियमों को चलातीं और न्यायालय का भी काम करतीं। ग्रामों की संस्था तो वैदिक काल से चली आती थी। वैदिक काल के ग्राम 'जन' की टुकड़ियाँ थे, अब वे भीतरी परिवर्त्तन द्वारा कृषकों के समूह बन गये। श्रेणि और निगम-संस्था भी ग्राम-संस्था के नमूने पर ही बनीं।

यों महाजनपद युग में भारत की प्रत्येक बस्ती की प्रजा अपने धन्दे के अनुसार विभिन्न समूहों में बँटी हुई थी। प्रत्येक छोटा समूह अपने भीतरी शासन में पूरी तरह स्वतन्त्र था। ये समूह—ग्राम श्रेणि और निगम—शासन की सबसे छोटी स्वतन्त्र इकाइयाँ थे।

प्रत्येक नगर में अनेक श्रेणियाँ होतीं। नगरों का विकास इसी युग

में हुआ था, इसलिए उनका प्रबन्ध और शासन इस युग की नई समस्या थी। इस युग में नगर-संस्था का नाम भी निगम ही था—अगले युग में जा कर उसका और नाम हो गया। जान पड़ता है कि निगम नाम से जो व्यापारियों के समूह थे उन्हीं के चौगिर्द पहलेपहल नगर-संस्थाओं का विकास हुआ, उन संस्थाओं में व्यापारियों की ही मुख्यता थी, इसलिए निगम शब्द नगर-संस्था के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। नगर का मुखिया भी श्रेष्ठी कहलाता, पर नगर-श्रेष्ठी का अन्य श्रेष्ठियों से स्पष्ट भेद किया जाता।

श्रेणियों में पारस्परिक विवाद भी हो जाते और उन्हें निपटाना राज्य का नया कार्य हो गया था। काशी राष्ट्र की वाराणसी नगरी शिल्प-वाणिज्य का सबसे बड़ा केन्द्र थी। इस बात का उल्लेख है कि पहले-पहल काशी राज्य में श्रेणियों के विवाद निपटाने के लिए **भाण्डागारिक** नामक पद स्थापित किया गया। काशी में तब गणराज्य था। जो व्यक्ति पहलेपहल भाण्डागारिक पद पर नियुक्त किया गया वह दर्जी **(तुन्नकार)** का बेटा था (जातक ४ पृ० ३८–४४)।

वैदिक काल की राजसंस्था में केन्द्रीय शासन में ग्रामणियों का जो पद था, वह इस युग में ग्रामणियों के साथ साथ **श्रेणिमुख्यों** और **निगम-श्रेष्ठियों** का भी था। प्रत्येक महत्त्व के कार्य में इस युग में राजा **नैगमजानपदाः** की सलाह लेता, जो बाद में **पौरजानपदाः** कहलाने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि **नैगमजानपदाः** वा **पौरजानपदाः** वैदिक काल की समिति का नया रूप था—वह केन्द्रीय शासन में राजा का हाथ बँटाने वाली संस्था थी।

इस युग के राज्य एकराज्य और संघराज्य दोनों नमूनों के थे। राजसभाओं की कार्यशैली कैसी थी इसकी झलक हमें बौद्ध संघ के नियमों से मिलती है, क्योंकि बौद्ध संघ संघराज्यों के नमूने पर ही संघटित किया गया था। उन सभाओं में निश्चित परिपाटी के अनुसार प्रस्ताव पेश **(ञत्ति = ज्ञप्ति)** करने, नियमित रीति से **छन्द** या मत लेने, विवादग्रस्त

विषयों को सालिसों के सिपुर्द करने (**उब्बाहिका = उद्वाहिका**) आदि की परिपाटियाँ चलती थीं। उन सभाओं के जुटने (**सन्निपतन**) के भवन **सन्थागार** (संस्थागार) कहलाते थे।

एकराज्यों और गणराज्यों के बीच समूचे भारत में सार्वभौम या चक्रवर्त्ती राज्य स्थापित करने की होड़ भी बराबर चलती थी और उसे अच्छी दृष्टि से देखा जाता था।

§५. बुद्ध का राजनीतिक आदर्श

गौतम बुद्ध के जीवन की दो-एक घटनाओं से हमें उस युग के राजनीतिक आचार तथा उस महापुरुष द्वारा जनता के सामने रक्खे गये आदर्शों की झलक मिलती है। बुद्ध और महावीर दोनों सुधारक संघ-राज्यों में पैदा हुए यह भी ध्यान देने योग्य बात है। वृजि-संघ में विदेह लोग और लिच्छवि लोग सम्मिलित थे। एक बार जब बुद्ध वृजियों की राजधानी वैशाली में पहुँचे तब उन्होंने लिच्छवियों को आते देख अपने शिष्यों से कहा—"भिक्खुओ, जिन भिक्खुओं ने तावतिंश देवताओं को नहीं देखा है, वे लिच्छवियों की इस परिषद् को ध्यान से देखें ··· और लिच्छवियों की इस परिषद् से तावतिंश देवताओं की परिषद् का अनुमान करें।" लिच्छवियों का अपनी परिषदों में बर्त्ताव कैसा शालीनता का होता था!

बुद्धदेव जब अन्तिम बार राजगृह के बाहर गृध्रकूट में पधारे, तब मगध का राजा अजातशत्रु वृजि-संघ पर चढ़ाई की तैयारी कर रहा था। अजातशत्रु ने मगध के महामात्य वर्षकार को बुला कर कहा—भगवान् के पास जा कर उनका कुशल-क्षेम पूछ कर उन्हें मेरी इच्छा का समाचार देना और देखना वे उसपर क्या कहते हैं, जो कहें मुझे लौट कर बताना। वर्षकार के यह चर्चा छेड़ने पर बुद्ध ने अपने उपस्थापक (निजी सहायक) आनन्द से पूछा—क्यों आनन्द, तुमने क्या सुना है, क्या वृजियों के जुटाव (**सन्निपात**) बार बार और भरपूर होते हैं (अर्थात् उनमें बहुत लोग आते हैं)? आनन्द ने कहा—श्रीमन्, मैंने ऐसा

सुना है कि वृजि बार बार इकट्ठे होते और उनके जुटाव भरपूर होते हैं। बुद्ध ने कहा—जब तक आनन्द, वृजियों के जुटाव बार बार और भरपूर होते हैं, तब तक आनन्द, उनकी बढ़ती की ही आशा करनी चाहिए, न कि परिहाणि की।

इसी प्रकार बुद्ध ने आनन्द से छः और प्रश्न पूछे। (२) क्या वृजि इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उद्यम करते, इकट्ठे वृजि-करणीयों (अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यों) को करते हैं? (३) क्या वृजि (सभा द्वारा) विधिवत् नियम बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नहीं करते, बने हुए नियम का उच्छेद नहीं करते, और नियम से चले हुए पुराने वृजिधर्म (राष्ट्रीय कानून और संस्थाओं) के अनुसार मिल कर बर्त्तते हैं? (४) क्या वृजि अपने वृद्धों बुजुर्गों का आदर-सत्कार करते, उन्हें मानते पूजते और उनकी सुनने योग्य बातें सुनते हैं? (५) क्या वृजि जो उनकी कुल-स्त्रियाँ और कुल-कुमारियाँ हैं उनपर ज़ोर-ज़बरदस्ती तो नहीं करते? (६) क्या वृजि उन वृजियों के जो अन्दरले और बाहरले वृजि-चैत्य (राष्ट्रीय मन्दिर, अर्हतों की समाधें) हैं उनका आदर-सत्कार करते और उनके पहले दिये हुए धार्मिक बलि को नहीं छीनते? (७) क्या वृजियों में अर्हतों की रक्षा करने का भाव भली प्रकार है? क्या बाहर के अर्हत् उनके राज्य में आ सकते और आये हुए सुगमता से विचर सकते हैं?

इन सातों प्रश्नों का उत्तर बुद्धदेव को वृजियों के पक्ष में मिला, और उन्होंने प्रत्येक उत्तर सुन कर कहा कि जब तक ऐसा है तब तक वृजियों की बढ़ती की ही आशा करनी चाहिए, परिहाणि की नहीं। बौद्ध वाङ्मय में ये **सत्त अपरिहाणि धम्म** (अवनति न होने के सात सिद्धान्त) कहलाते हैं, और इनमें उस युग का राष्ट्रीय आचार का आदर्श अंकित है।

§६. महाजनपद युग का समाज और आचार

हमने देखा है कि महाजनपद युग में बेटे के लिए अपने बाप के

पेशे में जाना आवश्यक न था और प्रत्येक व्यक्ति को धन्दा चुनने की स्वतन्त्रता थी। तो भी कुछ पेशे ऊँचे और कुछ नीचे गिने जाते थे। लिखने का पेशा, सराफ का काम, दन्त- (हाथीदाँत-) कार जुलाहे जौहरी सुनार लोहार कुम्हार माली केश-साधक वणिक् नाविक आदि के पेशे अच्छे गिने जाते थे। दूसरी तरफ मृगलुब्धक (शिकारी) मछुए कसाई चर्मकार सँपेरे नट गवैये नळकार (नड़ों की चटाई पिटारी आदि बनाने वाले) आदि के पेशे तुच्छ माने जाते थे। यह ऊँचनीच रहते हुए भी अवस्थाओं के अनुसार सब लोग सब धन्दे कर सकते थे। उस युग के वाङ्मय में हम ब्राह्मणों के बेटों को अपने हाथ से खेती करता, शिकारी बढ़ई जुलाहे अटवी-आरक्षक रथ हाँकने वाले सूत और सँपेरे तक का काम करता और उसमें कुछ भी बुरा न मानता पाते हैं। एक जुलाहा पीछे योद्धा हो जाता है, एक कृषक बेटे सहित नळकार का धन्दा करता है, एक कुलीन परिवार का निर्धन व्यक्ति मूसे बेचने के धन्दे से जीविका शुरू करता और धीरे धीरे पूँजी जोड़ते हुए हर तरह के पापड़ बेलने के बाद अन्त में एक जहाज का सारा माल खरीद लेता और एक श्रेष्ठी की लड़की से ब्याह करता है!

उक्त सब धन्दे वैश्य वर्ग के थे। किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय की क्या स्थिति थी? क्या उन्हें भी दो धन्दे कहा जाय अथवा वे जातें थीं जो आवश्यकता पड़ने पर इन 'वैश्य' धन्दों को कर लेती थीं? वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय भी दो श्रेणियाँ सी थीं, यद्यपि उनका नाम श्रेणि न पड़ा था तो भी उनकी सामूहिक एकता श्रेणियों की सी थी। ब्राह्मण **जाति** निश्चय से न बनी थी—ब्राह्मण श्रेणि में घुसने का द्वार जन्म न था। **गोत्तपटिसारियो** अर्थात् गोत्र या कुल की उच्चता का अभिमान क्षत्रियों में ब्राह्मणों से अधिक था। क्षत्रिय वे बड़े कृषक सरदार थे जो युद्ध में प्रायः नेता होते थे।

धन्दों की ऊँचनीच के साथ साथ कुल की ऊँचनीच का भाव भी समाज में अवश्य था। एक ओर कुलीन क्षत्रिय थे तो दूसरी ओर

चण्डाल आदि अनार्य जातियों के लोग और दास भी। दासत्व कई प्रकार से होता था—युद्ध में पकड़े जाने से, मृत्युदंड के बदले में, ऋण न चुका सकने पर, कानूनी दण्ड के रूप में अथवा गरीबी आदि से तंग आ कर स्वयं दास बन जाने से। इस प्रकार जहाँ कुछ कानूनी कारणों से भी दासत्व होने लगा था, वहाँ अधिकतर दास मूलतः अनार्य जातियों के थे। जब वे दास न होते तब भी प्रायः तुच्छ पेशे करते। गणिकाएँ **वण्णदासी** कहलातीं, जिससे यह प्रकट होता है कि वे आर्यों से मैले वर्ण अर्थात् रंग की होती थीं। दासों की संख्या अधिक न थी, उनसे खेती या धन्दों की मजदूरी न कराई जाती, उनका मुख्य कार्य घरेलू सेवा ही था। साधारणतः उनके साथ बर्त्ताव अच्छा होता। कई बार स्वामी दासों को मुक्त भी कर देते या दास अपना मूल्य दे कर मुक्त हो जाते।

किन्तु इसके बावजूद कि क्षत्रियों में विशेष कर और अन्य कुलीन लोगों में साधारणतः अपने जन्म का अभिमान था, और इसके बावजूद कि कुछ जातियाँ नीची गिनी जाती थीं, लोगों में आपस में खुला मिलना-जुलना खाना-पीना और बहुत अंश तक खुली व्याह-शादी भी चलती थी। अनार्य दासों और चण्डालों से आर्य लोग घृणा अवश्य करते और वह स्वाभाविक भी था। पर उस घृणा की सीमा इस दृष्टान्त से प्रकट होगी। दो लड़कियों को जिनमें से एक व्यापारी की बेटी थी, दूसरी पुरोहित की, एक बार नगरद्वार से निकलते ही दो चण्डालों के दर्शन होते हैं। इस अपशकुन के कारण वे लौट कर सुगन्ध जल से आँखें धोतीं और लोग उन चण्डालों को पीटते हैं। पर पीछे उसी व्यापारी की लड़की का उनमें से एक चण्डाल से विवाह हो जाता है!

सार यह कि कुल और गोत्र का अभिमान, पेशों की ऊँचनीच, सब थी, किन्तु तरल परिवर्त्तनशील रूप में, न कि काठ और पत्थर की जातों की शकल में।

उत्तर वैदिक काल में जो आश्रम-पद्धति चली थी उसका इस युग में

भी बहुत उल्लेख मिलता है। बचपन में लोग **आचार्यकुल** में रह कर **शिल्प ग्रहण** करते अर्थात् शिक्षा पाते थे। प्रायः १६ वर्ष की आयु होने पर जो लोग सकते वे तक्षशिला आदि के गुरुकुलों में जा कर आगे पढ़ते। तक्षशिला गुरुकुल इस युग में सारे भारत के उच्च-शिक्षार्थियों के लिए महान् आकर्षण था। वहाँ अनेक **दिशाप्रमुख** (जगत्प्रसिद्ध) आचार्य रहते और "तीन वेदों और अठारह विद्यास्थानों" की शिक्षा दी जाती। एक एक आचार्य के चरणों में ५-५ सौ तक विद्यार्थी बैठते, जिनमें राजाओं से ले कर हलजोतों तक के लड़के होते। उन जगत्प्रसिद्ध पंजाबी आचार्यों के पास शिक्षा पा कर लौटे हुए कोई विद्वान् यदि वाराणसी जैसे स्थानों में शिक्षा देने बैठ जाते तो उनके पास भी "क्षत्रिय कुमार और ब्राह्मण कुमार बड़ी संख्या में शिल्प उद्ग्रहण करने को जमा हो जाते थे" (कोसिय जातक १३०)।

आश्रम पद्धति को चले इस युग तक बहुत काल नहीं बीता था, तो भी **कुहक तापसों** अर्थात् ठग संन्यासियों की समस्या इसी युग में खड़ी हो चुकी थी (जातक ४ पृ० ३०४)।

इस युग के धर्म-कर्म की चर्चा ऊपर हो चुकी है। परन्तु वैदिक कर्म-काण्ड और उसके मुकाबले में खड़ा हुआ ज्ञानकाण्ड या तत्त्वचिन्तन का मार्ग दोनों बड़े लोगों की बातें थीं। साधारण जनता की दृष्टि में उनके जीवन का संचालन पुराने प्रकृति-देवता ही करते थे। उन देवों का मुखिया वही शक्र अर्थात् इन्द्र था। प्रत्येक जंगल पहाड़ नदी समुद्र आदि का अधिष्ठाता कोई न कोई देवता था। उदाहरण के लिए पूर्वी समुद्र पर, जिसे अब बंगाल की खाड़ी कहा जाता है, चारों लोकपालों ने देवकन्या मणिमेखला को नियुक्त किया था, जिसका काम यह देखना था कि कोई सदाचारी डूबने न पाय (जातक ६ पृ० ३५)। देवताओं के रूप उज्ज्वल और स्वभाव सौम्य थे। उन्हें चमत्कारी शक्तियाँ अवश्य थीं, पर जनता का उनके चमत्कारों का विश्वास ऐसा न था जो उसे मूढ असहाय और परमुखापेक्षी बना दे।

जनता का यह अटल विश्वास था कि मनुष्य को अपने अच्छे बुरे किये का फल अवश्य मिलता है, उसे कोई शक्ति टाल नहीं सकती, और कि यदि कभी सुकृत का फल मिलने में रुकावट पड़ रही हो तब भी मनुष्य की सत्यनिष्ठा देवताओं को उनकी गद्दी से हिला सकती और पुण्यात्मा मनुष्य को पुण्य का फल दिलाने को बाधित कर सकती है। स्तुति प्रार्थना भक्ति आदि की रिश्वत से देवताओं को रिझाने के विचार की गन्ध भी इस युग के वाङ्मय में नहीं है, किन्तु पुण्यात्मा पुरुष अपने सत्य और पुण्य की शपथ से देवताओं को कुछ भी करने को बाधित कर सकता है ऐसे विश्वास के बीसियों दृष्टान्त हैं। उस प्रकार की शपथ को **सच्चकिरिय** (सत्यक्रिया) कहते और उसका प्रभाव सदा अचूक होता। जंजीरों में जकड़ा हुआ निरपराध पुरुष शपथ कर कहता है कि यदि मैं निरपराध हूँ तो जंजीरें टूट जायँ—और वे टूट जाती हैं (जातक ६ पृ० ३०-३१)। एक भयानक समुद्र में, जहाँ पहुँच कर कभी किसी का जहाज लौटा न था, चार महीने से भटकते जहाज का निय्यामक अन्त में सत्यक्रिया करता है कि यदि मैंने कभी धर्मपथ न छोड़ा हो तो यह जहाज बच जाय, और वह बच जाता है (वहीं ४ पृ० १४२)।

यों देवताओं की चमत्कारी शक्तियों में अन्ध-विश्वास इस युग के भारतीयों को असहाय और निकम्मा बनाने के बजाय भले प्रयत्नों में और भी अधिक तत्पर बना देता और उनमें अटल आशा फूँक देता था। महाजनक की कहानी से यह बखूबी प्रकट होता है। महाजनक मिथिला का राजकुमार था जो व्यापारी बन कर चम्पा से ३५० और लोगों के साथ नाव में सुवर्णभूमि को रवाना हुआ था। बंगाल की खाड़ी में उनकी नाव टूट गई। उसके बिखरे पटड़ों के बीच मछलियों के खाये उसके साथियों के अंग लहू से लाल हुए पानी में छितरा गये। महाजनक ने पहले नाव के कूपक को थामे रक्खा, फिर अपनी बाँहों से तैरने लगा। सात दिन वह खारे पानी में हाथ-पैर मारता रहा। तब देवकन्या मणिमेखला जो इस बीच देवताओं की सभा में छुट्टी पर गई

हुई थी, अन्तरिक्ष में उसके सामने प्रकट हो बोली—"यह कौन है जो समुद्र के बीच जहाँ तीर का कुछ पता नहीं है, हाथ मार रहा है? क्या अर्थ जान कर किसका भरोसा करके तू यों **व्यायाम** (उद्यम) कर रहा है?" महाजनक ने उत्तर दिया—"मैं यह जानता हूँ देवी, कि लोक में जब तक बने मुझे व्यायाम करना चाहिए। इसी से समुद्र के बीच तीर को न देखता हुआ भी उद्यम कर रहा हूँ।" मणिमेखला फिर बोली—"इस गम्भीर अथाह में जिसका तीर दीख नहीं पड़ता, तेरा **पुरुषव्यायाम** (पुरुषार्थ) निरर्थक है, तू तट को पहुँचे बिना ही मर जायगा!" महाजनक ने कहा—"क्यों तू ऐसा कहती है? व्यायाम करता हुआ मरूँगा भी तो गर्हा से तो बचूँगा। जो **पुरुषकृत्य** करता है वह ज्ञातियों देवों और पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है, और उसे पछतावा नहीं होता।" मणिमेखला—"किन्तु जिस काम के पार नहीं लगा जा सकता, जिसका कोई फल दिखाई नहीं देता, वहाँ व्यायाम से क्या लाभ—जहाँ मृत्यु का आना निश्चित ही है!" महाजनक—"जो यह जान कर कि मैं पार न पाऊँगा उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि हो तो देवी उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है। मनुष्य अपने अभिप्राय के अनुसार इस लोक में अपने कार्यों का आयोजन और यत्न करते हैं, सफलता हो या न हो। कर्म का फल निश्चित है ··· सो मैं व्यायाम करूँगा ही, जब तक मुझमें शक्ति है जब तक मुझमें बल है समुद्र के पार जाने को पुरुषकार करता रहूँगा।" (महाजनक जातक ५३६)।

यों इस विचार का इस युग में स्पष्ट रूप से उदय हो चुका था कि कर्म का फल मिलता ही है और कि मनुष्य को यत्न करना ही चाहिए, फल की आशा हो या न हो।

अध्याय ६

उत्तर वैदिक काल का अन्त—नन्द मौर्य युग

§ १. पूर्व नन्द, नव नन्द और मौर्य युग

महाभारत-युद्ध-कालिक मगध का राजा जरासन्ध बार्हद्रथ वंश का था। लग० ७२५ ई० पू० में मगध की प्रजा ने उस वंश का अन्त कर काशी के शिशुनाक को बुला कर राजा बनाया। बुद्ध के समकालिक मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु शैशुनाक वंश के थे। मगध बुद्ध-काल में भारत के चार बड़े एकराज्यों में से एक था। बाकी तीन थे—कोशल, अवन्ति और गन्धार। बिम्बिसार ने अंग महाजनपद को जीता था, अजातशत्रु ने कोशल का पराभव किया और वृजि संघ को जीता। तब से मगध और अवन्ति ये दो बड़े एकराज्य भारत के मध्य देश में रह गये।

मगध के शैशुनाकों का समकालिक पारस का हखामनी वंश था जिसने समूचे ईरान, पच्छिमी एशिया और मिस्र में साम्राज्य स्थापित किया। अजातशत्रु के समकालिक उस वंश के सम्राट् कुरुष् अर्थात् कुरु† ने अफगानिस्तान के कपिश और पक्थ प्रदेश, जो भारत में गिने

---

† कुरुष् में जो अन्तिम ष् है वह प्रथमा एकवचन का प्रत्यय है। संस्कृत प्राचीन पारसी और यूनानी नामों के अन्त में इस तरह स् प्रत्यय लगा होता है, पर हिन्दी में प्रथमा एकवचन में नामों को बिना प्रत्यय के ही बर्त्तते हैं। कुरुष् को यूनानी में जैसा लिखते थे उसका रोमक लिपि में रूपान्तर होता है—Cyrus, जिसका आधुनिक अंग्रेज़ी उच्चारण होता है साइरस्। मूल उच्चारण कुरुष् ही है।

जाते थे, जीते। फिर ५०५ ई० पू० में सम्राट् दारयवहु ने गन्धार और सिन्धु प्रदेश जीते। भारत का यूनान से सम्पर्क पहले न रहा हो तो भी पारसी साम्राज्य द्वारा निश्चय से हो गया, और दोनों देशों में विचारों का आदान-प्रदान भी होने लगा।

अजातशत्रु के पोते अज उदयी ने अवन्ति को भी जीत लिया (लग० ४८० ई० पू०)। तब पंजाब के पूरब का भारत का मुख्य भाग एक साम्राज्य में आ गया। इसी अज ने पाटलिपुत्र की स्थापना की। अज उदयो का बेटा नन्दिवर्धन और उसका बेटा महानन्दी हुआ। वे दोनों प्रतापी सम्राट् थे जिन्होंने साम्राज्य को और बढ़ाया। नन्दिवर्धन की सहायता से लग० ४२५ ई० पू० में कम्बोज के सिवाय भारत का उत्तरपच्छिमी अंचल पारसी साम्राज्य से मुक्त हो गया।

नन्दिवर्धन शैशुनाक ही था, पर वह और उसके वंशज **पूर्व नन्द** (पहले नन्द) कहलाये। पूर्व नन्दों का युग लग० ४५८–३६६ ई० पू० है। उनसे महापद्म नन्द ने मगध का साम्राज्य ले लिया। महापद्म और उसके वंशज **नव नन्द** (नये नन्द) कहलाये, उनका राज्यकाल ३६६–३२२ ई० पू० है। उसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने मौर्य राजवंश स्थापित किया जो ३२२ ई० पू० से लग० १८८ ई० पू० तक चला।

इस अध्याय में हमें पूर्व नन्द, नव नन्द और मौर्य युग की अर्थात् लग० ४५० से लग० २०० ई० पू० तक की भारतीय कृष्टि का दिग्दर्शन करना है।

§२. नन्द मौर्य युगों का वाङ्मय

अ. धर्मसूत्र

वेदाङ्गों का परिचय पीछे दिया गया है। उनके अन्तर्गत कल्प ग्रन्थों का आरम्भ लग० ७०० ई० पू० से हुआ और अन्तिम संस्करण पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक अर्थात् नन्द मौर्य युगों में होता रहा, सो भी कहा जा चुका है। वे ग्रन्थ सूत्र शैली में है। कल्प के अन्तर्गत

धर्मसूत्रों को पतञ्जलि ने लग० १८५ ई० पू० के अपने महाभाष्य में धर्मशास्त्र भी कहा है। आज जो धर्मसूत्र उपलब्ध हैं वे स्वयं भी अपने को धर्मशास्त्र कहते हैं। वे प्रायः वैदिक शाखाओं में सम्पादित पहले ग्रन्थ नहीं, प्रत्युत उन्हीं के नमूने की स्वतन्त्र कृतियाँ हैं। आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम और वासिष्ठ धर्मसूत्र प्रसिद्ध हैं। ये धर्मसूत्र या धर्मशास्त्र बाद में बनी स्मृतियों की अंशतः बुनियाद हैं और इनमें भारतीय समाज के प्राचीनतम नियम हैं।

उनके चिन्तन की जड़ में यह विचार है कि मनुष्य का जीवन चार आश्रमों में बँटता है। उन आश्रमों में से प्रत्येक में जीवन कैसा हो यही उनका प्रतिपाद्य विषय है। किन्तु सब मनुष्य एक दर्जे के नहीं हैं, इसलिए वे समाज को मोटे तौर पर चार **वर्णों** में बाँट कर उनके कर्त्तव्य बताते हैं। उस प्रसंग में वर्णों के परस्पर सम्बन्धों की बात भी आती है। जीवन का अन्तिम अनुष्ठान अन्त्येष्टि और श्राद्ध मनुष्य के दायाद (उत्तराधिकारी) करते हैं, इस प्रसंग में यह विवेचना की जाती है कि कौन ठीक दायाद है और उसे दाय-भाग किन नियमों से मिलना चाहिए। क्षत्रिय के धर्मों का विचार करते हुए राजा नामक विशिष्ट क्षत्रिय का प्रसंग आता है। पर सब राजनियमों का विचार वे नहीं करते, केवल वही बातें देते हैं जिनका धर्म की दृष्टि से राजा के ध्यान में लाना आवश्यक है, जैसे युद्ध में विषैले वाण चलाना और निःशस्त्रों या शरणागतों को मारना वर्जित है, राजा को द्यूत और समाह्वय (जानवरों को लड़ाई पर बाजी लगाने) पर नियन्त्रण रखना चाहिए, सन्देह होने पर अभियुक्त को दण्ड न देना चाहिए, प्रजा से नियमित **बलि**-भाग ही लेना चाहिए जो प्रजा की रक्षण-रूप सेवा के लिए ली हुई राजा की भृति है, इत्यादि।

इ. त्रिपिटक

बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके ५०० भिक्खु शिष्य राजगृह में इकट्ठे हुए, और उन्होंने बुद्ध की शिक्षाओं का संकलन कर उनका मिल कर

पाठ किया। वह बौद्धों की पहली **संगीति** थी, क्योंकि उसमें बुद्ध की शिक्षाएँ पहली बार मिल कर गाई गई थीं। सौ बरस बाद वैशाली में दूसरी संगीति हुई, फिर उसके दो शताब्दी बाद अशोक के राज्यकाल में तीसरी। इन संगीतियों में मूल बौद्ध वाङ्मय का, जो पालि नाम की प्राकृत में है, विकास हुआ। आरम्भ में इसके दो अंश थे (१) **विनय** अर्थात् भिक्षुओं के आचरण के नियम और (२) **धम्म** अर्थात् धर्म के सिद्धान्त। ये दोनो अंश दूसरी संगीति के शीघ्र बाद तक पूरे हो गये थे। पीछे **अभिधम्म** अर्थात् दार्शनिक विवेचन के ग्रन्थ लिखे जाते रहे। उसका एक ग्रन्थ तीसरी संगीति के प्रमुख का लिखा हुआ है। उस संगीति के बाद विनय से **विनयपिटक** बना, धम्म ग्रंथों का सकलन **सुत्तपिटक** में किया गया, और अभिधम्म का **अभिधम्मपिटक** में।

विनयपिटक के तीन भाग हैं (१) **विभङ्ग** (२) **खन्धक** और (३) **परिवार**। समूचा विभंग इतिहास-वर्णन शैली में है—भगवान् अमुक स्थान में थे, तब ऐसी घटना हुई जिसपर उन्होंने ऐसा नियम बनाया, इत्यादि। उसके दो विभाग हैं—**भिक्खुविभंग** और **भिक्खुनीविभंग**। खन्धक के दो पुस्तक हैं—**महावग्ग** और **चुल्लवग्ग** जिनमें क्रमशः बड़ी और छोटी शिक्षाएँ हैं। चुल्लवग्ग के अन्त में पहली और दूसरी संगीति का वृत्तान्त भी है। परिवार विनय का सार है, वह पीछे की वस्तु है।

सुत्तपिटक का ठीक अर्थ है सूक्त-पिटक। पीछे के संस्कृत बौद्ध वाङ्मय में **सुत्त** का रूपान्तर जो **सूत्र** किया गया, वह वस्तुतः ठीक नहीं था। सुत्तपिटक में पाँच **निकाय** हैं (१) **दीघ** निकाय (२) **मज्झिम** निकाय (३) **अंगुत्तर** निकाय (४) **संयुत्त** निकाय और (५) **खुद्दक** निकाय। पहले चार निकायों की वर्णन शैली एक सी है। **एवं मया सुतं**—ऐसा मैंने सुना—कि एक समय भगवान् वहाँ थे, तब ऐसी घटना घटी, तब अमुक व्यक्ति ने अमुक बात पूछी और बुद्ध ने यह उत्तर दिया। यों अन्त में जो बुद्ध का संवाद आता है वही असल सुत्त होता है। खुद्दक निकाय में १५ विविध ग्रन्थ हैं। उनमें प्रसिद्ध **धम्मपद** और **सुत्तनिपात**

भी हैं। सुत्तनिपात के सुत्त सब से पुराने हैं; उनके विचार और शैली उपनिषदों के से हैं, तथा उनके छन्द भी वैदिक जिनमें गणों का विचार नहीं है। खुद्दक निकाय के अन्तर्गत जातक इतिहास की दृष्टि से सब से अधिक महत्त्व के हैं। वे ५४७ कहानियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक का सार कुछ गाथाओं अर्थात् आख्यानात्मक गीतियों में कहा होता है। उन गाथाओं को **पालियों** अर्थात् पंक्तियाँ भी कहा जाता है। ये गाथाएँ और इनके अन्तर्गत कहानियाँ बुद्ध से पहले की हैं, पर इनमें से प्रत्येक को बुद्ध के किसी पूर्व जन्म की कहानी बना कर बौद्ध वाङ्मय में ले लिया गया है। जान पड़ता है कि पुनर्जन्म की कल्पना तब भारतीय विचार में नई नई उठी थी, और उस कल्पना से कहानीकारों को खेल मिल गया था।

अभिधम्म पिटक में धर्म का दार्शनिक विवेचन है। उसमें सात ग्रन्थ हैं। उपनिषदों की तरह उनमें भी भारत का आरम्भिक अस्फुट-मार्गी तत्त्वचिन्तन है।

उ. मूल जैन वाङ्मय

जैनों का दिगम्बर सम्प्रदाय चार वेदों की तरह चार अनुयोगों को प्रमाण मानता है। श्वेताम्बरों में से स्थानकवासियों के प्रमाणभूत ११ अंग, १२ उपांग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूळ ग्रन्थ हैं। दूसरे श्वेताम्बर १० पयन्ना अर्थात् प्रकीर्ण ग्रन्थों को भी मानते हैं। उनके अतिरिक्त अनेक बार २० और पयन्ना, १२ निर्युक्ति तथा ६ विविध ग्रन्थ मिला कर ८४ प्रमाण-ग्रन्थ गिने जाते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर से ले कर चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालिक भद्रबाहु तक आठ आचार्य हुए। नौवाँ स्थूलभद्र हुआ जिसने पाटलिपुत्र में संगत जुटा कर धर्मग्रन्थों का संकलन किया। इस प्रकार मूल जैन वाङ्मय की रचना पूर्व नन्द युग से मौर्य युग तक हुई। अंग नाम ही सूचित करता है कि उस वाङ्मय का आरम्भ वेदांगों के युग में हुआ। किन्तु आजकल जो जैनों के **आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, भगवती,**

उपासकदशांग, **प्रश्न-व्याकरण** आदि ११ अंग-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब ज्यों के त्यों स्थूलभद्र के ज़माने के नहीं हैं। भद्रबाहु की कही जाने वाली **निर्युक्ति** (आरम्भिक धर्म-ग्रन्थों पर भाष्य) में तो पहली शताब्दी ई० पू० तक की घटनाओं के निर्देश हैं। तो भी मूल जैन वाङ्मय के विशिष्ट अंश पूर्व नन्द और मौर्य युगों के हैं इसमें सन्देह नहीं।

ऋ. अर्थशास्त्र

चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु और अमात्य आचार्य कौटल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में उस विषय के १८ पहले आचार्यों और सम्प्रदायों के उद्धरण दिये हैं। वे अर्थ-सम्प्रदाय भी वैदिक **चरणों** की तरह थे। उतने विभिन्न सम्प्रदायों के उदय और विकास के लिए चार शताब्दियों का काल कूता गया है, जिससे अर्थशास्त्र का उदय लग० ७०० ई० पू० से मानना होता है। जातकों में **धर्म** और **अर्थ** में निपुण अमात्यों का उल्लेख है; आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२.५.१०.१४) में **धर्म** और **अर्थ** में कुशल राजपुरोहित का। इससे उक्त स्थापना की पुष्टि होती और यह सिद्ध होता है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विकास प्रायः साथ साथ हुआ। कौटल्य ने **अर्थ** का लक्षण यों किया है (१५.१) "मनुष्यों की वृत्ति अर्थ है, अर्थात् मनुष्य-सहित भूमि। उस पृथिवी के लाभ और पालन का उपाय रूप शास्त्र अर्थशास्त्र है।" हम अपनी भाषा में आज इसकी यों व्याख्या करेंगे कि मनुष्यों की जीविका और उस जीविका के साधनों की प्राप्ति और पालन के विचार को अर्थात् मनुष्यों के लौकिक कल्याण-विषयक समूचे ज्ञान और चिन्तन को प्राचीन भारत के मेधावी अर्थशास्त्र कहते थे।

उन प्राचीन अर्थशास्त्रियों के मानसिक क्षितिज में अपने समकालिक ज्ञान का विस्तार और स्वरूप क्या था, सो कौटल्य की इस विवेचना (१. २) से प्रकट होता है—"**आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता** और **दण्डनीति** ये विद्याएँ हैं। मानवों (मानव सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों) का कहना है कि त्रयी वार्त्ता और दण्डनीति ही; आन्वीक्षकी त्रयी का ही विशेष

है। बार्हस्पत्यों का मत है कि वार्त्ता और दण्डनीति; लोकयात्रा को जानने वाले के लिए त्रयी बाहरी ओढ़ना मात्र है। औशनसों का मत है कि दण्डनीति ही एक विद्या है, उसी में सब विद्याओं की जड़ जमी है। कौटल्य के मत में चार ही विद्याएँ हैं। उनसे धर्म और अर्थ को जाने (विद्यात्) यही विद्याओं का विद्यापन है।

"सांख्य योग और लोकायत वह आन्वीक्षकी (दर्शन) है। त्रयी में धर्म और अधर्म (का विचार होता है), वार्त्ता में अर्थ और अनर्थ (का), दण्डनीति (राजशास्त्र) में नय (नीति) और अनय तथा बल और अबल (का)। इन सब का हेतुओं से अन्वीक्षण (दर्शन) करती है ... सो सब विद्याओं का प्रदीप ... आन्वीक्षकी मानी गई है।"

इससे प्रकट है कि उस समय त्रयी (वैदिक वाङ्मय) के अतिरिक्त दर्शन और अनेक लौकिक ज्ञानों का उदय हो चुका था। दर्शन तब तक तीन ही थे—सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक)। बार्हस्पत्य और औशनस जैसे विचारक-सम्प्रदायों की दृष्टि में त्रयी का कुछ भी मूल्य न था। कौटलीय अर्थशास्त्र के विषयों की पड़ताल से जाना जाता है कि **व्यवहार** अर्थात् व्यावहारिक कानून अर्थशास्त्रियों की विवेचना का एक विषय था। धर्मशास्त्र में भी कुछ कानून था, पर केवल प्रायश्चित्तीय कानून—धार्मिक अनुष्ठान-सम्बन्धी वे **विधि नियम** और **प्रतिषेध** जिनके उल्लंघन का दण्ड प्रायश्चित्त होते थे। सब लौकिक **व्यवहार** अर्थात् दीवानी और फौजदारी कानून अर्थशास्त्र का विषय थे।

लृ. इतिहास-पुराण रामायण भारत और गीता

आपस्तम्ब से पहले पुराण और भविष्यत् पुराण विद्यमान थे तथा कौटल्य ने इतिहास को वेदों में अर्थात् त्रयी के परिशिष्ट में गिना है सो कहा जा चुका है (ऊपर पृ० ४४, ४७-४८)। कौटल्य आगे (१.५) कहते हैं—"पुराण इतिवृत्त आख्यायिका उदाहरण धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र यह इतिहास है।" इससे प्रकट है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों का मूल इतिहास में था—अर्थात् मनुष्य-सम्बन्धी सब चिन्तन

इतिहास से पैदा हुआ था।

रामायण का मुख्य अंश और भारत काव्य भी लग० पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में बने सो ऊपर कहा जा चुका है। हम देखेंगे कि रामायण का समाज-चित्रण इसी युग का है। पर उसके कुछ स्थल-वर्णन पीछे के हैं, एवं राम के अवतार होने का विचार भी जो कि उसके मुख्य अंश में नहीं है।

भगवद्गीता के विषय में का० त्रि० तेलंग, बा० गं० टिळक और रा० गो० भण्डारकर का मत था कि वह भी इसी युग की है। उन्होंने दिखाया है कि उसके विचारों की बुनियाद उपनिषदों और सुत्तनिपात जैसे बौद्ध ग्रंथों में है, अनेक-मार्गी दार्शनिक विचार गीता के युग तक प्रस्फुटित नहीं हुआ था, उसमें केवल सांख्य और योग की चर्चा है। वासुदेव-पूजा का उसमें विशिष्ट स्थान है। वह पूजा चौथी शताब्दी ई० पू० में प्रचलित थी यह खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत निद्देस नामक ग्रंथ से प्रकट हुआ है। चौथी तीसरी दूसरी शताब्दी ई० पू० के अभिलेखों और वाङ्मय में वासुदेव के दो व्यूह अर्थात् मूर्त्त रूप माने गये हैं; पहली शताब्दी ई० पू० और पहली शताब्दी ई० के लेखों में उसके चार व्यूह माने गये हैं तथा उसे नारायण और विष्णु का अवतार कहा गया है। गीता में न तो व्यूहों की कल्पना है, और न वासुदेव के नारायण होने या विष्णु का अवतार होने की। विष्णु को गीता में आदित्य का ही प्रथम रूप माना है जो कि वैदिक कल्पना थी। उपनिषदों के अनेक वाक्यों का गीता में सीधा रूपान्तर है। यों श्री रा० गो० भंडारकर ने दिखाया है कि गीता श्वेताश्वतर उपनिषद् के ठीक बाद की अर्थात् पूर्व नन्द युग की कृति है।

परन्तु बौद्ध दर्शन के विकास-क्रम का अध्ययन करने वाले विद्वानों का कहना है कि तीसरी शताब्दी ई० तक बौद्ध दार्शनिकों को गीता का पता न था, इसलिए उसे पहली दूसरी शताब्दी ई० का होना चाहिए। इस विवाद के निपटारे के लिए भारतीय दर्शन के अन्तर्गत विचारों के

विकास-क्रम की बारीकी से छानबीन की आवश्यकता है। जब तक वैसी छानबीन द्वारा इस प्रश्न का समाधान नहीं होता तब तक हम गीता के काल के विषय में श्री रा० गो० भण्डारकर के मत का अनुसरण ही ठीक मानते हैं।

ए. विविध

अनेक शास्त्रों का आरम्भ वेदाङ्ग रूप में हुआ, पर वे इस युग तक स्वतन्त्र शास्त्र बन गये थे। उदाहरण के लिए व्याकरण वेदाङ्ग था, पर पाणिनि का व्याकरण **अष्टाध्यायी** जो सूत्र शैली में है और जिसमें उस शैली की पूर्णता परा काष्ठा तक पहुँच गई है, वेदाङ्ग में सम्मिलित नहीं है। **छन्दस्** अर्थात् वेद की भाषा के नियम उसमें प्रायः अपवाद रूप से हैं; उसका ध्यान प्रथमतः **लौकिक** भाषा की ओर है। पाणिनि पच्छिमी गन्धार में सुवास्तु (स्वात) नदी के काँठे के शालातुर गाँव के थे और अनुश्रुति है कि वे अपने ग्रन्थ को ले कर पाटलिपुत्र गये थे। यों उनका काल पाटलिपुत्र की स्थापना के पीछे का है। पाणिनि के जोड़ का व्याकरण-शास्त्री शायद संसार के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। उनके ग्रन्थ से यह भी प्रकट होता है कि उनसे पहले शब्दशास्त्र का अध्ययन क्रमशः किस प्रकार बढ़ा था। शब्दों की व्युत्पत्ति कर मूल शब्द और **धातु** छाँटे गये थे; फिर उनके परिवर्तनों की छानबीन कर उसके आधार पर उन शब्दों और धातुओं का वर्गीकरण अनेक **गणों** में किया गया था। यह कार्य पाणिनि से पहले कई पीढ़ियों में हुआ होगा और इसके आधार पर ही पाणिनि ऐसी पूर्ण कृति प्रस्तुत कर सके।

बोधायन और आपस्तम्ब के **शुल्व सूत्र** भी इसी युग की कृतियाँ हैं। उनमें रेखागणित या ज्यामिति की आरम्भिक नींव है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी (४. ३. ११०) से पता चलता है कि उनसे पहले शिलालि नामक किसी ग्रन्थकार ने **नटसूत्र** लिखे थे। उनमें नाट्यकला का प्रतिपादन किया गया होगा।

तक्षशिला के गुरुकुल में जो शास्त्र पढ़ाये जाते उनमें **आयुर्वेद**

का विशिष्ट स्थान था। उस गुरुकुल का स्नातक मगध का राजवैद्य जीवक बुद्ध का समकालिक था। उसके वृत्तान्त से पता चलता है कि आयुर्वेद की यथेष्ट उन्नति हो चुकी और उसमें शल्यचिकित्सा भी सम्मिलित थी। जीवक की शिक्षा उस गुरुकुल में सात बरस में पूरी हुई थी। उसकी उपाधि कुमारभृत्य थी। कौमारभृत्य आयुर्वेद के उस विभाग का नाम है जिसमें बच्चों के रोगों और चिकित्सा की विवेचना होती है। यों इस युग तक आयुर्वेद के अनेक विभागों का विकास भी हो चुका था।

§ ३. पूर्व नन्द युग की आर्थिक राजनीतिक संस्थाएँ

उत्तर वैदिक और महाजनपद युगों में श्रेणि निगम आदि जो संस्थाएँ खड़ी हुई थीं, उनके लिए इस युग के वाङ्मय में जातिवाचक संज्ञाएँ थीं—**निकाय**, **समूह** या **वर्ग**। **निकाय** का अर्थ था शृंखलाबद्ध समूह। अव्यवस्थित जमघट के अर्थ में **निचय** कहा जाता था। **निकाय** और **निचय** दोनों समान-मूलक शब्द थे। श्रेणि और निगम दोनों आर्थिक निकाय थे, उनमें विभिन्न कुलों के परन्तु एक वृत्ति या जीविका वाले लोग होते थे। नगरों के संघ इस युग में **पूग** कहलाने लगे, और उनकी यह परिभाषा थी कि विभिन्न कुलों तथा विभिन्न वृत्तियों वाले संघ पूग होते हैं (अष्टाध्यायी ५. ३. ११२ पर काशिका वृत्ति)। अर्थात् पूग प्रादेशिक संघ थे जिनमें अनेक श्रेणियों और निगमों के प्रतिनिधि होते थे।

गौतम धर्मसूत्र (११. २१) से पता चलता है कि कारुओं अर्थात् कारीगरों के अतिरिक्त कृषकों, वणिजों, पशुपालकों और कुसीदियों (रुपया उधार देने वालों) की भी श्रेणियाँ थीं। एक जगह रहने वाले कारुओं की श्रेणियाँ बनना सरल था, पर बिखर कर रहने वाले कृषकों की भी श्रेणियाँ होना उत्कट सामूहिक जीवन का सूचक था।

पिछले युग के समान ग्राम श्रेणि निगम पूग आदि निकाय अपना भीतरी शासन स्वयं चलाते, अपने भीतर के विवाद निपटाने के लिए

न्यायालय का काम करते, पर सबसे बढ़ कर वे आपस में मिल कर जो **समय** या **संवित्** अर्थात् ठहराव करें, वह **समय-धर्म** यदि देश के मूल **धर्म** और **व्यवहार** अर्थात् कानून के विरुद्ध न हो, तो उसे चरितार्थ करना राजा का कर्त्तव्य होता। कोई वर्गी अपने वर्ग के समय को तोड़े तो दण्ड पाता था। समय (सम्-अय) का अर्थ था मिल कर किया हुआ ठहराव। यों इन निकायों के ठहराव कानून थे। बौद्ध संघों की कार्य-परिपाटी का पूरा चित्र हमें मिलता है। उन संघों में निश्चित विधियों से प्रस्ताव रखने (कर्म-वचन = कार्य का कहना), उसपर प्रकट या गुप्त रूप से मत लेने और बहुमत से निश्चय करने की पद्धति थी। वैसी ही पद्धति उस युग के सभी निकायों में चलती होगी। यों ग्राम श्रेणि निगम पूग आदि निकाय जो **समय-धर्म** अर्थात् आपसी निश्चय द्वारा कानून बनाते, वह भी ठीक पद्धति से विचार कर के बनाया जाता, वह वह यों ही चल जाने वाला रिवाज नहीं था।

राजकीय **विनिश्चयस्थानों** (न्यायालयों) में **विनिश्चायक** (न्यायाधीश) के साथ **उद्वाहिका** ('जूरी') बैठती थी, और उसमें प्रत्येक **वर्गी** के अपने ही **वर्ग** के अर्थात् प्रत्येक अभियुक्त के अपने निकाय के लोगों के बैठने का नियम था।

यों इन निकायों को जहाँ पूरे स्व-शासन के अधिकार थे, वहाँ जनपद के केन्द्रीय शासन की भी ये ही बुनियाद थे। वैदिक काल की समिति की तरह इस युग में भी परिषद् या पौर-जानपद नाम का निकाय समूचे जनपद के शासन को चलाने के लिए था। उसमें ग्रामणियों के अतिरिक्त श्रेणिमुख्य और निगमश्रेष्ठी आदि होते तथा राजा को उसके परामर्श के अनुसार चलना पड़ता। रामायण में राम को युवराज बनाने के लिए जुटाई गई राजा दशरथ की सभा का जो चित्र है उसमें श्रेणिमुख्यों और निगमश्रेष्ठियों का विशिष्ट स्थान है।

बौद्ध वाङ्मय से पता मिलता है कि इस युग में चेदि जनपद में सहजाति नाम की समृद्ध नगरी थी। इलाहाबाद के दक्खिन उस नगरी

का भीटा है, जिसकी खुदाई से एक भव्य इमारत के खँडहरों के बीच एक मोहर पाई गई जिसपर इस युग की लिपि में लिखा है—**सहजातिये निगमस** (सहजाति के निगम की)। उस मोहर से ऊपर कहे गये तथ्यों की पुष्टि होती है।

स ह

'भीटा' (ज़ि० इलाहाबाद) की खुदाई में पाई गई "सहजातिये निगमस" (सहजाति-निगम की) मोहर। [भा० पु० वि०]

ग्रामों श्रेणियों निगमों नगरियों और जनपदों के निकाय जैसे अपने छोटे राजा की छत्रच्छाया में काम कर सकते थे, वैसे ही किसी बड़े साम्राज्य के अन्दर भी। यों स्थानीय स्वशासन के इस वातावरण के बीच भी सारे भारत में साम्राज्य बनाने का आदर्श इस युग के राजनीतिक चिन्तन और आचरण को व्यापे हुए थे। कणिङ्क भारद्वाज जैसे अर्थशास्त्रियों का मत था कि पुराने चले आते निकम्मे और निर्बल राजवंशों को बल से वा छल से मिटा देना चाहिए। मगध का साम्राज्य इस प्रकार के चिन्तन की उपज था। उस साम्राज्य में भारत का समूचा मध्यदेश तथा प्राच्य और पश्चिम देशों का मुख्य अंश सम्मिलित था।

उसके पच्छिम तरफ पंजाब सिन्ध और सुराष्ट्र में तथा दक्खिन तरफ भी छोटे-छोटे राज्यों की मेखला थी, जिनमें से अधिकतर संघराज्य थे। पंजाब और सिन्ध का सम्मिलित नाम पाणिनि ने **वाहीकाः** अर्थात् वाहीक देश दिया है। वाहीकों में यौधेय क्षुद्रक मालव त्रिगर्त्त आदि अनेक **आयुधजीवि-संघ** थे, अर्थात् इन संघों की प्रत्येक प्रजा को

शस्त्रों का अभ्यास करना पड़ता था। यौधेय सतलज काँठे में रहते थे, क्षुद्रक ब्यास पर, मालव रावी के निचले काँठे पर और त्रिगर्त्त सतलज-ब्यास दोआब तथा कांगड़े में। मद्रक आदि अन्य अनेक संघ भी वाहीकों में थे। मद्रकों का देश रावी-चनाब के बीच था, उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। सुराष्ट्र में अन्धक-वृष्णि-संघ था, जिसमें दो **राजन्य** अर्थात् मुखिया एक साथ चुनने की प्रथा थी, प्रत्येक राजन्य एक-एक **वर्ग** का प्रतिनिधि होता।

§४. 'धर्म' और 'व्यवहार' का उदय

हमने देखा कि पूर्व नन्द युग **धर्म** और **अर्थ** की विवेचना का युग था, उसी युग में **धर्म** और **व्यवहार** अर्थात् धार्मिक और व्यावहारिक कानून पहलेपहल सूत्रित किया गया। उन धर्मों और व्यवहारों का उद्भव क्या था ? और वे क्यों इसी युग में पहलेपहल संकलित हुए ?

हिन्दू समाज का व्यक्तिगत और पारिवारिक कानून हाल तक याज्ञ-वल्क्य-स्मृति की मध्यकालीन व्याख्याओं पर आश्रित रहा है। यह प्रचलित विश्वास है कि उस कानून की बुनियाद मनु आदि की स्मृतियाँ हैं और कि वे स्मृतियाँ ही धर्मशास्त्र हैं। आधुनिक विद्वानों ने इस स्थापना को सिद्धान्त मान लिया था कि प्रत्येक धर्मशास्त्र किसी धर्मसूत्र का रूपान्तर था, इसलिए प्रत्येक स्मृति परोक्ष रूप से किसी वैदिक चरण की उपज थी, और यों प्राचीन भारत के कानूनों का विकास वैदिक शाखाओं में हुआ।

कौटलीय अर्थशास्त्र के पाये जाने पर प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था और कानून के महान् विवेचक स्व० श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इस स्थापना को गलत सिद्ध किया। उन्होंने दिखाया कि धर्मसूत्र भी धर्मशास्त्र कहलाते थे, कि स्मृतिग्रन्थों में जो व्यवहार अंश है वह अर्थशास्त्र से लिया गया है और कि स्मृतियों का वैदिक चरणों से कोई सम्बन्ध नहीं

था। धर्मसूत्रों में राजधर्म-विषयक केवल ५-७ उपदेश हैं। लेनदेन, क्रय-विक्रय, रेहन, धरोहर, ऋण और ऋण-शोध, भृति और दासत्व, सम्पत्ति के स्वत्वपरिवर्त्तन आदि विषयक दीवानी तथा अनेक अपराधों विषयक फ़ौजदारी कानून उनमें कहीं नहीं है। वे सब विषय कौटलीय अर्थशास्त्र के **धर्मस्थीय** और **कण्टकशोधन** अधिकरणों में हैं। अर्थशास्त्र के सम्प्रदायों में उनपर विचार चलता रहा होगा। वह सब कानून व्यवहार कहलाता था। महाजनपद युग में हम पहलेपहल **वोहारिक अमच्च** (व्यावहारिक अमात्य) नामक न्यायाधीशों का होना देखते हैं। गौतम अपने धर्मसूत्र (११. १६) में व्यवहार को वेद से पहले स्थान देता है।

धर्मों और व्यवहारों का उद्भव कैसे हुआ ? इस प्रश्न पर आपस्तम्ब से प्रकाश पड़ता है। वहाँ सभी धर्मों को **सामयाचारिक** अर्थात् समय-मूलक कहा है (१, १. १. १-२)। पहले सभी धर्म और व्यवहार सभाओं के ठहरावों द्वारा निर्धारित हुए, उनमें से जो पुराने अर्थात् बहुत काल से स्थापित हो गये वे **आचार** या वृत्त बन गये। विभिन्न जनपदों में आर्यों का जो वृत्त बन गया था उसकी व्याख्या आपस्तम्ब ने बड़े रुचिकर ढंग से की है कि "जिस कार्य को करने से आर्य प्रशंसा करें वह धर्म है, जिसकी गर्हा करें वह अधर्म" (१. ७. २०. ७-८)।

महाजनपद और पूर्व नन्द युगों में धर्मों और व्यवहारों के पहलेपहल सूत्रित किये जाने का कारण था आर्थिक जीवन का विकास और परिपाक। भारतीय समाज अब परिपक्वता की ऐसी दशा पर पहुँच रहा था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के अधिकारों और कर्त्तव्यों को स्पष्ट जानने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। इसी कारण विभिन्न धन्दों वाले श्रेणि-निकायों का उदय हुआ, सभाओं में विधिवत् विचार और निर्णय करने की परिपाटी चली, और धर्मों और व्यवहारों को सूत्रित किया गया। वैदिक चरण और अर्थ-सम्प्रदाय दोनों राष्ट्र के जीवन पर अपनी अपनी दृष्टि से विचार करते। एक पक्ष धर्म की मर्यादा पर

अधिक ध्यान देता, दूसरा राज्य की नीति और बल पर।

§५. नन्द मौर्य युगों का धर्म-कर्म

बुद्ध जैसे सुधारकों ने धार्मिक जीवन में जो विचार-मथन पैदा कर दिया था, उसके होते हुए भी जन-साधारण में अनेक प्रकार की पूजाएँ और विश्वास इस युग में प्रचलित थे।

पाणिनि की अष्टाध्यायी (५. ३. ६६) से सूचित होता है कि देवताओं की छोटी-मोटी मूर्त्तियाँ इस युग में चल चुकी थीं और उनसे जीविका चलाने वाले पुजारी भी थे। रामायण (१. ३७) में स्कन्द नामक नये देवता का उल्लेख है। वह अग्नि और गंगा का पुत्र था, और कृत्तिका तारों ने उसे पाला इसलिए कार्त्तिकेय कहलाया। अग्नि को शिव का रूप मानने से उसे शिव का बेटा माना गया।

खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत **निद्देस** ग्रंथ में इस युग की अनेक पूजाओं का वर्णन यों है—"बहुत से श्रमण और ब्राह्मण व्रतों से शुद्धि मानते हैं। वे हाथी का व्रत करते हैं या घोड़े का या गाय का या कुत्ते का या कौए का या वासुदेव का या बलदेव का या पूर्णभद्र का या मणिभद्र का या नागों का या सुपर्ण (गरुड) का या यक्षों का या असुरों का या गन्धर्वों का या महाराज का या चन्द्र का या सूर्य का या इन्द्र का या ब्रह्म का या देवों का या दिशाओं का।"

इस परिगणन में एक तो अग्नि सूर्य चन्द्र इन्द्र आदि वैदिक प्रकृति-देवताओं के नाम हैं, दूसरे यक्षों असुरों गन्धर्वों आदि कल्पित बुरी आत्माओं के, तीसरे हाथी घोड़े कौए कुत्ते आदि जन्तुओं के, और चौथे वासुदेव बलदेव इन ऐतिहासिक महापुरुषों के। बौद्ध लेखक के लिए इन सब की पूजाएँ एक ही लेखे की थीं, किन्तु हमें उन चार धाराओं में विवेक करना चाहिए।

वसु चैद्योपरिचर के ज़माने में यज्ञों की हिंसा कर्मकाण्ड और सूखे तप के विरुद्ध जो लहर उठी थी, जिसके मुख्य सिद्धान्त भक्ति और

अहिंसा थे, तथा जिसका समर्थन वासुदेव कृष्ण ने किया था, उस एकान्तिक धर्म का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उस सुधार की लहर से एक पन्थ पैदा हो गया था, जिसके अनुयायियों के लिए गीता के ज़माने तक वासुदेव परम पुरुष बन गया था। निद्देस के ज़माने से पहले उसमें वासुदेव के साथ बलदेव की पूजा भी चल चुकी थी। बौद्ध मार्ग में और एकान्तिक धर्म में यह समानता थी कि दोनों कर्मकाण्ड देह शोषणात्मक तप और हिंसा के विरोधी थे। परन्तु एकान्तिक धर्म जहाँ भक्तिप्रधान आस्तिकवाद था, वहाँ बौद्ध धर्म सदाचार-प्रधान अनीश्वरवाद। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार के यूनानी दूत मेगास्थनेस् ने लिखा है कि शूरसेन लोगों में हेराक्लेस् (अर्थात् कृष्ण) की पूजा होती थी। चित्तौड़ के निकट घोसुंडी गाँव से मिले मौर्य लिपि के एक अभिलेख में संकर्षण और वासुदेव के लिए पूजा-शिला और उसके चौगिर्द नारायण-वाटिका अर्थात् नारायण को अर्पित बाड़ा बनाने की बात है। यों निद्देस के उक्त सन्दर्भ की तरह इस अभिलेख से भी मौर्य युग तक वासुदेव के साथ संकर्षण की भी पूजा चल जाना तथा वासुदेव और नारायण की अभिन्नता मान ली जाना भी सिद्ध होता है।

एकान्तिक धर्म, उपनिषदों, जैन तथा बौद्ध मार्गों ने कर्मकाण्ड को निरर्थक कहा था, पर थोड़े-बहुत अनुष्ठान के बिना किसी समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती, भले ही वह अनुष्ठान मूढ विश्वासों पर निर्भर हो या सुन्दर आदर्शों पर। इसीलिए कर्मकाण्ड मिटा नहीं, प्रत्युत गृह्य संस्कारों के रूप मे इसी युग में उसकी विधियाँ स्थिर हुईं। गृह्य सूत्रों की वे संस्कार-विधियाँ अनेक युगों में थोड़ी-बहुत परिवर्त्तित होतीं भारतीय समाज में आज तक चली आती हैं।

गृह्य सूत्रों में विष्णु और शिव प्रधान देवता हो गये हैं, अनेक संस्कारों में उनकी प्रार्थना की जाती है। रुद्र-शिव को श्वेताश्वतर उपनिषद् ने पर-ब्रह्म का रूप दिया था, तो भी गृह्य सूत्रों में रुद्र वही पुराना डरावना देव है। आश्वलायन (४. ६) हिरण्यकेशी (२. ८) और

पारस्कर (३. ८) के अनुसार ढंगरों के रोग से बचने के लिए गाँव के बाहर गो-व्रज में शूलगव यज्ञ किया जाता था, जिसमें रुद्र को बलि दी जाती थी। उस यज्ञ का शेष गाँव में नहीं लाया जाता था। रुद्र भव आदि देवों की स्त्रियों रुद्राणी भवानी आदि के नाम गृह्य सूत्रों में हैं, पर शक्ति या किसी स्वतन्त्र देवी का नहीं। विनायक का अर्थ बुरी आत्मा है—भूत की तरह। मानव गृह्य सूत्र में चार विनायकों के नाम हैं, वे जिस मनुष्य को पकड़ लेते वही निकम्मा हो जाता।

§६. उक्त युगों का सामाजिक जीवन

महाजनपद युग का जैसा सामाजिक जीवन था इस युग में उसमें कुछ परिपक्वता आई दीखती है। विनयपिटक (विभंग पाचित्तिय २. २) में इस युग की सामाजिक ऊँचनीच का यह चित्र है—"जातियाँ दो हैं, हीन जाति और उत्कृष्ट जाति। हीन जाति कौन सी? चण्डाल जाति वेण जाति नेषाद जाति ··· पुक्कस जाति···। उत्कृष्ट जाति कौन सी? क्षत्रिय जाति ब्राह्मण जाति···। शिल्प दो हैं, हीन शिल्प और उत्कृष्ट शिल्प। हीन शिल्प जैसे नळकार शिल्प, कुम्हार का शिल्प, हरकारे का शिल्प, चमार का शिल्प, नाई का शिल्प और जो उन उन जनपदों में ··· अवज्ञात ··· परिभूत हो। उत्कृष्ट शिल्प जैसे मुद्रागणना लेख अथवा उन उन जनपदों में···। कर्म दो हैं ··· हीन कर्म जैसे कोठा बनाने का काम, (सूखे) फूल बटोरने का काम। उत्कृष्ट कर्म जैसे कृषि वाणिज्य गोरक्षा।"

इससे स्पष्ट है कि कृषक बनिया ग्वाला हरकारा सराफ नाई आदि विभिन्न जनपदों की दशा के अनुसार ऊँचे नीचे काम और शिल्प थे, जातें नहीं। चण्डाल वेण निषाद आदि वस्तुतः अनार्य जातियाँ अर्थात् नस्लें थीं। पर क्षत्रिय और ब्राह्मण कल्पित जातियाँ थीं। क्षत्रियों में अपने कुलों की उच्चता का भाव इतना परिपक्व हो चुका कि वे अपने को जाति कहने लगे थे, और ब्राह्मण भी अपने को जाति गिनना चाहते

थे यद्यपि उनके जाति होने की बात विवादग्रस्त थी—बहुत से ब्राह्मण स्पष्ट कहते थे कि ब्राह्मणपन का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं, व्रत और शील से है (सुत्तनिपात वासेट्ठसुत्त ३५ वत्थुकथा, तथा ६५०)। जो भी हो, क्षत्रिय और ब्राह्मण आर्य कृषकों शिल्पियों और वणिजों से भिन्न जाति के न थे।

यह कहना भी गलत होगा कि कर्म के अनुसार समाज का चार वर्णों में बँटवारा हो गया था। चार वर्णों में बाँटने का विचार केवल वैदिक विचारकों का था। पर वे भी स्पष्ट रूप से अपने समाज को चार वर्णों में न बाँट पाते थे, उन्हें मिश्रित वर्णों की कल्पना करनी पड़ती थी (यथा गौतम ४. १४–१५) जो कि निर्मूल थी। उस युग के साधारण लोग जब भारतीय समाज का कर्म के अनुसार बँटवारा करते तब कृषक, शिल्पी, वाणिज, प्रेष्य (हरकारा), चोर, योधाजीव, याजक, राजा इत्यादि ढंग से करते (सुत्तनिपात ६१२–६१६, ६५०–६५२)। और जब वे अपने समाज की जातियाँ गिनते तब क्षत्रिय जाति तो प्रायः गिनी जाती, ब्राह्मण को कोई जाति गिनते कोई नहीं गिनते, पर उनके जोड़ की वैश्य नाम की कोई जाति न गिनी जाती, प्रत्युत चण्डाल वेण निषाद पुक्कस आदि जातियाँ कही जातीं जो वस्तुतः जातियाँ थीं। क्षत्रिय और ब्राह्मण नाम की कल्पित जातियों का उदय इस युग की नवीनता थी।

धर्मशास्त्री शूद्र शब्द को अपने समाज के निचले दर्जे के लिए बर्त्तते, और उस दर्जे में वस्तुतः अनेक जातियों के लोग थे। शूद्रों और आर्यों में इस युग तक रंग का भेद चला आता था, शूद्र कृष्ण-वर्ण थे (आप० १. ६. २७. ११)। उनका आर्यों के साथ सम्प्रयोग (मिलना-जुलना) रोकने की भरसक चेष्टा की जाती, तो भी वह पूरी तरह रोका न जा सकता। आर्य स्त्री का शूद्र-गमन अनेक धर्मशास्त्रियों के अनुसार निषिद्ध मांस खाने की तरह केवल अशुचिकर कर्म था, यद्यपि कुछ उसे पतनीय कहते थे (वहीं, १. ७. २१. १३, १६)।

विवाह-प्रकारों के वर्गीकरण के प्रथम प्रयत्न इसी युग में किये गये।

धर्म और **व्यवहार** के सूत्रित होने के साथ वह वर्गीकरण आवश्यक था। मानव गृह्य सूत्र (१. ७. ११) के अनुसार विवाह दो प्रकार के हैं, **ब्राह्म** और **शौल्क**। एक में संस्कार मुख्य था, दूसरे में शुल्क। हिरण्यकेशी, पारस्कर आदि में विवाह-भेदों का नाम नहीं है, आश्वलायन (१. ६. १) में पहलेपहल आठ भेदों का उल्लेख है। फिर धर्मसूत्रों में वही बात दोहराई गई है (गौत० ४. ४–११)। विधवा-विवाह और **नियोग** इस युग में भी खूब प्रचलित थे। उन्हें सीमित करने की हलकी सी चेष्टा धर्मसूत्रों में है (गौत० १८. ४ प्र०)।

आर्यों का खाना-पीना पहले की अपेक्षा परिष्कृत होता जाता था। एक खुर वाले जानवरों, ऊँट, ग्राम्य शूकर आदि के मांस अभक्ष्य गिने जाने लगे थे।

§ ७. ईरान और यूनान से सम्पर्क

आर्यावर्त ईरान और यूनान के जीवन और विचारों में पहली समानता इस कारण रही कि तीनों की कृष्टि का विकास मूल आर्य कृष्टि से हुआ था। फिर वैदिक काल से आर्यावर्त का पच्छिम से सम्पर्क रहा ही। उत्तर वैदिक काल में आर्यावर्त के लोग उत्तर तरफ कम्बोज देश—पामीर बदख्शाँ—तक फैल गये। ईरान भी तब मध्य एशिया तक फैला हुआ था। उस दशा में दोनों में घनिष्ठ सम्पर्क रहा। ज़ेंद-अविस्ता की भाषा पह्लवी अर्थात् पूर्वी ईरान की है। जर्मन विद्वान् तोमास्चेक ने दिखाया है कि पूर्वी ईरान की बोलियों में से भी पामीर की मुंजानी बोली उसके निकटतम है। यों अविस्ता के कम्बोज देश में ही लिखे गये होने की सम्भावना है।

छठी शताब्दी ई० पू० में सीर और सिन्ध नदियों के काँठों से भूमध्यसागर तक पारसी साम्राज्य और फिर नवनन्दों के युग में यूनान से पंजाब तक यूनानी साम्राज्य स्थापित होने से भारत ईरान और यूनान के बीच विचारों का आदान-प्रदान स्पष्ट रूप से बढ़ा। तीनों देशों के दर्शन वैद्यक

गणित विज्ञान शिल्प और कला विषयक विचारों में एक-दूसरे से लेना-देना खूब हुआ। तीनो देशों के प्राचीन वाङ्मयों के कालक्रम से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ सकता है। भारतीय इतिहास की आधुनिक खोज जब से आरम्भ हुई तब से यह बात सबके सामने है। तो भी भारत में पिछले ३०-३५ बरसों में इस दिशा में कोई उल्लेख-योग्य प्रयत्न नहीं किया गया।

अलक्सान्दर की सफलता से यह स्पष्ट दिखाई दिया कि यूनानियों के सेना के संघटन और संचालन में कुछ विशिष्टता थी। कौटल्य और चन्द्रगुप्त ने उस विशिष्टता को देख-समझ कर इतनी जल्दी अपना लिया कि वे अलक्सान्दर के योग्यतम उत्तराधिकारी को उस कला में मात दे सके। मौर्य युग के भारतीयों की ग्रहण शक्ति का यह एक नमूना है। पारसी और यूनानी साम्राज्यों के प्रसंग में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भारत की सीमा तब स्पष्ट रूप से हेलमन्द (सेतुमन्त) नदी और हिन्दकोह तक मानी जाती थी।

§८. मौर्य राज्यसंस्था तथा कौटल्य के राष्ट्रीय आदर्श

मौर्य सम्राट् अपने को राजा और अपने साम्राज्य को **विजित** कहते थे। उस अर्थ में वह शब्द महाजनपद युग से चला आता था। विजित की सीमा पार के स्वतन्त्र पड़ोसी राष्ट्र **अन्त** कहलाते थे। सीमा के भीतर किनारों पर कुछ ऐसे जनपद थे जिन्हें हम आजकल की परिभाषा में संरक्षित राज्य कहेंगे; अशोक के अभिलेखों में उस अर्थ में शायद अपरान्त या राजविषय शब्द है, पर यह निश्चित नहीं। उन संरक्षित राज्यों में उत्तर तरफ गन्धार और कम्बोज तथा नाभक और नाभपंक्ति थे; दक्खिनपच्छिम तरफ रठिक भोज और पितनिक जो सब मिल कर आधुनिक महाराष्ट्र होता है, तथा दक्खिनपूरब तरफ अन्ध्र और पुलिन्द। नाभक नाभपंक्ति की विवेचना आगे की जायगी।

स भूधा विजित चार या पाँच खण्डों में बँटा था। स्व० पं० रामा-

वतार शर्मा के मतानुसार अशोक के चौथे स्तम्भाभिलेख में इन खण्डों को चक्र कहा है।* वे चक्र थे—मध्यदेश, प्राची, दक्षिणापथ, पश्चिम-देश और उत्तरापथ। भारत का इस प्रकार का विभाजन उत्तर वैदिक काल से चला आता था, और भारतीय जनता के इतिहास और कृष्टि की दृष्टि से यह आज भी उपयुक्त है। मौर्य युग में मध्यदेश और प्राची मिला कर शायद एक ही चक्र रहा हो। एक एक चक्र के अन्तर्गत अनेक जनपद थे। जनपदों के भीतर शासन की छोटी इकाइयाँ **आहार** (ज़िले) और **कोट्टविषय** (गढ़ों से शासित प्रदेश) थे। पुराने बसे हुए जनपद आहारों में बँटे थे; कोट्टविषय प्रायः **अटवी** प्रदेशों में थे।

शासन के संचालन को प्राचीन भारत में **अनुशासन** कहा जाता था।† विजित का अनुशासन राजा मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् की सहायता से चलाता था। चक्रों और उनके भीतर जनपदों के अनुशासन के निरीक्षण के लिए कुमार और महामात्य अथवा महामात्य नियत होते थे। जनपदों उनके अन्तर्गत नगरों और उनके विभागों के अनुशासन के लिए समाहर्त्ता, नागरक, स्थानिक, गोप, प्रदेष्टा आदि अधिकारी होते थे। प्रश्न यह है कि इन अधिकारियों के द्वारा राजा क्या मनमाने

---

* उसमें च का नि पाठ है। दूसरे विद्वानों ने च कानि दो शब्द माने।

† इस अर्थात् अंग्रेज़ी ऐडमिनिस्ट्रेशन के अर्थ में भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवाद में प्रशासन शब्द बर्त्ता गया है। पर प्राचीन भारतीय राज्यसंस्था में प्रशासन का अर्थ होता था राजा का राज पद पर प्रतिष्ठित होना (reign), जैसे—कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति। अनुशासन शब्द कुछ अरसे से हिन्दी अखबारों में नियमानुवर्त्तन (डिसिप्लिन) के अर्थ में चला हुआ है, पर उस अर्थ में नियमा-नुवर्त्तन ही कहना चाहिए। प्राचीन परिभाषाओं की परम्परा भूल कर उन्हें मन-माने नये अर्थों में चलाया जायगा तो भारतीय भाषाओं में प्राचीन भारत का वृत्तान्त लिखते हुए सदा गोलमाल होगा।

स्वेच्छाचारी ढंग से देश का शासन करता था अथवा किसी व्यवस्थित पद्धति से। इसका सीधा उत्तर यह है कि मौर्य विजित का अनुशासन सर्वथा व्यवस्थित था।

कौटलीय अर्थशास्त्र के **कण्टकशोधन** (फ़ौजदारी कानून) अधिकरण के अन्त (४.१३) में यह विधि है कि अदण्ड्य को दण्ड देने से राजा को उससे तीस गुना दण्ड मिले, और राजा से वह जुरमाना ले कर वरुण देवता को दिया जाय। वहीं **धर्मस्थीय** (दीवानी कानून) अधिकरण के आरम्भ (३.१) में कहा है—

> **अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।**
> **न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत्॥**

—धर्म व्यवहार संस्था और चौथे न्याय से अनुशासन करने वाला चारों अन्तों तक पृथ्वी को जीत लेता है। **धर्म** और **व्यवहार** की व्याख्या पीछे की जा चुकी है। **संस्था** का अर्थ था **समूहों** की **स्थिति** या **समय**। जहाँ इन तीनों में परस्पर-विरोध हो वहाँ न्याय अर्थात् **तर्क** से निर्णय किया जाता था। इससे ठीक पहले श्लोक में कहा है कि राजा को अपने पुत्र और शत्रु पर समान दण्ड धारण करना चाहिए। अर्थ-शास्त्र १.१३ में कहा है कि कर या बलि राजा की भृति है, और जो राजा उस भृति के बदले में न्याय से प्रजा का **योग** और **क्षेम** नहीं करता वह हराम की खाता है। यों यह स्पष्ट और निश्चित है कि मौर्य अनुशासन सर्वथा व्यवस्थित था, उसमें नियम की मर्यादा बनी रहती थी। तब प्रश्न यह है कि वह कौन सी शक्ति या शक्तियाँ थीं जिसके या जिनके बनाये नियमों के अनुसार मौर्य अनुशासन चलता था।

इस प्रश्न पर भी धर्मस्थीय से स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। वहाँ कहा है—

> **धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।**
> **विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥**

—विवादों (मुकदमों) के विषय के चार आधार होते **हैं—धर्म**

व्यवहार, चरित्र और राजशासन, इनमें से पिछला पहले का बाधक होता है। धर्म अर्थात् पुराने स्थापित सदाचार-सम्बन्धी प्रायश्चित्तीय नियमों से व्यवहार अर्थात् पुराने स्थापित दीवानी फौजदारी कानूनों का महत्त्व अधिक था। चरित्र इन दोनों को हटा कर इनका स्थान ले सकता था। **चरित्र** का अर्थ किया गया है पुरुषों के संग्रह अर्थात् समूहों का कार्य, उनका बनाया हुआ विधान। अगले युग के अभिलेखों में चरित्र शब्द स्पष्ट रूप से समूहों या निकायों के बनाये विधानों के अर्थ में बर्त्ता गया है। विशिष्ट दशाओं में राजा का आदेश चरित्र का भी बाधक हो सकता था। धर्म और व्यवहार पुरानी स्थितियों का समुच्चय थे; चरित्र और राजकीय आदेश उनमें परिवर्तन करने के उपाय थे।

चरित्र बनाने वाले प्रजा के छोटे-बड़े समूह या निकाय थे—ग्राम, श्रेणि, नगर और जनपद। अर्थशास्त्र में अन्यत्र (२. ७) यह कहा है कि राजा अपने मुख्य दफ्तर में **देश-ग्राम-जाति-कुल-संघातानां धर्म-व्यवहार-चरित्रसंस्थानं ··· निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्**—देश ग्राम जाति और कुलों के संघातों (समूहों, निकायों) के धर्म व्यवहार और चरित्र-संस्थान को ··· निबन्ध-पुस्तक में दर्ज करावे। यह निबन्ध-पुस्तक राजकीय रजिस्टर था जिसमें सब जनपदों ग्रामों आदि के बनाये चरित्र दर्ज किये जाते थे। अगले युग के अभिलेखों में **निबद्ध** शब्द स्पष्ट रूप से 'रजिस्टर किया गया' के अर्थ में आता है। यों प्रत्येक देश या जनपद का अपना अपना धर्म व्यवहार और चरित्र-संस्थान था, तथा जब तक किसी विशिष्ट दशा में राजा अपने शासन अर्थात् आदेश से उसे रद्द न करे, तब तक वह देश का विधान माना जाता और उसी के अनुसार अनुशासन चलता था।

धर्मस्थीय के दसवें अध्याय में ग्राम देश आदि के संघों के **समय के अनपाकर्म** अर्थात् ठहरावों के न तोड़ने विषयक नियम दिये हैं। उन समयों अर्थात् सामूहिक निश्चयों को तोड़ने पर धर्मस्थीय कचहरी में

मुकदमा चलता था। अर्थशास्त्र (२. ३३; ९.२) में **श्रेणीबल** अर्थात् श्रेणियों की सेना का उल्लेख है और उसे मित्रबल अर्थात् मित्रराष्ट्र की सेना से बेहतर कहा है। यों मौर्य युग में श्रेणियाँ देश की सेना में अपने सदस्यों को भरती कराने में भी सहायक होती थीं। मेगास्थनेस् ने पाटलिपुत्र का अनुशासन चलाने वाली तीस व्यक्तियों की सभा का ब्यौरा दिया है। वह मौर्य युग के नगरानुशासन का नमूना थी। अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा **आकर-कर्मान्त-प्रवर्त्तन** अर्थात् खानों और कारखानों को चलाने का भी उपदेश है। जो बड़े काम श्रेणियाँ न कर पातीं उन्हें राज्य स्वयं करवाता। राज्य की ओर से व्यापारी जहाज भी चलते, यद्यपि वह काम श्रेणियाँ भी करती थीं।

मौर्य विजित के अन्तर्गत जनपदों की कैसी प्रतिष्ठा थी उसकी झाँकी अर्थशास्त्र के **लब्धप्रशमन** (१३. ५) अध्याय से मिलती है। "नये (जनपद) को पा कर ··· प्रकृतियों (प्रजा) के प्रियों और हितों का अनुवर्त्तन करे। ··· प्रकृतियों के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं जमता। इसलिए (उनके) समान शील वेश भाषा आचार बना ले। देश के देवताओं समाजों उत्सवों और विहारों में ··· (जनता की) भक्ति का अनुवर्त्तन करे।" यों प्रत्येक जनपद का न केवल अपना शील वेश भाषा और आचार था, प्रत्युत अपने देवता, समाज (खेलों के मुकाबले), उत्सव और विहार (विनोद-यात्राएँ) भी होते थे, और विजेता को इन बातों में प्रजा का अनुसरण करना पड़ता था।

अर्थशास्त्र में राज्यसंस्था का जो चित्र हम पाते हैं उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि मौर्य साम्राज्य भारत के विभिन्न जनपदों और उनके अन्तर्गत ग्रामों श्रेणियों नगरों के स्तम्भों पर खड़ी रचना थी जो उनकी प्रजा के स्वेच्छाप्रदत्त सहयोग से चलती थी। उन जनपदों में उग्र स्वाधीन भावना होने से उन्हें कठिनाई से एक विजित में लाया जाता, पर एक बार सम्मिलित हो जाने के बाद उनके प्रशमन की नीति बर्त्ती जाती।

§९. मौर्य युग का आर्थिक सामाजिक 'व्यवहार'

अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय और कण्टकशोधन प्रकरण मौर्यकालीन व्यवहार की स्मृति हैं जिससे उस युग के आर्थिक सामाजिक जीवन पर भरपूर प्रकाश पड़ता है।

ग्राम देश आदि के संघों के समय को टूटने न देना उस व्यवहार का एक उद्देश्य है, सो कहा जा चुका है। ऋण के नियमों से पता चलता है कि **कान्तारक** (जंगल पार करने वाले) और सामुद्रिक व्यापारी १०% और २०% मासिक वृद्धि देते थे, जिसका यह अर्थ है कि वे नफा भी खूब बनाते होंगे। ऋण और क्रय-विक्रय के गवाहों को **श्रोता** कहा है, यद्यपि **साक्षी** (देखने वाले गवाह) का भी अन्यत्र उल्लेख है। इसका यह अर्थ है कि अभी बहुत से ठहराव जबानी होते थे। **सम्भूय समुत्थान** ('मिल कर उठने') के प्रसग में **संघभृताः** अर्थात् संघ रूप में भृति तय करके काम करने वालों तथा सम्भूय समुत्थात कर्षकों (किसानों) और व्यापारियों का भी उल्लेख है। इससे प्रकट है कि सम्मिलित पूँजी वाले व्यापारियों की तरह सहोद्योगी श्रमी तथा सामुदायिक (कलेक्टिव) खेती करने वाले किसान भी थे।

कण्टकशोधन प्रकरण में **कारुक-रक्षण**—शिल्पियों की रक्षा—सबसे पहला विषय है। मेगास्थनेस् ने लिखा है कि शिल्पी का हाथ काटने वाले को मृत्यु-दण्ड मिलता था। **आशु-मृतक-परीक्षा** की पद्धति भी थी। धर्मस्थों प्रदेष्टाओं और राजा तक के लिए दण्ड का विधान है। अग्नि आदि की **दैव** साक्षी का अर्थशास्त्र में नाम नहीं है, वह धर्मशास्त्रों की ही वस्तु है।

पारिवारिक कानून का आरम्भ विवाह से होता है। आठ प्रकार के विवाह गिनाये हैं, और उस गिनाने का प्रयोजन है उन सब को कानून की सीमा में लाना। ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य और दैव धर्म्य विवाह थे। प्राजापत्य का लक्षण था साथ मिल कर धर्माचरण, और वह भारतीय

विवाह का सर्वोच्च आदर्श था। चार अधर्म्य विवाह थे—गान्धर्व, आसुर, राक्षस या क्षात्र और पैशाच। पारस्परिक प्रेम से बिना संस्कार के किया हुआ विवाह गान्धर्व कहलाता। आसुर का अर्थ था स्त्री खरीदना। राक्षस विवाह युद्ध में हरने से और पैशाच सोती मूर्च्छित या उन्मत्त स्त्री को पकड़ लाने से होता था। अधर्म्य विवाहों को रोकना असम्भव था, अतः उन्हें मर्यादा में लाने के लिए उनपर बन्धन लगाये गये थे। वधू के माता पिता की स्वीकृति मिलने और वधू के लिए वृत्ति (स्त्रीधन) स्थापित होने से ये विवाह वैध हो जाते थे। गान्धर्व और आसुर विवाहों में पति यदि स्त्रीधन को कभी बर्त्ते तो उसे सूद-सहित वापिस देना होता था। राक्षस और पैशाच में यदि वह स्त्रीधन को छुए तो स्त्री उसपर चोरी का मुकदमा कर सकती थी (अर्थ० ३. २)। इससे प्रकट है कि स्त्री की रक्षा ही इन विवाहों को वैध बनाने में उद्दिष्ट थी।

अर्थशास्त्र में विवाह को साधारण ठहराव माना गया है और उससे **मोक्ष** (तलाक) पर एक पूरा अध्याय है। **परस्परं द्वेषान्मोक्षः**—परस्पर द्वेष होने से तलाक, यह माना हुआ सिद्धान्त था। एक ही तरफ से द्वेष हो तो दूसरे पक्ष की अनुमति से मोक्ष हो सकता था। ह्रस्व और दीर्घ प्रवास भी मोक्ष का कारण होते थे। "ह्रस्व-प्रवासियों ... की भार्याएँ एक बरस काल तक प्रतीक्षा करें यदि उनकी सन्तान न हुई हो; सन्तान हुई हो तो बरस से अधिक। ... धर्म-विवाह से ब्याही कुमारी प्रोषित पति की यदि उसका समाचार मिलता हो ... तो सात **तीर्थों** (ऋतु-कालों) तक प्रतीक्षा करे ...; प्रोषित (पति) का समाचार न सुना जाता हो तो पाँच तीर्थों तक ... उसके बाद धर्मस्थों की अनुज्ञा ले कर यथेष्ट (पुरुष को) प्राप्त करे।" यों, मौर्य काल में विरहिणियाँ नहीं होती थीं। स्त्री को दाय पाने का भी पूरा अधिकार था।

कौटल्य का दासों विषयक व्यवहार बड़े पते का है। उसमें **उदरदास** (पैदा हुए दास), **क्रीत** (खरीदे), **आहितक** (धरोहर रक्खे) और **ध्वजाहृत** (झंडे के नीचे अर्थात् युद्ध में पकड़े) दासों का उल्लेख

है। "उदरदास के सिवाय **आर्यप्राण** अप्राप्त-व्यवहार (नाबालिग) शूद्र को बेचने या धरोहर रखने को ले जाने वाले स्वजन के लिए १२ पण दण्ड। वैश्य को (ले जाने वाले के लिए) दूना। क्षत्रिय को तिगुना। ब्राह्मण को चौगुना। पराये आदमी (ले जाने वाले) के लिए पूर्व मध्यम उत्तम और वध दंड (अर्थात् शूद्र को ले जाने वाले के लिए पूर्व दंड, वैश्य को ले जाने वाले के लिए मध्यम आदि); क्रेता और श्रोताओं के लिए भी। म्लेच्छों को प्रजा बेचने या धरोहर रखने से दोष नहीं लगता। **न त्वेवार्यस्य दासभावः**—किन्तु आर्य को दास नहीं किया जा सकता।"

आर्यप्राण का अर्थ है जिसमें आर्य रक्त मिल चुका हो। म्लेच्छों से अभिप्राय यूनानियों से हैं जिनका साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की सीमा तक था। उनका समूचा जीवन दासों पर निर्भर था। यूनान के प्रजातन्त्रवादी दार्शनिक अरिस्तोतेलेस् ने दासत्व का समर्थन किया है। जो आथेन्स नगरी प्राचीन यूनानियों और आधुनिक पच्छिम-युरोपियों की दृष्टि में प्रजातन्त्र राज्यसंस्था में अग्रणी थी, उसके क्षेत्र में ३५ हज़ार स्वतन्त्र प्रजा थी और ३ लाख दास, अर्थात् १३ व्यक्तियों में से एक स्वतन्त्र! यों वह आदर्श प्रजातन्त्र अपनी ९२$\frac{1}{3}$% जनता के लिए कैदखाने से बदतर था। खेती-बाड़ी मेहनत-मजदूरी सब दास करते थे। भारत में वैसी दशा कभी नहीं रही। खेतों वाले दास तो यहाँ थे ही नहीं, जो थे वे घरेलू सेवा के लिए। इसी से मेगास्थेनेस् ने समझा कि भारत में दासत्व है ही नहीं। पर जो दास थे उन्हें भी जल्दी से जल्दी मुक्त कराना और जब तक वे मुक्त न हों तब तक उनसे बुरा बर्त्ताव न होने देना कौटल्य का ध्येय था, सो उपर्युक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित व्यवस्थाओं से प्रकट होगा।

"आहित दास से मुर्दा पाखाना पेशाब या जूठन उठवाना, उसे नंगा रखना या मारना, और स्त्रियों (दासियों) का अतिक्रमण (उनके) मूल्य को नष्ट कर देता है (अर्थात् वैसा करने से वे स्वतन्त्र हो जाते

हैं)। आहितक अकामा धाय का अधिगमन करने वाले स्वामी को प्रथम साहस दण्ड, दूसरे को मध्यम दण्ड। आहितक कन्या को स्वयं या दूसरे से दूषित कराने से मूल्यनाश, शुल्क (उस कन्या के विवाह के लिए शुल्क) और उससे दूना दण्ड। अपने को बेचने वाले की सन्तान को आर्य जाने। स्वामी का काम न बिगाड़ते हुए (दास) जो अपनी कमाई करे, (उसे) पाय। और पैतृक दाय को भी। और मूल्य (चुका देने) से आर्यत्व (स्वतन्त्रता) प्राप्त करे। वैसे ही उदरदास और आहितक। ··· आर्यप्राण ध्वजाहृत हो तो ··· आधे मूल्य से छूट जाय। (स्वामी के) घर में (दास रूप में) पैदा हुए, दाय में आये, लब्ध (पाये गये) या क्रीत में से किसी प्रकार के दास को, जो आठ बरस से छोटा और बन्धुहीन हो, उसकी इच्छा-विरुद्ध नीच कार्य में लगाने या विदेश में विक्रय या आधान (धरोहर रखने) के लिए ले जाने, अथवा सगर्भा दासी को उसके गर्भकाल में भरण-पोषण का प्रबन्ध किये बिना विक्रय या आधान के लिए ले जाने वाले को प्रथम साहस दण्ड। क्रेता श्रोताओं को भी। उचित निष्क्रय पाने पर दास को आर्य न करने वाले को १२ पण दण्ड। दास के द्रव्य के दायाद (उसके) सम्बन्धी होंगे। उनके अभाव में स्वामी। स्वामी से दासी में पैदा हुए को माता सहित अदास जाने। यदि कुटुम्ब की अर्थ-चिन्ता के लिए उसे घरेलू दासी बना रहना हो तो उसकी माँ, भाई और बहन अदास हो जायँ।"

इसे पढ़ कर सोचना चाहिए कि अरिस्तोतेलेस और कौटल्य में से कौन बड़ा लोकतन्त्रवादी था और किसकी मानवता की गहराई कितनी थी।

§ १०. अशोक की धर्मविजय नीति

तमिळनाड और सिंहल के सिवाय समूचा भारत मौर्य साम्राज्य में समा चुका था कि अशोक ने अपनी तलवार म्यान में रख ली और **दिग्विजय** के बजाय **धर्मविजय** की नई नीति की घोषणा की। उस नीतिपरिवर्त्तन की कड़ी आलोचना की गई है। मैंने उस विषय पर

अन्यत्र* विस्तार से विचार किया है।

नये विजय न करने की अशोक की वह नीति उसके अपने शब्दों में यह थी—"शायद आप लोग जानना चाहें कि जो अन्त अभी तक जीते नहीं गये हैं उनके बारे में राजा क्या चाहता है। मेरी अन्तों के विषय में यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं और मुझपर भरोसा रक्खें, वे मुझ से सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्त्ताव हो सकेगा राजा हमसे क्षमा का बर्त्ताव करेगा।"

"जो अटवियाँ देवताओं के प्रिय के विजित में हैं उनसे भी वह अनुनय करता है, उन्हें मनाता है। और चाहे देवताओं के प्रिय को अनुताप है, तो भी उसका बड़ा प्रभाव (शक्ति) है। इसलिए वह (आटविकों से) कहता है कि वे (बुरे कामों से) लज्जित हों, व्यर्थ में न मारे जायँ।"

इस नीति की आलोचना में स्व० आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा था—"यदि अशोक राजनीति में धर्मभीरु न बन जाता ··· यदि वह अपने पूर्वज की नीति को जारी रखता तो वह ईरान की सीमा से कन्या-कुमारी तक समूचे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) को वस्तुतः एकछत्र राज्य में ला सकता। वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ नहीं हो पाया।" स्व० डा० देवदत्त रा० भंडारकर ने जायसवालजी की बात को दोहराते हुए कहा था—"बिहार का छोटा सा मगध राज्य चन्द्रगुप्त के काल में हिंदू-कश से तमिळ देश की सीमा तक विस्तृत मगध साम्राज्य बन चुका था। ··· यदि धर्म का भूत अशोक के सिर पर सवार न हो गया होता तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने ··· तमिळ राज्यों और ताम्रपर्णी (सिंहल) को अधीन करके ही दम लिया होता, और शायद

---

* जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५७८–६१०; (१९४१)—भारतीय इतिहास की मीमांसा (१९५५ में मुद्रित) पृ० ४७–५५।

वे तब तक शान्त न होतीं जब तक भारत की सीमाओं के बाहर रोम की तरह साम्राज्य स्थापित न कर लेतीं। ··· इस नीति-परिवर्त्तन का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही उज्ज्वल रहा हो, राजनीतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ। भारतीयों के स्वभाव में ही शान्ति-प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हो गई और जम गई।···अशोक की धर्मचेष्टाओं से भारत की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गये।"*

भारतीय कृष्टि के इतिहास के लिए यह बड़े महत्त्व की समस्या है। मैंने यह निवेदन किया था कि "इस (आलोचना) की जड़ में तुलनात्मक इतिहास का गलत अन्दाज़ है। किसी एक महापुरुष की करतूत से समूची जाति का स्वभाव और इतिहास-मार्ग नहीं बदल सकता। यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतीयों में अपने समूचे देश को एक साम्राज्य में लाने की आकांक्षा और क्षमता थी, तो अशोक के दबाये वह न दबती। वह अशोक को गद्दी से उतार फेंकती जैसे उसने नन्द को उतार फेंका था, या अशोक के आँख मूँदते ही फिर प्रकट होती। ··· रोम या इतालिया की भारत से तुलना करना गलत है। रोम पाटलिपुत्र की तरह एक नगरी थी, और इतालिया मगध (या बिहार) की तरह एक जनपद; मगध का साम्राज्य रोम के साम्राज्य से अधिक विस्तृत अधिक आबाद और अधिक सुसंघटित तथा समृद्ध था। ··· समूचे भारत में मौर्य साम्राज्य ने और उसके उत्तराधिकारी साम्राज्यों ने जो राजनीतिक एकता और स्थिरता बनाये रक्खी, वह उससे निश्चय से अधिक थी जो कि रोम साम्राज्य ने अपने क्षेत्र में बनाये रक्खी या पैदा की।

"तो भी क्या यह अच्छा न होता कि अशोक ने कम से कम तमिळ

---

* का० प्र० जायसवाल (१९१६)—जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी (बिहार-उड़ीसा खोज-सभा की पत्रिका) पृ० ८३। दे० रा० भंडारकर (१९३३)—अशोक पृ० २४२–४४।

राष्ट्रों और सिंहल को साम्राज्य में मिला लिया होता ? बेशक, वह चाहता तो उन्हें जीत लेता, किन्तु उसके लिए भी कलिंग की सी कीमत देनी पड़ती। और फल यह होता कि समूचा भारत एक राज्य बन जाता, जिससे उसमें समान कानून और एकराष्ट्रीयता का विकास सुगम हो जाता। किन्तु क्या ये सब लाभ अशोक ने अपने **धम्मविजय** से ही न पा लिये थे ? क्या धम्मविजय शान्तिमय अनुप्रवेश न था ? कौटल्य के अर्थशास्त्र से हमें इसकी झलक मिलती है कि छोटे-छोटे जनपदों (को साम्राज्य में मिलाने) के लिए कैसे विकट साधनों का प्रयोग करना पड़ा था। जनपदों का वह असन्तोष साम्राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया और विद्रोह पैदा कर देता यदि अशोक ठीक मौके पर शान्ति और क्षमा की घोषणा न कर देता। उसकी गौरव के अवसर पर संयम की नीति ने देश की राजनीतिक स्थिरता और एकता को ढीला करने के बजाय उलटा पुष्ट किया। (देश में) आन्तरिक एकता पैदा करना अशोक की विशिष्ट नीति रही प्रतीत होती है। उसे **व्यवहार-समता** (कानून और न्याय-पद्धति की एकता) और **दण्डसमता** (शासन की एकता) अभीष्ट थी। ... क्या धम्मविजय की नीति वही चीज नहीं है जिसे हम शान्तिपूर्वक अनुप्रवेश कहते हैं ? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके वहाँ युद्ध क्यों किया जाय ? ... अशोक का नीति-परिवर्त्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की केवल नई करवट थी। किन्तु वह करवट सहज सयानेपन से प्रेरित सच्चा आन्तरिक परिवर्त्तन था। ... ।"

मेरी इस व्याख्या को जायसवालजी ने स्वीकार किया था। अशोक के धर्मविजय के बारे में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उस युग में भारतीयों का जितना ज्ञात जगत् था, अशोक ने उस सारे में धर्मविजय द्वारा अपना प्रभाव पहुँचाया। चीन को भारत और पच्छिमी देशों के लोग तब तक स्पष्टतया न जानते थे। पर पच्छिम तरफ यूनान और आधुनिक लिबिया तक अशोक ने धर्मविजय फैलाया।

फ़िलिस्तीन में इसके २½ शताब्दी बाद महात्मा ईसा प्रकट हुए।

अशोक ने पच्छिमी एशिया में जो धार्मिक प्रभाव फैलाया, उसके खमीर ने ईसा के धार्मिक संशोधन को कहाँ तक जगाया, यह इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसपर भारत के विद्वानों को ध्यान देना चाहिए।

§ ११. खोतन, नाभक, नाभपंक्ति

पामीर के पूरब ठेठ चीन की सीमा तक तारीम के काँठे में शकों से मिलती जुलती ऋषिक तुखार आदि आर्य-वंशी जातियाँ विचरती थीं। अशोक के ज़माने तक वे खानाबदोश पशुपालक दशा में थीं। अशोक ने तक्षशिला के कुछ अपराधियों को उस देश में निर्वासित कर खोतन उपनिवेश की नींव डाली।

अशोक ने अपने तेरहवें प्रधान शिलाभिलेख में कम्बोज के बाद नाभक और नाभपंक्ति प्रदेशों का उल्लेख किया है जो उसके विजित में थे। अन्यत्र मैंने यह सुझाव दिया है कि नाभक इसी प्रदेश का नाम है, विशेषतः खोतन के पूरब लोपनोर के काँठे में आधुनिक लालान के स्थान पर के जिस भारतीय उपनिवेश को चीनी यात्री य्वान च्वाङ ने नफ़ोभो कहा है उसका नाम नाभक का रूपान्तर प्रतीत होता है। नाभपंक्ति भी इसी देश के किसी अंश का नाम होना चाहिए। हम देखेंगे कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के पहले अंश तक भारतीय इस देश को पूरी तरह जान गये थे। चीन वाले उसके बाद इसमें आये। आगे बारह सौ बरस तक इसमें भारतीय उपनिवेश बने रहे जिससे सीता और तारीम के काँठे भारतीय कृष्टि के क्षेत्र बने रहे।

§ १२. तमिळ भाषा का लिपिबद्ध होना

तमिळ अनुश्रुति के अनुसार तमिळ भाषा को पहलेपहल अगस्त्य मुनि ने लिपिबद्ध किया और उसी ने उसका व्याकरण बनाया। यह घटना मौर्य युग की होनी चाहिए, क्योंकि इसके अगले युग में तमिळ

भाषा में वाङ्मय के पुष्प खिलने लगे। अगस्त्य का स्थान मधुरा (मदुरा) के दक्खिनपच्छिम पोद्दियील पर्वत कहा जाता है। तमिळ व्याकरणकार अगस्त्य उस प्राचीन अगस्त्य ऋषि का कोई वंशज या अनुयायी रहा हो सकता है, जो अनुश्रुति के अनुसार आर्यावर्त्ती कृष्टि को विन्ध्याचल के दक्खिन पहलेपहल ले जाने वालों में से था। उस अगस्त्य की याद परले हिन्द में भी बनी हुई है।

हमने देखा है कि पूर्वनन्द युग तक भारत में भाषाविज्ञान और व्याकरणशास्त्र की बड़ी उन्नति हो चुकी थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि ने लग० १८५ ई० पू० में 'महाभाष्य' लिखा। पाणिनि और पतञ्जलि के बीच अर्थात् मौर्य युग में व्याडि और कात्यायन नामक वैयाकरण हुए। यों जिस युग में भाषाविज्ञान का अनुशीलन उस ऊँचे स्तर पर चल रहा था उसी युग में तमिळ भाषा का भी ब्राह्मी लिपि में लिखा जाना और संस्कृत भाषाविज्ञान के अनुसार छाना बीना जाना सर्वथा संगत था। कृष्टि-इतिहास की वह बड़ी घटना थी। उसी नमूने पर पीछे न केवल अन्य तीन द्राविड भाषाएँ, प्रत्युत मध्य एशिया और परले हिन्द की कितनी ही भाषाएँ छानी बीनी गईं, और जब तक भारतीय कृष्टि में जीवन रहा, तब तक वह जिस नई भाषा के संपर्क में आई उसी पर अपना यह प्रभाव डालती रही।

§ १३. नन्द-मौर्य युग की कला

प्राचीन भारत में मूर्तियाँ ऋग्वेद-काल से थीं, चित्र भी कम से कम बुद्ध और पाणिनि के काल से अवश्य होते थे। जंगलों की बहुतायत के कारण साधारण लोगों के वास्तु तो क्या राज-प्रासाद तक लकड़ी के बनते (भद्दसाल जातक ४६५)। बुद्ध से पहले चैत्य और मन्दिर भी होते थे। उनकी नींवें और फर्श बहुत कर ईंट-पत्थर के होते—चैत्य नाम इसीलिए था कि वे चिनाई कर के बनाये जाते—पर ऊपर का अंश लकड़ी का रहता। वैदिक काल में शरीर या शरीर-धातुओं ('फूलों')

को तोप कर तूदा बनाने की चाल थी। उसी उलटे कटोरे के आकार के तूदे पर वृत्त और चारों ओर कटघरा लगाने से स्तूप का विकास हुआ। बुद्ध के शरीर-धातुओं पर आठ स्तूप बनाये गये थे।

उन आरम्भिक रचनाओं के अवशेष नहीं बचे। भारत में जो सब से पुरानी मूर्त्तियाँ मिली हैं वे मगध के राजा अजातशत्रु, उसके पोते अज उदयी और अज के बेटे नन्दिवर्धन की हैं। इन मूर्त्तियों को पहले दूसरी शताब्दी ई० की बनी यक्ष मूर्त्तियाँ माना जाता था। पर इनकी वास्तविकता को स्व० का० प्र० जायसवाल ने १९१९ में पहचाना। तब इस विषय पर बड़ा विवाद उठा, क्योंकि छठी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के भारतीय राजाओं की समकालिक मूर्त्तियाँ मिलने से युरोपी विद्वानों की अनेक स्थापनाएँ ढह जाती थीं। पर सभी श्रेष्ठ विद्वानों ने जायसवालजी का अनुसरण किया है।* इन मूर्त्तियों की "शैली इतनी विकसित है कि उसका आरम्भ ई० पू० छठी शताब्दी से कई सौ वर्ष पहले मानना पड़ेगा। इस शैली में काफी वास्तविकता है।...इनके रूप में इतनी मानवता है कि ये देवयोनि की मूर्त्तियाँ नहीं हो सकतीं।"

इसके बाद भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूनों में अशोक की कृतियाँ आती हैं। दिल्ली, साँची, कौशाम्बी, सारनाथ, लुम्बिनी और बिहार में अशोक के १३ स्तम्भ अच्छी दशा में खड़े हैं। "ये स्तम्भ अशोककालीन मूर्त्ति-कला के सार हैं।... ये सब चुनार के पत्थर के हैं और केवल दो भाग में बने हैं। समूचा लाठ एक पत्थर का है, उसी भाँति उसपर

---

* देखिये ज० बि० ओ० रि० सो० जि० ५ (१९१९) पृ० ५१२ प्र०, जि० ६ (१९२०) पृ० १७३ प्र० तथा ना० प्र० पत्रिका जि० १ (१९२०)। समूचे विवाद का सार भा० इ० की रूपरेखा (१९३३) पृ० ५०१-०५ में। उसके बाद मेरे ध्यान में यह आया कि एकाध और मूर्त्ति पर भी इस प्रसंग में विचार किया जाना चाहिए था जो नहीं हुआ, तथा प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ राय कृष्णदास ने अपना मत जायसवालजी के पक्ष में प्रकट किया; दे० कृष्णदास (१९३९)—भारतीय मूर्त्तिकला पृ० १४-१६।

का समूचा **परगहा*** भी ··· । इन दोनों भागों पर ऐसा ओप (पौलिश) किया हुआ है कि आँख फिसलती है, ··· उसमें इतना टटकापन है मानो कारीगर अभी पाड़ पर से हटा हो।···यह ओप अपने देश की प्रस्तर-कला की ऐसी विशेषता है जो संसार भर में अपना जोड़ नहीं रखती। इन स्तम्भों के लाठ गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। इनकी ऊँचाई तीस-तीस चालीस चालीस फुट है, वज़न हज़ार हज़ार बारह-बारह सौ मन ··· ये लाठ खान से अपने ठिकाने तक कैसे पहुँचाये गए, गढ़े-चमकाए गए, खड़े किए गए और इनपर इनके परगहे ठीक-ठीक जुहाए गए—ये सब ऐसे करतब हैं जिनपर विचार करने से अक्लि चकरा उठती है। ··· इन लाटों पर के परगहे ··· उभार कर और **कोर*** कर बनाई गई मूर्त्ति-कला के बड़े सुन्दर नमूने हैं। ··· जो भी अलंकरण चुने गए हैं वे ऐसी सफाई से, सच्चे नाप से, **कैंडे*** से और सजीवता से बने हैं कि संसार भर में कहीं भी प्रस्तर-कला इनसे आगे नहीं बढ़ी।" इन परगहों में सारनाथ का चार सिंहों वाला श्रेष्ठ है। उसके बाद अशोकीय मूर्त्तियों में पटने के पास दीदारगंज से मिली चामरग्राहिणी मूर्त्ति की गिनती है।

इन थंभों और मूर्त्तियों के बाद उल्लेखनीय हैं अशोक और उसके पोते दशरथ की बराबर पहाड़ियों (जि० गया) में कटवाई हुई गुफाएँ। "ये गुफाएँ बहुत ही कड़े तेलिया पत्थर की हैं जिनका काटना असम्भव सा है। परन्तु ये काटी ही नहीं गई हैं वरन् इनकी भीतों पर काँच सरीखी ओप भी की गई है।" ये गुफाएँ साधुओं के रहने को बनाई गई थीं, और इनकी रचना ठीक कुटिया के नमूने पर है, यहाँ तक कि इनकी छत भी "छाजन की नक़ल है, ··· जिसमें बत्तों (फूस के पूलों) की

---

* परगहा = खंभे के ऊपर या नीचे का साज (अलंकरण)। कोरना = चारों ओर से गढ़ना कि मूर्त्ति बेलाग हो जाय। कैंडा = समविभक्तता, अंगों का ठीक अनुपात से बना होना।

प्रतिकृति बनी ... है।" महाराष्ट्र में भाजा, कोंडानें आदि के गुहाचैत्य भी पिछले मौर्यों के युग के हैं।

मौर्य कला के कई पहलुओं जैसे अशोकीय स्तम्भों पर के परगहों, पाटलिपुत्र में निकले अशोक के सभाभवन के छेंकन* तथा मौर्य काल से कुषाण काल तक की वास्तु और मूर्त्तियों पर के अनेक अभिप्रायों* के विषय में कुछ विद्वानों ने कहा कि वे ईरान की कला से आये। पर कला-मर्मज्ञों ने दिखाया कि अशोकीय परगने का अभिप्राय शुद्ध भारतीय है—घड़े में से उठता सनाल कमल, सभाभवन की छेंकन में ईरानी प्रभाव खोजना निरर्थक है, तथा बाकी अभिप्राय स्वयं ईरानी कला में लघु एशिया से आये थे, और कि "जब लघु एशिया से भारत का प्राचीन और घनिष्ठ सम्बन्ध था तो सीधी बात यही है कि वहीं से उक्त अभिप्राय भारत में आए।...अपने यहाँ की अनुश्रुति भी यही है कि मूर्त्ति और वास्तु कलाओं का मुख्य प्राचीन आचार्य मय असुर था, साथ ही वह गणित ज्योतिष का आचार्य भी था।"†

———

* छेंकन = वास्तु का धरातल पर विभाजन, जिसपर वास्तु उभरता है (ले-आउट)। अभिप्राय = प्राकृतिक वा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलंकृत आकृति सजावट के लिए कला-कृति में बनाई जाय (मोटिफ़)।

† कृष्णदास (१९३९)—भारतीय मूर्त्तिकला पृ० २३–२६, ३२-३३, ३७–४२।

अध्याय ७

सातवाहन युग—बृहत्तर भारत का उदय

§१. चैद्य सातवाहन यवन शुंग

सेलेउकस् के चन्द्रगुप्त को अफगानिस्तान कलात लास-बेला सौंप देने के बाद भी यूनानी साम्राज्य ईरान मर्व और बलख तक फैला हुआ था। लग० २५० ई० पू० में बलख का यूनानी शासक स्वतन्त्र राजा बन बैठा। ईरान के उत्तरपूरबी प्रान्त (खुरासान) में पार्थव या पह्लव लोग रहते थे। दो पार्थव सरदारों ने तभी ईरान को स्वतन्त्र कर वहाँ अपना राजवंश स्थापित किया।

अशोक के २५ बरस पीछे मौर्य साम्राज्य के भी दूर के प्रान्त स्वतन्त्र होने लगे। कलिंग में चैद्य और महाराष्ट्र में सातवाहन या शालिवाहन राजवंश खड़ा हुआ; अफगानिस्तान का शासक सुभागसेन स्वतन्त्र हो बैठा। सुभागसेन की मृत्यु के बाद बलख के यूनानी राजा ने अफगानिस्तान को जीत लिया। उस राजा का बेटा देमेत्रियस् लग० १६० ई० पू० में गद्दी पर बैठा तो मौर्य साम्राज्य और ढीला पड़ चुका था। देमेत्रियस् ने पंजाब और सिन्ध जीते, फिर मथुरा अयोध्या और पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। मौर्य राजा बृहद्रथ ने अपने को गढ़ में बन्द कर लिया। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसे सेना का निरीक्षण करने बुला कर सेना के सामने तलवार के घाट उतार दिया, और तब राजहीन राजधानी में डट कर शत्रु का सामना किया। तभी कलिंग का जैन राजा खारवेल झाड़खंड पार कर राजगृह तक आ पहुँचा। उसे आता देख "यवन राजा डिमित घबड़ाई सेना और वाहनों को कठिनाई से बचा कर मथुरा को भाग गया।" खारवेल ने इसके बाद ठेठ हिन्दुस्तान और उत्तरापथ

(पंजाब) पर चढ़ाइयाँ कर वहाँ से भी यूनानियों को ठेला। उसने भारत के दक्खिन छोर तक भी दिग्विजय किया, पर कोई टिकाऊ साम्राज्य नहीं खड़ा किया।

पुष्यमित्र ने भी पीछे पंजाब तक यूनानियों का पीछा कर अश्वमेध यज्ञ किया। कुछ अरसे के संघर्ष के बाद बंगाल के समुद्रतट से मथुरा और नर्मदा तक नया शुंग साम्राज्य स्थापित हो गया। कापिशी, पुष्करावती, तक्षशिला और शाकल में चार छोटे छोटे यवन राज्य स्थापित हुए। उनके और शुंग साम्राज्यों के बीच पूर्वी और दक्खिनी पंजाब में यौधेय कुनिन्द आदि गणराज्य फिर उठ खड़े हुए। रावी काँठे का मालव और उसके पड़ोस का शिवि गण पंजाब से उठ कर पूरबी राजस्थान में आ बसा। यह दशा लग० १७५ ई० पू० से १०० ई० पू० तक बनी रही।

भारत के पच्छिम के सब देशों की व्यापारी भाषा इस युग में यूनानी थी। पह्लव राजाओं के सिक्कों पर के लेख केवल यूनानी में हैं। पर बलख के यूनानी राजाओं ने जैसे ही हिन्दकोह के दक्खिन पैर रक्खा, वे अपने सिक्कों पर प्राकृत भी लिखाने लगे, "कापिशी की नगर-देवता" "पुष्करावती देवी" और अन्य आर्यावर्त्ती देवताओं की मूर्त्तियाँ अंकित करने लगे, तथा उनमें से बहुतों ने भारतीय धर्म-कर्म अपना लिये। तक्षशिला के यूनानी राजा अन्तलिकित के दूत "भागवत हेलिउदोर" का
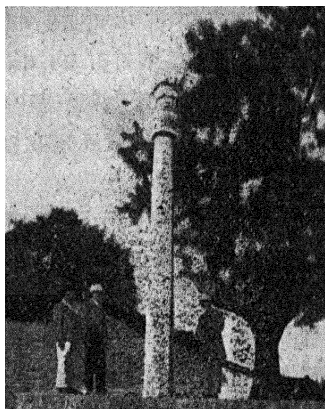
विदिशा में हेलिउदोर का गरुडध्वज

बनवाया हुआ "देवों के देव वासुदेव का यह गरुडध्वज" गरुड की मूर्त्ति के बिना विदिशा (भिलसा) में अब तक खड़ा है।

§ २. ऋषिक तुखारों का बलख कम्बोज आना

आधुनिक ठेठ चीन के उत्तरपच्छिमी भाग के चिन प्रदेश के राजा ने अशोक के ही युग में २४६ ई० पू० में ठेठ चीन के दूसरे सब राज्यों को अधीन कर अपना नाम शी-हुआङ ती अर्थात् पहला सम्राट् रक्खा। मंगोल मंचु देशों के उत्तर इर्तिश से आमूर नदी तक हूण लोग विचरते थे जो चीन पर धावे मारा करते थे। उनके धावों को रोकने के लिए उस पहले सम्राट् ने चीन की सारी उत्तरी सीमा पर भारी परकोटा बनवा दिया।

चीन की पच्छिमी सीमा पर लोपनोर के काँठे में ऋषिक लोग रहते थे। चीन की दीवार से रोके जा कर हूणों ने १७६ ई० पू० में—ठीक जब कि भारत में नये राज्यों का सन्तुलन स्थापित हुआ—ऋषिकों पर आक्रमण किया। ऋषिक उनसे हार कर तारीम के उत्तर **श्वेत पर्वत** के दक्खिन आधुनिक कूचा प्रदेश में जा बसे जहाँ उनसे पहले तुखार लोग रहते थे। ऋषिक तुखारों के राजा बन गये। महाभारत सभापर्व (अ० २८) में ऋषिकों के श्वेत पर्वत के पास रहने का उल्लेख है। उस पहाड़ को वह नाम भारतीय उपनिवेशकों ने दिया था जिसका चीनी अनुवाद **पाइ शान** अब तक उसका नाम है।

१६५ ई० पू० में हूणों ने ऋषिकों पर वहाँ भी चढ़ाई की। ऋषिक और तुखार तब थियानशान को लाँघ पच्छिम बढ़े और सीर नदी के काँठे में शकों की बस्ती में पहुँचे। उन्होंने शकों को वहाँ से भगा दिया और बलख को भी जीत वहाँ के यूनानी राज्य को मिटा दिया। वे बदख्शाँ-पामीर (कम्बोज) में भी फैल गये जिससे वह तुखार देश कहलाने लगा। उसके बाद वे हिन्दकोह के दक्खिन कपिश और गन्धार में भी उतरने लगे।

चीन सम्राट् वू-ती (१४२-८५ ई० पू०) को अपनी पच्छिमी सीमा

पर ऋषिकों के बजाय हूणों का आ जाना नहीं रुचा। १३८ ई० पू० में उसने चाङ-किएन नामक दूत को ऋषिकों को ढूँढ़ उनसे फिर सम्पर्क करने को भेजा। चाङ-किएन को रास्ते में हूणों ने पकड़ लिया और दस बरस कैद में रक्खा। पर कैद से छुटते ही वह फिर आगे बढ़ा और १२७ ई० पू० में वंक्षु के उत्तरी तट पर ऋषिक राजा के डेरे में जा पहुँचा। उसकी वह यात्रा विश्व-इतिहास की बड़ी घटना थी। उसके द्वारा चीन वालों को पहलेपहल पच्छिमी देशों का पता मिला।

बलख के बाज़ार में चाङकिएन ने चीनी रेशम और बाँस की बनी वस्तुएँ बिकती देखीं। पूछने पर उसे बताया गया कि दक्खिन तरफ़ विशाल शिन्-तू (सिन्धु = हिन्द) देश है जहाँ से वे आती हैं। चीन की दक्खिनपच्छिमी सीमा के किरात लोग भारत की उत्तरपूर्वी सीमा तक उस माल को ले आते थे, पर दोनों देशों के शिक्षित वर्गों को एक-दूसरे का पता न था।

चाङकिएन के लौटने पर पश्चिमी देशों से व्यापार बढ़ाना चीन के शासकों का विशिष्ट लक्ष्य बन गया। ११५ ई० पू० तक वूती ने हूणों को अपनी पच्छिमी सीमा से उत्तर तरफ़ खदेड़ दिया। तारीम काँठे में तब ३६ राज्य थे—कुछ भारतीय उपनिवेशकों के, कुछ स्थानीय सरदारों के। खोतन में अशोक के प्रायः सौ सवा सौ वर्ष बाद राजा विजयसम्भव ने अपना राजवंश स्थापित किया था। उसके प्रशासन में आर्य वैरोचन ने खोतन के पशुपालकों को लिखना सिखाया था, अर्थात् वहाँ की भाषा को पहलेपहल लिपिबद्ध किया था। सम्राट् वूती ने सोता तारीम काँठे के सब राज्यों से मैत्री स्थापित की।

§ ३. शकों का भारत आना

सीर काँठे से खदेड़े जा कर शक लोग हरात होते हुए लूटते मारते शकस्थान आने लगे। हरात और शकस्थान दोनों पार्थव राज्य में थे। दो पार्थव राजा शकों से लड़ते १२८ और १२३ ई० पू० में मारे गये।

उनके उत्तराधिकारी राजा मिथ्रदात २य ने शकों के संहार का निश्चय किया। उस दशा में वे लोग शकस्थान से सौवीर देश (सिन्ध) आये और उसे जीत यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। शकों के सरदार शाहि कहलाते, बड़ा राजा शाहानुशाहि और प्रान्तीय शासक क्षत्रप। सिन्ध से शकों ने सुराष्ट्र पर चढ़ाई कर वहाँ वृष्णिगण को मिटा उसे भी जीत लिया। फिर उज्जैन पर चढ़ाई कर उसे ले लिया (१०० ई० पू०)। राजस्थान में मालव गण को हराते हुए शुंग साम्राज्य से मथुरा छीन वहाँ भी उनका एक क्षत्रप वंश स्थापित हो गया (लग० ७५ ई० पू०)। शुंग राजा से तब मगध का राज्य भी उसके काण्व वंश के मन्त्री ने छीन लिया। दूसरी ओर उज्जैन और गुजरात से दक्खिन बढ़ते हुए शकों ने नासिक से पूने तक महाराष्ट्र का उत्तरपच्छिमी अंश सातवाहनों से ले लिया।

मथुरा से शक शाकल को बढ़े। रास्ते में रोहतक प्रदेश में यौधेयों के गणराज्य में और हिमालय-तराई में कुनिन्दगण के राज्य में तब बड़ी मारकाट मची। यौधेय पच्छिम हट कर सतलज पर जा बसे। सिन्ध से शक सीधे गन्धार को भी बढ़े और तक्षशिला और पुष्करावती से यवन राज्य मिटा वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। यों पूने से पुष्करावती तक शक क्षत्रप छा गये। यवन और शुंग राज्य उन्होंने मिटा दिये। उनके साम्राज्य के बीच घिरे हुए अनेक गणराज्य जहाँ तहाँ रह गये।

शकों के जो लेख मिले हैं उनसे उनका मुख्यतः जैन और बौद्ध धर्मानुयायी होना प्रकट होता है।

§४. सातवाहनों का चरम उत्कर्ष

मथुरा और मगध में शुंग साम्राज्य जब मिट रहा था, तभी प्रतिष्ठान (पैठन) में सातवाहन गद्दी पर गौतमीपुत्र सातकर्णि बैठा। उसने १८ बरस तैयारी कर के ५७ ई० पू० में उज्जैन के क्षत्रप वंश को हरा कर "निरवशेष कर" दिया। मथुरा में भी शकों की सफाई हो

गई । 'मालव गण उज्जैन के युद्ध में गौतमीपुत्र के साथ था और उसने उस जीत के उपलक्ष्य में मालव या विक्रम संवत् चलाया । शकों का पंजाब जीतना इसके बाद अधूरा रह गया । गन्धार में कुछ अरसे के लिए उनका राज्य बचा रहा ।

गौतमीपुत्र के साम्राज्य में समूचा दक्खिन भारत, सुराष्ट्र और मध्यमेखला का बड़ा अंश भी था । उसके बेटे वासिष्ठीपुत्र पुळुमावी ने लग० ३० ई० पू० में मगध और मध्यदेश को भी जीत लिया । तब अफगानिस्तान-पंजाब-सिन्ध के सिवाय प्रायः समूचा भारत सातवाहन साम्राज्य में आ गया । पुळुमावी ने अपने दूत रोम-सम्राट् औगुस्तुस् के पास भी भेजे । रोम में गणराज्य के बजाय साम्राज्य तभी स्थापित हुआ था ।

भारत में यह दशा आगे एक शताब्दी तक और कुछ व्यवधान के बाद फिर प्रायः ३० बरस तक बनी रही ।

§५. हरउवती-गन्धार का 'पह्लव' राज्य

कन्दहार शहर जिस अरगन्दाब या अरगन्द नदी पर बसा है उसका नाम 'अरखुती' का रूपान्तर है । उसका पुराना नाम हरह्वैती, हरक्वैती या हरउवती था, जो यूनानी उच्चारण में अरखुती हुआ । 'हरह्वैती' भी 'सरस्वती' का रूपान्तर था । अरगन्द नदी हेलमन्द (सेतु-मन्त) में मिलती है जिसकी निचली धारा भारत की सीमा थी ।

लग० ४० ई० पू० में शकस्थान में वनान नामक पुरुष ने नया राज्य स्थापित किया । उसने हरउवती को भी जीत लिया और वहाँ अपने भाई को उपराज रूप में बिठाया । शकस्थान वाले वनान के सिक्कों पर केवल यूनानी लेख हैं, पर हरउवती वाले सिक्कों पर प्राकृत भी । अर्थात् हरउवती (कन्दहार दून) भारत में थी । बलख और गन्धार से यूनानी राज्य मिट जाने के बाद भी काबुल में एक छोटा सा यूनानी राज्य चला आता था । वनान के कनिष्ठ भाई स्पलिरिष ने उसे

भी जीत लिया। फिर श्पलिरिष के बेटे श्रय या श्रज ने शकों से गन्धार भी ले लिया। लग० १० ई० पू० से १० ई० तक श्रय का बेटा गुदुह्वर इस राज्य का राजा रहा। सब मिला कर इस वंश का राज्य हरउवती-काबुल-गन्धार और शायद सिन्ध में आधी शताब्दी रहा। इस वंश को पह्लव या हिन्दी-पार्थव कहा जाता है, पर इसका स्थानीय पठान होना भी सम्भव है। इसके राजा सिक्कों पर अपने को **धार्मिक** कहते हैं जिसका अर्थ माना गया है बौद्ध-धर्म-अनुयायी।

§ ६. कम्बोज-गन्धार में ऋषिक राज्य

ऋषिक लोग कम्बोज से हिन्दकोह के घाटों द्वारा धीरे धीरे कपिश और स्वात (उत्तरी गन्धार) में भी उतर आये। लग० २५ ई० पू० में कुषाण कफ्स नामक उनका सरदार कम्बोज-कपिश-स्वात के सब ऋषिकों का मुखिया बन गया था। २ ई० पू० में उसने अपने राजा बनने की सूचना चीन-सम्राट् के पास भेजी, और साथ ही पहलेपहल बौद्ध धर्म का एक ग्रन्थ चीन भेजा। गुदुह्वर के बाद कुषाण कफ्स ने पह्लव राज्य को भी जीत लिया। उसकी राजधानी बदख्शाँ में थी।

कुषाण के उत्तराधिकारी विम कफ्स ने पूरबी पंजाब और मथुरा तक अपना राज्य फैलाया। ऋषिकों और शकों का रंगरूप वेशभूषा एक सी होने से भारत के लोग ऋषिकों को भी शक कहते। विम के पूरब बढ़ने पर सवा सौ बरस पुराना शक-सातवाहन युद्ध फिर छिड़ा माना गया। भारतीय ज्योतिषियों की अनुश्रुति है कि विक्रमादित्य की जीत के १३५ वर्ष बाद उसका वंशज शालिवाहन फिर शकों से लड़ा, उसने शक राजा पर पूरब से चढ़ाई कर मुलतान के पास करोड़ की लड़ाई में उसे मारा, तब से शालिवाहन-शकाब्द चला। मुलतानी दन्तकथा के अनुसार रावलपिंडी तरफ के राजा सिरकप का बेटा रिसालू विक्रमादित्य के वंशज शालिवाहन के हाथ करोड़ की लड़ाई में मारा गया। आधुनिक युग की लम्बी खोज-जाँच भी अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँची है कि विम की मृत्यु

७८ ई० में इस प्रकार हुई। 'सिरकप' का अर्थ है श्री कफ्स और 'रिसालू' 'ऋषिक' का तुच्छतासूचक रूप है। कुषाण कफ्स बौद्ध था, पर विम शिव का उपासक था। उसके सिक्कों पर नन्दी सहित शिव की मूरत है।

§७. मध्य-एशिया में खोतन और चीन के साम्राज्य

विम जब पूर्वी पंजाब की ओर अपना राज्य बढ़ा रहा था तभी (लग० ६० ई०) खोतन के राजा ने नीया से काशगर तक के १३ राज्यों पर आधिपत्य जमा लिया। ७३ ई० में चीन के सम्राट होती ने सेनापति पानछाओ को वहाँ भेजा। खोतन-राज की सहायता से पानछाओ ने उस सारे देश से चीन का आधिपत्य मनवा लिया। फिर पच्छिम के पहाड़ों को लाँघ सुग्ध को जीतते हुए कास्पी सागर के तट पर चीन का झंडा जा गाड़ा। तारीम काँठे के उत्तरपूरबी छोर पर कुचि (कूचा) को अपना अधिष्ठान बना पानछाओ १०२ ई० तक चीन के उस मध्य-एशियाई साम्राज्य का शासन करता रहा। उसके बाद चीनी प्रभाव की बाढ़ मध्य एशिया से उतर गई।

§८. पेशावर और पैठन के साम्राज्य

करोड़ की लड़ाई के बाद पंजाब के छोटे छोटे राज्य और गणराज्य फिर उठ खड़े हुए, गन्धार में ऋषिक सरदार बने रहे। सीता-तारीम काँठों में खोतन राज्य की शक्ति बनी हुई थी। ऋषिकों की एक छोटी खाँप के मुखिया कनिष्क ने खोतन-राज विजयसिंह के बेटे विजयकीर्त्ति और कुषाण-वंशी राजा को साथ ले उत्तर भारत पर चढ़ाई की। गन्धार से करोड़ तक सारे पंजाब को, फिर मथुरा और अयोध्या को ले उन्होंने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर वहाँ के राजा को हराया। वह राजा कोई सातवाहन था कि स्थानीय इसपर प्रकाश पड़ना बाकी है। सारे उत्तर भारत पर कनिष्क ने अपने क्षत्रप नियुक्त कर दिये। इसके बाद उसने अफगानिस्तान की सीमा पर पार्थव राजा को हराया और सीता-तारीम काँठे के सब राज्यों को आधिपत्य में लेते हुए ठेठ चीन की सीमा तक

अपना प्रभाव पहुँचा लिया। पुष्करावती के दक्खिन पुरुषपुर (पेशावर) बसा कर उसे उसने अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाया। उसने अपना संवत् भी चलाया जिसका आरम्भ लग० १०८ ई० में है। अनेक भारतीय विद्वान् ७८ ई० के शकाब्द को कनिष्काब्द मानते हैं, पर पानछाओ के रहते कनिष्क का आधिपत्य चीन की सीमा तक नहीं हो सकता था।

कनिष्क ने अपने सम्बन्धी षस्तन या चष्टन को अपने महाक्षत्रप रूप में भारत का पश्चिमदेश अर्थात् सिन्धु-सौवीर कच्छ सुराष्ट्र अवन्ति आदि जीतने का काम सौंपा। ऋषिकों और सातवाहनों का युद्ध तब उत्तर भारत से हट कर पच्छिम भारत में आ गया। चष्टन एक बार इन जनपदों का महाक्षत्रप बन बैठा। पर पीछे राजा गौतमीपुत्र पुळोमावी ने अवन्ति और सुराष्ट्र वापिस ले लिये। क्षत्रप राज्य तब कच्छ और सिन्धु-सौवीर में रह गया। चष्टन के पोते रुद्रदामा ने अपनी बेटी गौ० पुळोमावी के बेटे वासिष्ठीपुत्र चकोर सातकर्णि को ब्याह दी। बीस बरस पीछे, गौ० पुळोमावी की मृत्यु के बाद, रुद्रदामा ने सुराष्ट्र और अवन्ति पर फिर चढ़ाई की और "दक्षिणापथपति सातकर्णि को दो बार खुली लड़ाई में जीत कर भी निकट सम्बन्ध के कारण नहीं उखाड़ा।" उन जनपदों की प्रजा ने रुद्रदामा को "रक्षण के लिए पति रूप में वरा"। अपनी उत्तरी सीमा पर, करोड़ के पास, रुद्रदामा ने "सब क्षत्रियों में प्रसिद्ध हुई अपनी वीर पदवी के कारण अभिमानी बने अविधेय यौधेयों को ज़बरदस्ती उखाड़ डाला"। यौधेय गण इससे पहले किसी के अधीन न हुआ था और विम के विरुद्ध सातवाहन राजा को शायद उसी ने अपनी सहायता के लिए बुलाया था।

कनिष्क की चढ़ाई से प्रकट हुई सातवाहनों की कमज़ोरी से लाभ उठा कर तमिळनाड के चोल चेर पाड्य राज्य भी स्वतन्त्र हो गये।

भारत का यह राजनीतिक नक्शा, अर्थात् उत्तर भारत अफगानिस्तान बलख कम्बोज सुग्ध और सीता तारीम काँठे में कनिष्क-वंशजों का साम्राज्य,

दक्खिन भारत में पैठन का सातवाहन साम्राज्य और पच्छिम भारत में क्षत्रप राज्य, कनिष्क के काल से प्रायः ११ दशाब्दियों तक बना रहा। सातवाहन राज्य लग० २१० ई० पू० से २२० ई० तक कभी भारत की एक बड़ी और कभी एकमात्र शक्ति के रूप में लगातार बना रहा। इसलिए हम इस सारी अवधि को सातवाहन युग कहते हैं।

§ ९. सीता-काँठे का हिन्द

सातवाहन युग के राजनीतिक इतिहास का जो खाका ऊपर दिया गया है उससे प्रकट है कि सीता और वंक्षु के काँठों का गंगा काँठे से तब कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध था। पामीर और ठेठ चीन के बीच के देश से भारतीय कृष्टि के जो अवशेष मिले हैं, उनसे उसका अशोक के ज़माने से १००० ई० तक भारत का एक भाग ही होना सिद्ध हुआ है। इसी से फ्रांसीसी विद्वानों ने उस अवधि के लिए उसका नाम सेरिंदिया (Ser-india) रक्खा है जिसका शब्दार्थ होता है चीन-हिन्द। मैंने हिन्दी में उस अर्थ में 'उपरला हिन्द' या 'चीन-हिन्द' नाम चलाने का यत्न किया, पर हमारे शिक्षित वर्ग ने उन नामों के तत्त्व को समझा नहीं। सीता-तारीम संगम के आगे तारीम की धारा को भी हम सीता कह सकते हैं। वह अर्थ लेते हुए हम इस सारे देश को सीता काँठा कहें तो वह नाम हमारे शिक्षित वर्ग के ध्यान में उक्त तत्त्व को शायद अधिक अच्छा ला दे।

कम्बोज की राजधानी द्वारका थी, जिसे डा० मोतीचन्द्र ने पामीर के दरवाज़ नगर में पहचाना है। पामीर की रीढ़ उसकी पूरबी सीमा पर उत्तर-दक्खिन समानान्तर फैले सरीकोल और कन्दर पर्वतों से बनी है। दोनों के बीच की दून अब तागदुम्बाश पामीर कहलाती है। चीनी यात्रियों ने उसका जो नाम लिखा है वह कबन्ध जैसे किसी संस्कृत नाम का रूपान्तर है। उसके पूरब सीता की उपरली धारा पर चोक्कुक देश था जो अब यारकन्द कहलाता है। यारकन्द के उत्तर काशगर है,

जिसका नाम खश जाति के नाम पर माना जाता है। खश लोग नेपाल से कश्मीर तक सारे हिमालय में अब भी हैं। काशगर का चीनी नाम सू-ले भी संस्कृत-मूलक है, पर उसका मूल अब तक चीन्हा नहीं गया। काशगर और चोक्कुक के बीच का प्रदेश उष या ओष था, जिसे अब यंगे-हिसार सूचित करता है। चोक्कुक के पूरब पहाड़ों की तलहटी में खोतन राज्य था जिसके उत्तर रक्षक और पूरब भीम और निजांग (नीया) प्रदेश थे। तुखारों का पहला अभिजन नीया के पूरब था। उसके पूरब चल्मद प्रदेश था और फिर लोप झील के काँठे में नाभक, जिसे चीनी नफ़ोभो कहते थे। खोतन से नाभक तक सब प्रदेशों के उत्तर तकलामकान मरुभूमि फैली है। नाभक से चीन की पच्छिमी सीमा की तुएन-ह्वाङ बस्ती तक भी मरुभूमि है।

तकलामकान के उत्तर तारीम नदी है जिसके और थियानशान के बीच उत्तरी उपनिवेश-परम्परा थी। इनमें काशगर के पूरब भरुक देश (आधुनिक उच-तुरफान) था, फिर कुचि (कूचा) और अग्नि। अग्निपुर का तुर्की अनुवाद यंगे-शहर अब भी उसका नाम है। कुचि और अग्नि के उत्तर श्वेत पर्वत था। महाभारत में श्वेत पर्वत के पहले ऋषिकों के उल्लेख से सिद्ध है कि महाभारत का वह अंश १७६–१६५ ई० पू० के बीच लिखा गया और कि उस काल में आर्यावर्त्त के लोग श्वेत पर्वत तक पहुँच चुके थे। अग्निपुर के पूरब आधुनिक तुरफ़ान के स्थान पर एक और भारतीय उपनिवेश था, जिसका मूल नाम नहीं मिला, पर जिसे छठी शताब्दी ई० में चीनी लोग कौशाङ कहते थे। नाभक और कौशाङ आर्यावर्त्ती उपनिवेशन के पूरबी छोर थे।

उक्त जनपदों में से खोतन और कुचि के राज्य सब से समृद्ध और शक्तिशाली रहे। कनिष्क और उसके वंशजों के युग में सीता काँठे की राजभाषा गन्धार की प्राकृत रही, जिसके बहुत लेख पाये गये हैं। इन उपनिवेशों में कितना अंश भारतीय प्रवासियों का था और कितना उनसे प्रभावित ऋषिक-तुखारों का, सो आज नहीं कहा जा सकता। शक

ऋषिक तुखार लोग वंश से आर्य और आर्यभाषी ही थे। सीता काँठे में आर्यावर्त्ती कृष्टि की दीक्षा ले कर ऋषिक-तुखार सीर और वंक्षु के मुहानों तथा खीवा तक भी जा बसे, जहाँ उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। यों उनके कारण समूचा मध्य एशिया तब भारतीय कृष्टि का क्षेत्र बन गया। तुर्कों के आने के बाद भी उस दशा में विशेष अन्तर नहीं पड़ा। समरकन्द बलख आदि जो कृष्टि के केन्द्र उन्होंने स्थापित किये, वे इस्लाम के आने के बाद भी चमकते रहे और इस्लाम स्वयं उनसे बहुत प्रभावित हुआ।

भारत में कनिष्क वंश के राज्य को कुछ लोग विदेशी कहते हैं। अंग्रेज़ी ज़माने के नक्शे से उनके मस्तिष्क इतने जकड़े हैं कि वे प्राचीन परिस्थति में सोच ही नहीं सकते। उत्तर वैदिक और महाजनपद काल में जैसे दक्खिन भारत में आर्यावर्त्ती उपनिवेश स्थापित हुए, वैसे ही मौर्य सातवाहन युगों में सीता काँठे में। यदि उसके बाद दक्खिन के किसी आर्यप्राण द्राविड राजा के उत्तर भारत पर राज्य को हम विदेशी नहीं कहते तो सीता काँठे के आर्यावर्त्ती जीवन में दीक्षित किसी राजा के राज्य को कैसे विदेशी कह सकते हैं?

§ १०. "गंगा पार का हिन्द"

महाजनपद युग में भारत के लोगों ने सुवर्णभूमि को पहलेपहल जाना था, अशोक के प्रशासन में वहाँ धर्मविजयी गये, सातवाहन युग में वहाँ भारतीय उपनिवेश खड़े हो गये। पूरब के ये देश और द्वीप भारतीयों के वहाँ जाने तक जंगलों से ढके थे, जिनमें आग्नेय वंश के लोग नवाश्मी आखेटकों का जीवन बिताते थे। इसीसे इस तरफ से भी भारत और चीन का सम्पर्क न था। धीरे धीरे वहाँ भारतीय बस्तियाँ बसीं। आधुनिक बरमा और मलाया के तट पर कई छोटी बस्तियाँ थीं। सात-वाहन साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के युग (५७ ई० पू०–६० ई०) में व्येतनाम के दक्खिनी तट पर पांडुरंग और कौठार नामक दो उपनिवेश खड़े

हुए। पांडुरंग सैगोन से दो सौ मील उत्तरपूरब आधुनिक फनरन या पडरन है। कौठार उसके उत्तर था; वहाँ श्रीमार राजकुल का राज्य था। इनके पच्छिम मेकोङ के मुहाने से बरमा के तेनासरीम तट तक तथा १५° अक्षांश से समुद्र तक फैला एक बड़ा राज्य था, जिसे चीनी लोग फूनान कहते थे। उसका मूल संस्कृत नाम अभी तक नहीं मिला। फूनान की स्थापना दक्खिन भारत के कौण्डिन्य ब्राह्मण ने की थी। उसने वहाँ जा कर सोमा नागी अर्थात् किसी नागपूजक आग्नेय जाति की लड़की से विवाह किया था जिससे उनके वंशज सोम वंश के कहलाए।

मलका प्रायद्वीप में तक्कोल, सिंहपुर (सिंगापुर) आदि बस्तियाँ थीं। उसके दक्खिन के बड़े द्वीप (सुमात्रा) का नाम सुवर्णद्वीप पड़ चुका था। उसके आगे यवद्वीप था। 'यव' का ही रूपान्तर 'जावा' है। उसमें सरयू नदी अब तक है। पर यवद्वीप में उस युग में उसके आगे वाली द्वीपाली भी गिनी जाती थी, क्योंकि वाल्मीकि रामायण के अनुसार उसमें शिशिर पर्वत था जो अब इरियान (न्यू गिनी) में है।

सुवर्णभूमि के साथ सब से पुराना व्यापार-सम्बन्ध चम्पा (भागलपुर) के लोगों का था। उन्होंने सुवर्णभूमि के पूरवी छोर पर चम्पा उपनिवेश स्थापित किया, जो कौठार और पांडुरंग को जीत कर १९२ ई० में बड़ा राज्य बन खड़ा हुआ। कौठार के उत्तर उसका विजय और उसके उत्तर अमरावती प्रान्त था। चम्पा की राजधानी इन्द्रपुर अमरावती में थी।

रोम के लोग भारत के पूरब के इन देशों और द्वीपों को इंदिया त्रान्स-गांगेतिका—गंगा पार का हिन्द—कहते थे। युरोप के लोग अब भी इन्हें परला हिन्द (फ़र्दर इंडिया) ही कहते हैं, जो बिलकुल ठीक है।

ध्यान रहे कि इन उपनिवेशों की स्थापना केवल आर्यावर्त्ती कृष्टि का फैलाव न था, वह स्पष्ट आर्थिक राजनीतिक फैलाव था, और उसकी प्रेरणा बौद्ध धर्म से नहीं मिली थी। इनके संस्थापक प्रायः शैव थे।

सुवर्णभूमि में भारतीयों का जाना-आना बुद्ध के जन्म से भी पहले से चल रहा था।

§ ११. चीन और रोम से सम्बन्ध

सीता काँठे और सुवर्णभूमि के भारतीय उपनिवेशकों द्वारा आबाद किये जाने से चीन के साथ भारत का सम्बन्ध स्थल और जल दोनों रास्तों से हो गया। दोनों देशों में वस्तुओं और विचारों का विनिमय होने लगा।

६८ ई० में ऋषिकों के भारतीय राज्य से धर्मरत्न और कश्यप-मातंग नामक भिक्षु चीन गये। चीन की राजधानी सीङानफू में, जो अब शेनसी प्रान्त का मुख्य नगर है, उनके लिए पो-मा-सी अर्थात् श्वेताश्व नामक विहार स्थापित किया गया। १४४ ई० में लोकोत्तम नामक भिक्षु उस विहार में पहुँचा। वह जन्म से पार्थव युवराज था, पर भिक्षु हो गया था। उसने पहलेपहल संस्कृत ग्रंथों का चीनी अनुवाद आरम्भ किया। उसके एक चीनी शिष्य ने चीन में पहलेपहल संस्कृत पढ़ी।

पच्छिमी एशिया और मिस्र में जब तक यूनानी राज्य रहे, उनके साथ भारत का अच्छा वाणिज्य रहा। दूसरी शताब्दी ई० पू० में जब बलख के यूनानी राज्य को ऋषिक-तुखारों ने मिटाया, तभी रोम वालों ने पच्छिम के सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया। रोम का साम्राज्य भूमध्य-सागर के चौगिर्द था। भारतीय नाविक उसके सब प्रदेशों में पहुँचते। लग० १०० ई० पू० में कुछ भारतीय अपने जहाज के साथ दिशामूढ हो जर्मनी के उत्तरी तट पर एल्ब नदी के मुहाने पर जा लगे। वहाँ तब सुएव नामक जर्मन जाति रहती थी। सुएवों के राजा ने उन्हें अपने पड़ोस के उत्तरी इतालिया के शासक क्विन्तुस् मेतेल्लुस् चेल्लेर के यहाँ भेजवा दिया। वहाँ जब उन्होंने लातीनो में खुल कर बातचीत की तब पता चला कि वे भारतीय हैं। वह भारतीय जहाज जर्मनी के उत्तरी तट पर कैसे पहुँचा यह इतिहास की बड़ी समस्या है। बहुत सम्भव है वह

मिस्र के उत्तरी छोर से ही चला था।

भारत से रोमी साम्राज्य को हाथीदाँत का सामान, सुगन्धि द्रव्य, मसाले, मोती, कपड़े आदि जाते और बदले में अधिकतर सोना आता। ७७ ई० में रोमी लेखक प्लिनी ने लिखा कि भारत रोमी साम्राज्य से प्रति वर्ष ५½ करोड़ सेस्तर्के (लगभग ६ लाख अशर्फी) खींच ले जाता है और "वह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों के लिए देनी पड़ती है।" पेत्रोनिउस् नामक लेखक ने रोमी स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा कि वे "बुनी हुई हवा की जालें" (भारतीय मलमल) पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं!

एक ओर रोम और पार्थव तथा दूसरी ओर चीन और सुवर्ण-भूमि के बीच होने से भारत इस युग में सारे सभ्य जगत् का मध्यस्थ हो गया।

अध्याय ८

स्मृतियों दर्शनों पौराणिक धर्म और महायान का उदय

§ १. सातवाहन युग का वाङ्मय

अ. स्मृतिग्रन्थ

अन्तिम मौर्य राजाओं ने अशोक की क्षमानीति के ढोंग से अपनी कमज़ोरी को जो ढकना चाहा, और बौद्ध शिक्षा की प्रेरणा से बहुत लोग प्रव्रज्या ले कर जीवन की ज़िम्मेदारियों से जो भागने लगे, उसकी तथा यवन शक ऋषिक चढ़ाइयों से हुई उथल-पुथल की स्पष्ट प्रतिक्रिया और प्रतिध्वनि इस युग के समूचे वाङ्मय में है। उसमें प्रथम उल्लेखनीय रचनाएँ मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति हैं।

मनुस्मृति के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसे भृगु-प्रोक्त कहा है अर्थात् वह किसी भृगुवंशी की कृति है। नारद स्मृति में मनुस्मृति को स्पष्टतः सुमति भार्गव की कृति बताया है। सुमति भार्गव मानव चरण या सम्प्रदाय का होगा, इसलिए अपनी कृति को उसने मनुस्मृति कहा। जर्मन विद्वान् बिउह्लेर ने बड़ी छानबीन के बाद उसका काल २०० ई० पू० और १०० ई० के बीच नियत किया। जायसवालजी ने कहा वह पतञ्जलि के महाभाष्य के ठीक बाद की, १५०–१२० ई० पू० के बीच की, रचना है।* महाभाष्य में पह्लवों का उल्लेख न होने और मनुस्मृति में होने को जायसवालजी ने एक युक्ति रूप में पेश किया। पर उस

---

* गेओर्ग बिउह्लेर (१८८६)—मनुस्मृति का अंग्रेज़ी अनुवाद, सैक्रेड बुक्स औफ़ दि ईस्ट (प्राच्य-धर्मग्रन्थ-माला) जि० २५, भूमिका पृ० ९७-९८; का० प्र० जायसवाल (१९१७, १९३०)—मनु ऐंड याज्ञवल्क्य (मनु और याज्ञवल्क्य) पृ० ३२।

युक्ति का अब कुछ मूल्य नहीं है, क्योंकि महाभारत सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व से यह प्रकट है कि लग० १७० ई० पू० में आर्यावर्त्त के लोग तारीम काँठे से कास्पी सागर तक के देशों को जानते थे (ऊपर पृ० ३१–३२, १४४, १५२)। तो भी जायसवालजी की निश्चित की हुई मनुस्मृति की तिथि बिलकुल ठीक है। वह निश्चय से कोटलीय अर्थ-शास्त्र के बाद की ओर कुरुक्षेत्र मत्स्य-शूरसेन प्रदेशों के शकों द्वारा जीते जाने (लग० ८५ ई० पू०) से पहले की रचना है, क्योंकि उन प्रदेशों को वह आचार में अग्रणी बताती है (२. १७–२०) तथा उसमें शुंग युग के विचार उत्कट रूप में हैं। मनुस्मृति धर्मसूत्रों का अनुसरण करती है, पर उसमें अर्थशास्त्र का राजधर्म और 'व्यवहार' भी प्रायः समूचा मिला दिया गया है। यही उसकी नवीनता है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति भी मनुस्मृति की तरह धर्म-व्यवहार-स्मृति है, पर उसमें व्यवहार का अध्याय अलग है। उसके प्रायश्चित्ताध्याय में योग वाला अंश पीछे का प्रक्षिप्त है। याज्ञवल्क्य-स्मृति का काल उसमें नाणक सिक्के के उल्लेख (२. २४०-४१) से निश्चित होता है। नाना प्राचीन अश्शुर राज्य के एलम (=पारस के सूसा) प्रदेश की देवी थी। कनिष्क ने दूसरे अनेक देवताओं की तरह उसकी मूरत वाला सिक्का भी चलाया जो नाणक कहलाया। कनिष्क-वंशजों के सिक्के प्रायः शैव होने से पीछे उसकी व्याख्या की गई—**नाणं शिवाङ्कं टंकादि**। यों याज्ञवल्क्य-स्मृति का समय १५०–२०० ई० के बीच आता है, जो उसके परिस्थिति-चित्र से ठीक समर्थित होता है।

स्मृतियों के विधान क्या अपने युग के वास्तविक विधान—कानून बनाने वाली शक्ति के आदेशों के समुच्चय—हैं? स्मृतियाँ स्वयं वैसा नहीं कहतीं, उलटा वे बताती हैं कि देश में विधान बनाने वाली शक्तियाँ कौन सी थीं। इसलिए स्मृतियाँ स्वतन्त्र आचार्यों की समकालिक कानून-विषयक मीमांसा के ग्रन्थ ही हैं। मनुस्मृति में उत्कट आदर्शवादिता और मौलिक चिन्तन के साथ-साथ उग्र कट्टरपन भी है। उसकी शैली ज़ोरदार

है। याज्ञवल्क्य-स्मृति इन बातों में उसे नहीं पहुँचती, पर स्पष्ट और परिमित बात कहने में उसे मात करती है। कानूनदाँ के रूप में उसके लेखक का पद बहुत ऊँचा है।

इ. महाभारत

महाभारत इस युग के वाङ्मय में उक्त स्मृतियों के समान महत्त्व की कृति है। उसके विभिन्न अंश विभिन्न उपयुगों के हैं। उदाहरण के लिए, दिग्विजयपर्व में लग० १७० ई० पू० का नक्शा है, पर शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मपर्व (१०१.५) में मथुरा के चौगिर्द यवन-काम्भोजों की बस्ती का और दस्युओं द्वारा की गई उथलपुथल का (७८. १२, १८, ३६, ३८-३९) उल्लेख है, इसलिए वह ८५ ई० पू० के बाद का है। भगवद्गीता यदि पूर्व नन्द युग की न हो तो इसी युग की है।

उ. काव्य साहित्य

रामायण महाभारत के बाद संस्कृत-प्राकृत काव्य-साहित्य का उदय भी इसी युग में हुआ। छोटे छोटे सुन्दर नाटकों का कर्त्ता भास जायसवालजी के मत से नारायण काण्व के राज्यकाल में अर्थात् १ली शताब्दी ई० पू० में मगध में हुआ था। सब विद्वानों ने वह बात नहीं मानी, तो भी भास है सातवाहन युग का ही। दार्शनिक कवि अश्वघोष कनिष्क की सभा में था। उसका बुद्धचरित काव्य प्रसिद्ध है। उसके नाटक शारिपुत्र-प्रकरण की दूसरी शताब्दी ई० की पांडुलिपि सीता-काँठे में तुरफ़ान से मिली है—अभी तक प्राप्त प्राचीनतम भारतीय पांडुलिपि वही है। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में भी नाणक सिक्के का उल्लेख है। भरत का नाट्यशास्त्र भी इसी युग का है, सो उसके जनपदों के विवरण से प्रकट होता है। विभिन्न जनपदों के लोकनृत्यों का वह विवरण अत्यन्त कीमती है। पर उसके ठीक अनुशीलन का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। आज भरत-नाट्य नाम से जो वस्तु पेश की जाती है उसमें उसकी परम्परा में उत्पन्न मध्यकालिक और पिछले नृत्य भी मिले हैं। भरत-नाट्य की ऐतिहासिक छानबीन अभी पूरी बाकी है। वात्स्यायन का कामसूत्र

सातवाहन युग के ठीक अन्तिम अंश का, तीसरी शताब्दी आरम्भ का है, यह प्रो० हारानचन्द्र चकलादार ने उसकी छानबीन से सिद्ध किया है।

लौकिक संस्कृत के साथ कई प्राकृतें भी इस युग में साहित्यिक भाषाएँ थीं। यह पते की बात है कि इस समूचे युग में कापिशी से काञ्ची तक और कन्दहार से कलिंग तक अभिलेखों और सिक्कों पर एक ही प्राकृत लिखी पाई जाती है। वह सातवाहन युग की राष्ट्र-भाषा थी, और यह माना गया है कि अशोक ने सारे भारत में **व्यवहार-समता** और **दण्ड-समता** स्थापित करने के जो प्रयत्न किये उन्हीं से वह राजभाषा-समता उत्पन्न हुई। सातवाहनों के दरबार में प्राकृत साहित्य को विशेष प्रोत्साहन मिला। सातवाहन राजा हाल की गाथासप्तशती से तो सतसइयों की शैली ही चल गई। ७८ ई० वाले राजा कुन्तल सातकर्णि की सभा में दरदेश का कवि गुणाढ्य था जिसने दरद प्राकृत में बृहत्कथा लिखी। वह मूल बृहत्कथा आज नहीं मिलती, पर उसके तीन संस्कृत और एक तमिळ अनुवाद प्राप्य हैं।

ऋ. तमिळ वाङ्मय

तमिल वाङ्मय का उदय इसी युग में हुआ। सातवाहनों का अनुसरण कर एक ओर कनिष्क ने और दूसरी ओर तमिळ राजाओं ने वाङ्मय को प्रोत्साहन दिया। दूसरी शताब्दी ई० के तमिळ राज्यों में **संघम्** नामक विद्वत्परिषद् रही। उस संघम् की उपज में ऐतिहासिक काव्य मुख्य वस्तु थे, जिनमें मणिमेखलै और शीलप्पतिकारम् प्रसिद्ध हैं। तिरुवल्लुवर का सूक्ति-संग्रह कुरल भी, जो विश्व वाङ्मय का एक रत्न माना जाता है, उसी की उपज है।

ऌ. व्याकरण और कोश

पाणिनि, व्याडि और कात्यायन ने नन्द-मौर्य युगों में व्याकरण के अध्ययन को जिस ऊँचे स्तर पर पहुँचाया, इस युग में वह उसी पर बना रहा। पुष्यमित्र के पुरोहित पतञ्जलि का अष्टाध्यायी पर महाभाष्य

सूखे विषय की विवेचना के बावजूद भी जानदार शैली में है। इस युग में भारतीय राज्यक्षेत्र और कृष्टिक्षेत्र के विस्तार के साथ संस्कृत के सरल व्याकरणों की माँग हुई। तब कुन्तल सातकर्णि के मन्त्री शर्ववर्मा ने "स्वल्पमति और दूसरे शास्त्रों में लगे हुओं के क्षिप्र-प्रबोध के लिए" कातन्त्र व्याकरण लिखा। बृहत्तर भारत के लिए वह बहुत उपयुक्त था; मध्य एशिया के तुखार लोग मध्य काल तक उसी से संस्कृत सीखते रहे। कातन्त्र की ही पद्धति पर कच्चायन ने पालि व्याकरण लिखा तथा तमिळ व्याकरण तोल्कप्पियम् लिखा गया।

सुप्रसिद्ध अमरकोश भी इसी युग की, अनुमान से १ली शताब्दी ई० पू० की, कृति है। उसके देव-प्रकरण में विष्णु के ३६ नामों में कृष्ण के बहुत से हैं, पर राम का कोई नहीं। इसलिए वह ऐसे युग की कृति है जब कि राम अवतार की कल्पना नहीं हुई थी।

ए. बौद्ध जैन वाङ्मय

पिछले मौर्य काल से इस युग के अन्त तक बौद्धों के सर्वास्तिवादी महासांघिक आदि सम्प्रदाय उन्नति पर रहे। इन्होंने अपने ग्रन्थ संस्कृत में या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत में, जिसे मणिप्रवाल शैली कहते हैं, लिखे। महासांघिकों का विनय-ग्रन्थ महावस्तु वैसी शैली में है। सर्वास्तिवादी वाङ्मय में **अवदान** उल्लेखनीय हैं। अवदान का अर्थ है महान् त्याग का कार्य; वैसे कार्यों के वृत्तान्त भी वैसी ही सरल भाषा में लिखे गये हैं। अश्वघोष की वज्रच्छेदिका महत्त्व की कृति है।

जैनों की आचार्य-परम्परा में स्थूलभद्र (ऊपर पृ० ११०) के बाद जो सात आचार्य हुए वे दशपूर्वी कहलाते हैं। उनमें से अन्तिम वज्रस्वामी का काल लगभग ७० ई० आता है। कहते हैं उसी के शिष्य आर्यरक्षित ने सूत्रों को अंग उपांग आदि चार भेदों में बाँटा। वास्तव में मौर्य युग में जैनों के थोड़े ही सूत्र थे, इस युग में अधिक हो जाने पर यों विभक्त किये गये।

ऐ. ज्यौतिष

ज्योतिषी गर्ग की गार्गीसंहिता के उद्धरण मात्र अब मिलते हैं। उसके युगपुराण अंश में पाटलिपुत्र पर यवनों की चढ़ाई का वृत्तान्त है, इसलिए वह आरम्भिक सातवाहन युग की कृति है। ४६६ ई० में पटने में आर्यभट ने अपना ज्यौतिष ग्रंथ जब लिखा तब ज्यौतिष के पाँच **सिद्धान्त** अर्थात् सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित थे। सिद्धान्त ग्रंथों का आरम्भ सम्भवतः सातवाहन युग में हुआ। मूल सूर्यसिद्धान्त निश्चय से इस युग में बना। पर उसका विद्यमान रूप बहुत पीछे का है, क्योंकि वराहमिहिर ने ५५० ई० में सूर्यसिद्धान्त से जो उद्धरण दिये हैं वे उसमें नहीं हैं।

यूनान में ग्रह-गणित की बुनियाद दूसरी शताब्दी ई० में ज्योतिषी तोलेमाइओस ने डाली। सात ग्रहों को उनकी भूमि से दूरी के क्रम से गिनना और उनपर सप्ताह के दिनों के नाम, यह पद्धति वहाँ ३५०–३७८ ई० के बीच चली। हमारे पुराने अभिलेखों में संवत्सर, ऋतु, ऋतु में पहले दूसरे आदि पक्ष और पक्ष के दिवस का अथवा संवत्सर मास और दिन का उल्लेख रहता है। अंग्रेज़ डा० जौन फ्लीट का मत था कि पाँचवीं शताब्दी में जब भारतीयों ने यूनानी ज्योतिष अपनाया तभी सप्ताह गणना यहाँ आई। अतः हमारे वाङ्मय में जहाँ कहीं ग्रहों या वारों का उल्लेख होता उसे वे ४०० ई० के बाद का मानते। परन्तु ग्रहों का ज्ञान यूनानियों से पहले बाबिलियों और असुरों को था, और उन्होंने भी उसे सुमेरियों से पाया था। डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने फ्लीट के मत का प्रत्याख्यान करते हुए दिखाया है कि भारतीय ज्यौतिष असुर ज्यौतिष पर निर्भर था, हमारे यहाँ के राशियों और ग्रहों के नाम बाबिली नामों के अनुवाद हैं, वे उत्तर वैदिक या महाजनपद युग से यहाँ प्रचलित थे। ग्रहों की गिनती उनकी दूरी के क्रम से की जाय यह विचार बेशक पीछे का है, और यह यहाँ यूनान से आया।

ओ. वैद्यक

प्रसिद्ध वैद्य चरक कनिष्क की सभा में था। चरक नाम का वैदिक चरण पंजाब में था। अब जो चरक-संहिता मिलती है, वह दृढबल पाञ्चनद * कृत उसका संस्करण है (च० सं० ३०.२७५)। दृढबल वाग्भट (६ठी शताब्दी ई०) से पहले अर्थात् गुप्त युग में हुआ। चरक-संहिता भी अग्निवेश के ग्रन्थ का 'प्रतिसंस्करण' थी; अग्निवेश का गुरु आत्रेय पुनर्वसु था, जो शायद महाजनपद युग में तक्षशिला गुरुकुल के आचार्यों में रहा हो। चरक के कुछ पीछे सुश्रुत हुआ। उसका जो ग्रन्थ अब मिलता है, वह नागार्जुन-कृत पुनः-संस्करण है। भेळ, हारीत, काश्यप आदि वैद्यक के आचार्य चरक सुश्रुत से पहले युगों में हो चुके थे।

भारतीय विज्ञान और दर्शन के इतिहास में नागार्जुन का बहुत ऊँचा स्थान है। स्व० डा० ब्रजेन्द्रनाथ शील के मत से सुश्रुत-सम्पादक नागार्जुन, सिद्ध नागार्जुन, लोहशास्त्रकार नागार्जुन और माध्यमिकसूत्रवृत्तिकार महायान-आचार्य नागार्जुन एक ही व्यक्ति होना चाहिए। † सिद्ध नागार्जुन बाणभट्ट के अनुसार त्रिसमुद्राधिपति सातवाहन राजा का मित्र था। महायान का प्रवर्त्तक नागार्जुन अश्वघोष का दूसरा उत्तराधिकारी था। यों दोनों का एक ही काल है, अतः जब तक उन्हें दो व्यक्ति मानने का प्रमाण न हो, उन्हें अभिन्न ही मानना चाहिए। महायान के बाद ही सिद्धि-प्रधान वज्रयान चला। नागार्जुन का सिद्धपन कुछ यौगिक क्रियाओं के कारण भी रहा हो, पर मुख्यतः रासायनिक सिद्धियों अर्थात् लोहे को सोना बनाने के गूढ प्रयत्नों के कारण था। इसलिए वही लोहशास्त्रकार नागार्जुन है जिसने पारे के योग बना कर भारतीय वैद्यक में रसों का प्रयोग चलाया। सिद्ध नागार्जुन का एक जनन-विज्ञान-विषयक ग्रन्थ

---

* पंजाब की पाँच नदियों का पानी ले लेने पर सतलज पंजनद कहलाती है। उसका काँठा = पञ्चनद।

† ब्रजेन्द्रनाथ शील (१९१५)—पौज़िटिव साइन्सेस ऑफ़ दि हिन्दुज़ (हिन्दुओं के शुद्ध विज्ञान) पृ० ६२.।

आदिशास्त्र या सिद्धिशास्त्र भी है। एक लोहशास्त्रकार पतञ्जलि भी सातवाहन युग में हुआ। उसके जो उद्धरण अन्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं, उनसे उसका बड़ा धातुवेत्ता होना सूचित होता है।

औ. दर्शन

जर्मन विद्वान् याकोबी का कहना है कि अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्रों तथा कणाद काश्यप के वैशेषिक सूत्रों में नागार्जुन के शून्यवाद के प्रत्याख्यान का प्रयत्न है, पर लग० ४०० ई० के मैत्रेय के बौद्ध योगाचार दर्शन की ओर कोई संकेत नहीं है, अतः न्याय और वैशेषिक दर्शनों का उदय २००–४०० ई० के बीच हुआ। दूसरी तरफ डा० शील का कहना है कि चरक की मूल विचारधारा विद्यमान सांख्य की है, पर उसकी तर्क-पद्धति न्याय-वैशेषिक की है, अतः चरक से पहले वे दर्शनपद्धतियाँ उपस्थित थीं। जैन अनुश्रुति के अनुसार कणाद अन्तिम दशपूर्वी आचार्य वज्रस्वामी (७० ई०) के समकालिक रोहगुप्त का शिष्य था। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग से पहले का, अतः लग० चौथी शताब्दी का है। इन बातों से डा० शील के मत की पुष्टि होती है। याकोबी के मत के साथ उसका सामञ्जस्य करने का उपाय यही है कि नागार्जुन से पहले शून्यवाद का किसी और रूप में रहना माना जाय। सच बात यह है कि भारतीय विचारों के विकास की पूरी ऐतिहासिक छानबीन अभी तक नहीं हुई।

कणाद का अर्थ है परमाणु खाने वाला! प्रकट है कि उसके परमाणु-वाद अर्थात् सब सृष्टि के परमाणुओं से बना होने की कल्पना के कारण यह मज़ाकिया नाम उसे समकालिकों ने दिया था। न्याय-वैशेषिक पद्धतियों में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता माना गया है। सांख्य में वैसा नहीं है। सांख्य सृष्टि को तीन मूल **गुणों**—सत्त्व रजस् तमस्—की अपने नियम से आपसे आप हुई परिणति से उत्पन्न मानता है। वह आत्मा को मानता है, परमात्मा को नहीं। उसका आत्मा **कूटस्थ साक्षि-स्वरूप चिन्मात्र** (चेतन मात्र) है। हमने देखा है कि सांख्य दर्शन

का उदय उत्तर वैदिक काल से हुआ था, पर उसके इन विशिष्ट विचारों का उदय हम निश्चय से सातवाहन युग से टटोल पाते हैं। योग दर्शन की समूची विचारपद्धति सांख्य की है, केवल इस विशिष्टता के साथ कि उसमें परमात्मा को भी माना और ध्यान आदि मनःसंयम की विधियों पर बल दिया है। किन्तु योग दर्शन का परमात्मा भी सृष्टि का कर्ता नहीं, सांख्य के आत्मा की तरह कूटस्थ चेतन मात्र है, क्योंकि तीन गुणों से सृष्टि की परिणति तो स्वयं होती है। परमात्मा की सत्ता सिद्ध करने को उसकी युक्ति यह है कि **ज्ञानं निरतिशयं सातिशयवृत्तिजातित्वात् परिमाणवत्**—ज्ञान कहीं न कहीं निरतिशय है परिमाण की तरह, क्योंकि उसका साधारणतया सातिशय होने का स्वभाव है। जो गुण अनेक सत्ताओं में सातिशय—न्यूनाधिक—हो वह कहीं न कहीं निरतिशय अर्थात् सर्वाधिक होता है, जैसे आकाश में परिमाण। योगदर्शन के और साधारणतया प्राचीन भारत के मेधावि-वर्ग के ईश्वरवाद का स्वरूप यही था। वह पुरुषविशेष जो निरतिशय-ज्ञान-मय है, कपिल बुद्ध महावीर या वासुदेव हो सकता है! यों यह ईश्वरवाद जीवन में महापुरुष-पूजा मात्र रह जाता है।

पतञ्जलि के योगदर्शन पर व्यास का भाष्य है। उसमें सांख्य दर्शन के पञ्चशिख और वर्षगण्य के ग्रंथों तथा षष्ठितन्त्र के उद्धरण हैं, पर ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का कोई नहीं। ईश्वरकृष्ण बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का समकालिक अर्थात् ५वीं शताब्दी ई० का है। यों व्यासभाष्य डा० शील के मत से ४थी शताब्दी ई० का है और पातञ्जल योग अनुमान से सातवाहन युग का। किन्तु इसपर भी याकोबी का कहना है कि योगदर्शन योगाचार के बाद का है, जिसका प्रवर्त्तक मैत्रेय वसुबन्धु से अर्थात् ४०० ई० से कुछ पहले हुआ।

मीमांसा और वेदान्त—अथवा पूर्व और उत्तर मीमांसा—दर्शन जैमिनि और व्यास बादरायण की कृति कहे जाते हैं। किन्तु वे दोनों एक दूसरे को उद्धृत करते हैं। प्रकट है कि विद्यमान रूप में वे एक

एक आचार्य की कृति नहीं हैं; उन दोनों आचार्यों की शिष्यसन्तानों में उनका संस्करण-संशोधन होता रहा है। याकोबी के मत से विद्यमान रूप में वे दोनों भी शून्यवाद के पीछे और योगाचार से पहले के हैं। ध्यान रहे कि बादरायण का वेदान्त परिणामवादी है, वह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण मानता है। विवर्त्तवाद अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नहीं काल्पनिक परिणति मानना शंकर के वेदान्त की बात है जो मध्य काल में चली।

यों विद्यमान छहों दर्शन कौटल्य के बाद—पिछले मौर्य या सातवाहन युग—की उपज हैं। उपनिषदों अभिधम्म और पहले जैन आगमों में दार्शनिक चिन्तन की पहली अस्फुटमार्गी उड़ानें थीं। पहले बौद्ध जैन और लोकायत विचारकों ने जब प्राचीन विचार की रूढियों पर सीधी सीधी चोटें कीं तब विचारों की उस खलबली में शृंखलाबद्ध दार्शनिक विचार पैदा हुआ। आरम्भ में सब दर्शन उत्तर वैदिक वाङ्मय की सूत्र शैली में लिखे गये, इसी से प्रकट है कि वे पिछले मौर्य या सातवाहन युग के बाद की रचनाएँ नहीं हैं।

§२. सातवाहन युग की आर्थिक राजनीतिक संस्थाएँ

महाजनपद नन्द और मौर्य युगों में हम भारतीय समाज का जो आर्थिक राजनीतिक ढाँचा देखते आये हैं इस युग में उसी का विकसित रूप पाते हैं।

कृषि की भूमि कृषकों की सम्पत्ति थी। 'मनु' ने कहा है, राजा भूमि का अधिपति है (८. ३९)। पर उसके अन्य सन्दर्भों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि वहाँ अधिपति का अर्थ अध्यक्ष या पालक ही है। भूमि के विनिमय के लिए इस युग में **साक्षियों** के सामने **लेख** और उन लेखों का **निबन्ध** (रजिस्टरी) आवश्यक हो गये थे। मौर्य युग तक गवाह **श्रोता** कहलाते थे, क्योंकि उन्हें सुना कर क्रय-विक्रय किया जाता था। इस युग से गवाह **साक्षी** अर्थात् देखने वाले कहलाने लगे।

याज्ञवल्क्य **सम्भूय समुत्थान** की विवेचना "लाभ के लिए **समवाय** से काम करने वाले वणिजों" के उल्लेख से आरम्भ करता, पर अन्त में कहता है कि कृषकों और कर्मियों की भी यही विधि है। इसका यह अर्थ हुआ कि सामुदायिक खेती और मजदूरों के संघ नन्द मौर्य युगों की तरह इस युग में भी थे।

कारीगरों की श्रेणियों की शक्ति इस युग में कितनी थी सो इस उदाहरण से प्रकट होगा। पहली शताब्दी ई० पू० में पश्चिम भारत के शक क्षत्रप नहपान का जामाता उषवदात नासिक में एक **लेण** (गुहा-मन्दिर) बनवा कर उसे भिक्षुसंघ को अर्पित करता है। "और उसने **अक्षयनीवी** तीन हज़ार कार्षापण ३००० संत्र चातुर्दिश को दिये ... और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली **श्रेणियों** में **प्रयुक्त** किये गये—**कोलिकों** (जुलाहों) के **निकाय** में दो हज़ार २०००, एक प्रतिशत (मासिक) वृद्धि पर, दूसरे **कोलिक निकाय** में एक हज़ार १००० पौन प्रतिशत वृद्धि पर। और ये कार्षापण **अप्रतिदातव्य वृद्धिभोग्य हैं** ... उनसे मेरी लेण में रहने वाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर ...।" **अक्षयनीवी** का अर्थ अभिलेख में ही स्पष्ट कर दिया है कि उस निधि का केवल सूद खर्चा जाने को था, मूल स्थायी रहने को था। गोवर्धन नासिक का पुराना नाम था। **प्रयुक्त** किये गये का अर्थ है लाभ के लिए विनियुक्त किये गये। इससे प्रकट है कि श्रेणियाँ अब बैंकों का काम करतीं और वे इतनी टिकाऊ मानी जातीं कि स्वयं राजा भी अपनी स्थायी निधियाँ उनमें विनियुक्त करता। वास्तव में राज्यों से श्रेणियाँ अधिक स्थिर थीं। इसी प्रकार के एक अन्य अभिलेख में कुलरिकों (शायद कुम्हारों) ओदयन्त्रिकों (पनचक्कियाँ बनाने वालों) और तिलपिषकों (तेलियों) की "आगतानागत (विद्यमान और भावी) श्रेणियों" के हाथ में अक्षयनीवियाँ 'प्रयुक्त' की जाने की बात है। श्रेणियों को अचल सम्पत्ति सौंपे जाने के लेख भी हैं।

आज हमारे देश में कारीगर प्रायः सर्वत्र महाजनों के कर्ज़दार हैं।

वे अगाऊ कर्ज ले कर उसे चुकाने को ही खटते रहते हैं। यह दशा कम से कम मुगल युग से चल रही है। पच्छिम-युरोपी व्यापारी जब यहाँ आये तब हमारे राज्यों ने उन विदेशियों को भी भारतीय कारीगरों का इस प्रकार विदोहन करने दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारतीय जुलाहों पर जिन जुल्मों की याद हम आज तक करते हैं, वे इसी दशा के कारण सम्भव हुए। इस दशा के मुकाबले में जब हम देखते हैं कि सातवाहन युग के जुलाहों और तेलियों की श्रेणियाँ अपना धन्दा करने के साथ साथ राजाओं के लिए बैंकों का काम भी करती थीं तब स्वर्ग नरक का अन्तर हुआ दिखाई देता है।

महाभारत में कौटलीय अर्थशास्त्र की तरह श्रेणिबल अर्थात् श्रेणियों की सेना का उल्लेख है। परराष्ट्रपीडन अर्थात् शत्रु राष्ट्र को सताने के उपायों में **श्रेणिमुख्योपजाप** अर्थात् श्रेणियों के मुखियों को फोड़ना भी बताया है। गन्धर्वों से हारने के बाद दुर्योधन कहता है कि मैं श्रेणि-मुख्यों को कैसे मुँह दिखाऊँगा।

श्रेणियों और जनपदों के 'धर्मों' तथा ग्रामों और जनपदों के 'समयों' या संविदों का पहले की तरह महत्त्व चला आता था। 'मनु' कहता है—"धर्मवेत्ता (धर्मस्थ) जाति-**जानपद धर्मों श्रेणी-धर्मों** और कुल-धर्मों को देख कर अपने धर्म का प्रतिपादन करे (८. ४६)।" "जो **ग्राम-देश-संघों की संविद्** शपथपूर्वक कर के लोभ से उसे तोड़ दे, उसे देशनिकाला दे दे। उस **समय-व्यभिचारी** को पकड़ कर उससे चार सुवर्णों वाले छः निष्क और चाँदी का शतमान दिलवाय (८. २१६–२२०)।" **समय-भेद** या **संविद्-व्यतिक्रम** 'मनु' और याज्ञवल्क्य दोनों के अनुसार बड़ा अपराध था। **गण-द्रव्य** अर्थात् निकायों की सम्पत्ति का अपहरण (गबन) करने और संवित् का उल्लंघन करने वाले के लिए याज्ञवल्क्य भी सारी सम्पत्ति की जब्ती और देशनिकाले का दण्ड बताता है।

व्यवहारदर्शन—'व्यवहारों को देखने' अर्थात् न्याय के अनु-

शासन—के लिए याज्ञवल्क्य (२. ३०) के अनुसार सब से नीचे कुलों के न्यायालय थे, फिर श्रेणियों के, फिर पूगों (ग्रामों नगरों) के और सब से ऊपर राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी। पूगों अर्थात् नगर-सभाओं का इसके अतिरिक्त एक और बड़ा काम था लेखों का **निबन्धापन** (रजिस्टरी)। उषवदात अपने पूर्वोक्त अभिलेख के अन्त में कहता है—"यह सब **निगमसभा** में सुनाया गया और **फलकवार** में **चरित्र** के अनुसार **निबद्ध** किया गया।" 'फलक' याने अलमारी, फलकवार= लेखा-दफ्तर। यों राजकीय दानों की रजिस्टरी भी नगर-सभाओं के लेखा-दफ्तरों में उनके चरित्र अर्थात् सभाओं में पारित किये नियमों के अनुसार होती थी।

यह प्रश्न होता है कि इस युग के अनेक राजविप्लवों में नये आगंतुकों द्वारा देशों के जीते जाने पर जानपद संस्थाओं का क्या होता रहा। क्या विजेताओं ने उनके "धर्म व्यवहार और चरित्र" को मिटा नहीं दिया? स्मृतियों में इस सम्बन्ध में स्पष्ट विधान हैं और उनसे प्रकट होता है कि विजित देशों में जनता को भरसक रिझाने मनाने और उनकी संस्थाओं को बनाये रखने की चाल थी। 'मनु' अर्थशास्त्र के **लब्धप्रशमन** के शब्द दोहराता हुआ कहता है (७.२०१-०२)—"जीतने के बाद (जीते देश के) देवों और धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे ...। वे सब क्या करना चाहते हैं सो उन्हें इकट्ठा करके जान कर वहाँ उसी (पुराने राजा) के वंश के किसी को स्थापित करे और (उनके साथ) **समयक्रिया** (ठहराव) करे।" 'मनु' के ज़माने तक बहुत उथलपुथल न हुई थी। याज्ञवल्क्य की इस स्पष्ट व्यवस्था (१.३४१–४२) में उथल-पुथलों के बाद निश्चित हुए सिद्धान्त हैं—"प्रजापीडन के सन्ताप से उठी आग राजा के कुल श्री और प्राणों को जलाये बिना नहीं हटती। राजा का स्वराष्ट्र-परिपालन में जो धर्म है, पर राष्ट्र को वश में लाने पर उसी समूचे को पाता है। जिस देश में जो आचार व्यवहार और कुलस्थिति हो, जब वह वश में आय तब उसे उनके अनुसार ही परिपालना चाहिए।"

प्रजापीडन वाली बात में शायद विम रिसालू की घटनाओं की ओर निर्देश है। उस युग की जनता अपने अधिकारों के लिए कितनी सजग थी सो इस व्यवस्था से स्पष्ट है। नये आगन्तुक विजय कर सकते, पर प्रजा की संस्थाओं को नहीं दबा सकते थे। उषवदात और रुद्रदामा के अभिलेख स्पष्ट दिखाते हैं कि वे शक विजेता अपनी प्रजा को रिझाने को कितने यत्नवान् थे। नासिक लेण वाला उषवदात का जो लेख ऊपर दिया गया है, उसके ऊपर उसकी "कुटुम्बिनी दत्तमित्रा" के दान-परक लेख हैं, जिनके बीच उषवदात का एक और अभिलेख यों है—
"सिद्धि हो। राजा ज्हरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनीक के बेटे, तीन लाख गौओं का दान करने वाले, बार्णासा (नदी) पर सुवर्ण दान करने और तीर्थ (घाट) बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को १६ ग्राम देने वाले, समूचे बरस लाख ब्राह्मणों को जिमाने वाले, पुण्य-तीर्थ प्रभास में ब्राह्मणों को आठ भार्याएँ (अर्थात् भार्याओं के विवाह का खर्चा) देने वाले, भरुकच्छ दशपुर शोर्पारग में चतुःशाला (चार कमरों वाली) **वसध** (सरायें) और **प्रतिश्रय** देने वाले, आराम तडाग उदपान (कुएँ बावड़ियाँ) बनवाने वाले, इबा पारादा दमण तापी करबेणा दाहानुका (नदियों) पर नावों से पुण्य तर (मुफ्त उतारे का प्रबन्ध) करने वाले, और इन नदियों के दोनों तीर सभा और प्रपा (प्याऊ) बनवाने वाले, पींडितकवाड गोवर्धन सुवर्णमुख (तथा) शोर्पारग के रामतीर्थ पर (की) चरकों की परिषदों को नानंगोल ग्राम में बत्तीस हज़ार नारियल की पौद देने वाले, धर्मात्मा उषवदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पहाड़ पर यह लेण बनवाई और ये पोढियाँ (पानी जमा रखने के निसार)।"

रुद्रदामा के प्रशासन में गिरनार में चन्द्रगुप्त मौर्य के पहाड़ में बाँध लगा कर बनवाये सुदर्शन तालाब का बाँध अतिवृष्टि से टूट गया। उसे फिर से बनवा कर उसने अशोक के लेखों वाली चट्टान पर लिखवाया—" ... सब वर्णों द्वारा रक्षण के लिए पति रूप में वरे गये, युद्ध

के सिवाय मरते दम तक कभी पुरुषवध न करने की प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखाने वाले, सामने आये हुए बराबर के शत्रु को चोट दे कर निकम्मे शत्रु ··· करुणा धारण करने वाले, डाकू व्याल जंगली जन्तु रोग आदि जिन्हें कभी छू नहीं पाते ऐसे नगरनिगमों और जनपदों की अपने वीर्य से अर्जित अनुरक्त प्रजाओं से आबाद पूरवी पच्छिमी आकर अवन्ति ··· आदि ··· सब प्रदेशों के ··· स्वामी ··· महाक्षत्रप रुद्रदामा ने हज़ारों बरसों के लिए, गो ब्राह्मण ··· के लिए और धर्म और कीर्त्ति की वृद्धि के लिए, **पौर जानपद जन** को कर **विष्टि** (बेगार) **प्रणय** (धनी प्रजा से ली हुई प्रेम-भेंट) आदि से पीडित किये बिना ··· तीन गुना ··· सेतु बनवा कर ··· सुदर्शनतर कर दिया। महाक्षत्रप के **मतिसचिवों** (सलाह देने वाले पारिषद्यों) और **कर्मसचिवों** (कार्यकारी मन्त्रियों) की, यद्यपि वे सब अमात्य-गुणों से युक्त थे तो भी, दराड़ के बहुत बड़ा होने से इस विषय में अनुत्साह के कारण सहमति नहीं रही। उनके इसके आरम्भ में विरोध करने पर फिर से सेतु बँधने की आशा न रहने से प्रजा में हाहाकार मच जाने पर, इस अधिष्ठान में **पौर-जानपदों** के अनुग्रह के लिए समूचे आनर्त्त और सुराष्ट्र के पालन के लिए राजा की ओर से नियुक्त पह्लव कुलैप के पुत्र, **अर्थ धर्म** और **व्यवहार** को ठीक ठीक देखते हुए (प्रजा का) अनुराग बढ़ाने वाले शक्त दान्त (संयमी) अचपल अविस्मित (निरभिमानी) आर्य (रिश्वत आदि से) न डिग सकने वाले अमात्य सुविशाख ने ··· भर्त्ता का धर्म और कीर्त्ति बढ़ाते हुए बनवाया। इति।"

नये विजेताओं का रंग-ढंग कैसा था और राजविप्लवों के बीच भी भारतीय जनता की राज्यसंस्था कैसे डट कर खड़ी थी सो इन उद्धरणों से प्रकट है।

इन राजविप्लवों के बीच अनेक गणराज्य भी फिर उठे थे। अलक्सान्दर अफ़गानिस्तान-पंजाब के छोटे छोटे राज्यों और गणराज्यों को दबाता ब्यासा तक चला आया था। सेलेउकस् के उसी प्रकार आने पर जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे सिन्ध पर ही पीट दिया, तब यह दिखाई

दिया कि छोटे गणराज्यों के बजाय दृढ साम्राज्य होना कितना अच्छा है। पर दिमेत्रियस् जब पटने तक चढ़ आया तब साम्राज्य की कमज़ोरी दिखाई दी। उस कमज़ोरी को झूठे धर्म-विजय और झूठी क्षमा-नीति का फल माना गया, और उसके विरुद्ध **अश्वमेध-पुनराहरण** का आदर्श उठा। पर शकों और तुखारों के आक्रमणों के सामने जब अश्वमेध-पुनरुद्धारक भी न टिक सके, और यौधेय मालव कुनिन्द आदि गणों ने बार बार चोटें खा कर भी डटे रहने की क्षमता दिखाई, तब दण्डनीति-कारों ने अनुभव किया कि हठजीवी गणों के लिए कठिन और दीर्घ आपत्तियों को तरना भी सुगम है। नेता के अयोग्य होने से साम्राज्य को लकवा मार जाता है, पर जिन गणों की समूची जनता स्वाधीनता के लिए लड़ने कटने को तैयार हो वे एकाध बार दब कर भी फिर फिर उठ खड़े होते हैं। 'मनु' गणों का विरोधी है, पर याज्ञवल्क्य उनके गौरव को अनुभव करता है। और महाभारत के राजधर्मपर्व (अध्याय ८१, १०७) में तो वह अनुभव ऐसे स्पष्ट और ज़ोरदार शब्दों में प्रकट हुआ है, और साथ ही उसमें **गणों की वृत्ति** और उनकी कठिनाइयों का ऐसा सच्चा अनुभूत चित्र और विचारपूर्ण विवेचन है कि वह सदा के लिए पथ-प्रदर्शक है।

पर क्या सातवाहन युग के भारतीय जागरूक भी थे? कोई जनता अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के रहते भी स्वतन्त्रता खो बैठती है यदि वह जागरूक न हो और बदलती युग-परिस्थिति से सीख न ले सके।

नन्द युग में यूनानी सेना के संघटन और संचालन की बेहतर शैली को देखते ही कौटल्य और चन्द्रगुप्त ने अपना लिया था। इस युग में भी क्या भारतीयों की आँखें उसी प्रकार खुली थीं?

इस युग में शकों और उनसे मिलती जातियों की युद्धशैली की धाक सब सभ्य राष्ट्रों पर जमी थी। वे बहुत कुशल घुड़सवार थे और घोड़े पर चढ़े-चढ़े धनुष बाण से अचूक निशाना लगाते थे। ऋषिकों की गिनती शकों में ही थी, और पह्लव भी शकों की एक शाखा ही माने

जाते थे। शकों के पच्छिम वोल्गा और दोन नदियों के काँठों में उनके भाईबन्द समाती लोग रहते थे, जो आधुनिक रूसियों के पुरखा थे। पूर्वी युरोप से चीन की सीमा तक फैली ये जातियाँ घुड़सवारी के युद्ध में बड़ी दक्ष थीं। योद्धाओं के शस्त्रास्त्र और **सन्नाह** कैसे हों यह प्रश्न उठा कर राजधर्मपर्व में कहा है (१०१.५)—"और यवन-काम्भोज जो मथुरा के चौगिर्द हैं, वे अश्वयुद्ध में कुशल हैं।" यों भारतीयों ने शकों ऋषिकों की यह विशिष्टता देखी और अपनाई। चीनियों ने भी इस युग में पह्लव सवारों के सन्नाह की पूरी नकल की और रोमियों ने भी समातियों से अश्वयुद्ध-कला में बहुत कुछ सीखा था।*

§ ३. पौराणिक धर्म और महायान का उदय

मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ बौद्ध मार्ग के विरुद्ध जो लहर उठी उसमें अश्वमेध के अर्थात् वैदिक धर्म-कर्म के पुनरुद्धार की पुकार थी। पर वैदिक धर्म-कर्म वैदिक समाज के साथ था, वह ज्यों का त्यों वापिस न आ सकता था। उसे जगाने के प्रयत्न में धीरे-धीरे एक नया धर्म उठ खड़ा हुआ जिसे हम पौराणिक धर्म कहते हैं, क्योंकि उसका प्रतिपादन मुख्यतः पुराण-वाङ्मय में है।

हमने देखा है कि एकान्तिक भागवत धर्म वैदिक काल के अन्तिम अंश में उठ कर उत्तर वैदिक काल के अन्त तक कैसे पनपता रहा था। सह्याद्रि के नानाघाट में पहले सातवाहनों के अभिलेख हैं, जिनमें से एक में संकर्षण और वासुदेव को प्रणाम किया गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य (२. २. ३४) में धनपति, बलराम और केशव के मन्दिरों का उल्लेख है, साथ ही शिव स्कन्द विशाख की प्रतिमाओं (५. ३. ९९)

---

* इस प्रसंग में यह भी कहा जाय कि शक घोड़ियों का दूध भी दुहते थे। रूसी अब तक घोड़ी के दूध का दही जमाते हैं, और एक रूसी विद्वान् का कहना है कि वेद में घोड़े का नाम जो दधिक्रा है सो इसी कारण कि वैदिक आर्य भी घोड़ी का ही दूध जमाते थे।

और शिवभागवताः अर्थात् शिव के पुजारियों का भी (५. २. ७६)। इस शैव उपासना का प्रवर्त्तक पुराण के अनुसार लाट देश (सूरत-भरुच) का लकुलीश नामक पुरुष था जिसका काल अनुमान से दूसरी शताब्दी ई० पू० है। इन शैवों का एक पन्थ पाशुपत भी था।

हमने देखा है कि बृहत्तर भारत के पहले उपनिवेशक प्रायः शैव थे। विदिशा में भागवत हेलिउदोर के वासुदेव की पूजार्थ बनवाये गरुडध्वज का उल्लेख हो चुका है। उससे प्रकट है कि वासुदेव की पूजा सात्वतों के बाहर भी चल गई थी।

किन्तु इसके बाद से सातवाहन युग के अन्त तक किसी पौराणिक मूर्त्ति या मन्दिर का कोई अवशेष नहीं मिला। क्यों? प्रतीत होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड को फिर से जगाने की चेष्टा ने इन भक्तिप्रधान धर्मों को भी दबा दिया था। स्मृतियों में देवलकों अर्थात् मन्दिरों के पुजारी ब्राह्मणों की स्पष्ट निन्दा है। इसी से इस युग में बड़े और टिकाऊ मन्दिर बनने नहीं पाये।

तो भी पौराणिक धर्म के कुछ और पहलू थे ही और देव-मूर्त्तियाँ भी थोड़ी बहुत थीं ही। स्वयं मनुस्मृति (८. ६२) में गंगा और कुरु की तीर्थयात्रा की बात है। उषवदात के अभिलेख में प्रभास और पुष्कर तीर्थों की चर्चा है।

हेलिउदोर के गरुडध्वज से सूचित है कि उस काल तक वासुदेव की गरुड-वाहन विष्णु से अनन्यता मानी जा चुकी थी। अमरकोश में भी वही बात है और वहाँ संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम भी हैं जो कि वासुदेव के व्यूह माने जाते थे। पतञ्जलि और नानाघाट अभिलेख के काल तक वासुदेव के दो ही व्यूह थे, पहली शताब्दी ई० पू० तक यों चार हो गये थे। योधेय गण अपने सिक्कों पर स्कन्द को मूरत छापता[1] था और विम कफ्स शिव की। कनिष्क के सिक्कों पर स्कन्द ईश (शिव) और वात (वायु) की मूरतें [1]भी हैं। तमिळ संघम् के ग्रन्थों में बौद्ध विहारों के अतिरिक्त कल्पवृक्ष, ऐरावत हाथी,

वज्रायुध (इन्द्र के वज्र), बलदेव, सूर्य, चन्द्र, शिव, सुब्रह्मण्य, सातवाहन, जिन, काम और यम के मन्दिरों का उल्लेख है। यों बौद्ध जैन शैव भागवत पूजाओं के साथ जड-जन्तु-पूजाएँ भी थीं। सातवाहन या ऐयनार के मन्दिर में शायद सातवाहनों के कुल-देवता की पूजा होती हो। पट्टिनीदेवी नाम की सती की पूजा भी प्रचलित थी, जो सिंहल में अब भी है। सूर्य मूर्ति की पूजा भी शायद कनिष्क के प्रशासन में भारत में ईरान से आई। मूलस्थानपुर (मुलतान) तथा पच्छिम भारत के अन्य अनेक स्थानों में सूर्य-मन्दिर थे। उनके पुजारी शाकद्वीपी या मग अर्थात् ईरानी ब्राह्मण होते थे। सूर्य की जो मूर्तियाँ यहाँ मिली हैं उनमें घुटनों तक ईरानी ढंग से जूता पहनाया रहता है। याज्ञवल्क्य (१. २७१, २९५ प्र०) में गणपति विनायक की पूजा और ग्रहों की पूजा का विधान है। गृह्य सूत्रों में चार विनायक थे, इसमें एक है, पर है वह अब भी अमंगलकारी ही, जिससे पीछा छुड़ाना ही पूजा का उद्देश था।

शान्तिपर्व के नारायणीय प्रकरण (अ० ३४४–६१) में वासुदेव-पूजा-धर्म का विवेचन है जो इस युग के अन्त का है। उसमें नारायण के अवतारों में राम दाशरथि का नाम भी है, पर उसकी पूजा का नहीं। लिंगपूजा का उल्लेख पहलेपहल अनुशासनपर्व के उपमन्यु संवाद (अ० ४५) में है। भीष्मपर्व (अ० २३) में दुर्गा-स्तुति भी है, पर वह इस युग के बाद की वस्तु जान पड़ती है। कृष्ण की गोपी-लीला की बात महाभारत में नहीं है।

वैदिक मार्ग से जैसे पौराणिक मार्ग का विकास हुआ वैसे ही पुराने बौद्ध मार्ग से महायान का। पौराणिक मार्ग में महापुरुषों को जैसे अवतार माना गया, वैसे ही इसमें बोधिसत्त्व। बुद्धत्व-प्राप्ति के तीन मार्ग कहे गये थे, एक अर्हत् यान, दूसरा प्रत्यक् (पच्चेक) बुद्ध यान और तीसरा सम्यक्-सम्बुद्ध यान। प्रत्यक्-बुद्ध वह जिसे केवल अपने लिए बोध हो। नागार्जुन ने तीसरे मार्ग को **महायान** (बड़ा रास्ता) नाम दिया और उसके मुकाबले में पहले दोनों को **हीनयान** कहा।

§४. सातवाहन युग का समाज और आचार

क. चातुर्वर्ण्य

स्मृतियों में चार वर्णों और उनके कर्त्तव्यों का बहुत विचार है। सो क्या इस युग में जाति-भेद (जात-पाँत) स्थापित हो गया था ?

हमने देखा है कि आर्य और दास इन दो जातियों का भेद आरम्भ से था। शूद्र वे दास थे जो आर्यों के समाज का निचला दर्जा बन गये, इसलिए द्विज और शूद्र का अन्तर भी जाति-भेद था। धर्मशास्त्रियों अर्थात् समाज-विषयक विचारकों ने भारतीय समाज को मोटे तौर से चार दर्जों में बाँटा। उनमें से चौथा दर्जा—शूद्र—वस्तुतः पृथक् जाति था। पूर्व नन्द युग से क्षत्रियों के बड़े बड़े कुल भी अपने को क्षत्रिय जाति कहने लगे, और उनकी देखादेखी कुछ ऐसे कुल जिनमें ब्राह्मण का धन्धा अरसे से होता आता था अपने को ब्राह्मण जाति कहने लगे।

पिछले मौर्यों के बाद देश को बचाने वाले शुंग और सातवाहन दोनों वंश ब्राह्मणों के थे, इसलिए इस युग में ब्राह्मणों का गौरव विशेष दिखाई दिया। धर्मशास्त्रियों ने अब सारे आर्यावर्त्ती समाज को चार वर्णों में बाँटने और वर्णों के कार्य नियत करने का यत्न किया।

किन्तु आर्यावर्त्ती समाज में अनेक ऐसे समूह थे जिन्हें उनके कार्यों और हैसियत को देखते स्पष्टतः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र कहना कठिन था। वर्णों के संकर की बात धर्मसूत्रों और अर्थशास्त्र में भी थी, 'मनु' ने संकर की तथा वैसी अन्य कल्पनाओं से उन सब समूहों की व्याख्या की। "ब्राह्मण से वैश्य कन्या में अम्बष्ठ पैदा होता है, ··· वैश्य से क्षत्रिया में मागध और ब्राह्मणी में वैदेह, ··· ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में आभीर। ··· व्रात्य ब्राह्मण से (व्रात्य ब्राह्मणी में) ··· आवन्त्य, व्रात्य क्षत्रिय से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि (लिच्छवि) ··· खस, द्रविड़, वैश्य व्रात्य से ··· सात्वत (१०. ८—२३)।" "ये सब क्षत्रिय जातियाँ क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों के अदर्शन से धीरे धीरे वृषल बन गईं ··· द्रविड, काम्बोज,

यवन, शक, ··· पह्लव ··· किरात, दरद, खश (१०. ४३-४४)।"

अम्बष्ठों का गणराज्य अलक्सान्दर की चढ़ाई के समय सतलज-सिन्ध-संगम पर था। कुछ अम्बष्ठ लोग मध्यदेश में आ कर ऐसे धन्धे करते हों जिनमें ब्राह्मणपन और वैश्यपन मिला हो यह सम्भव है। आभीरों का देश अम्बष्ठों के निकट दक्खिन था, यही उनके अम्बष्ठ कन्याओं से उत्पन्न होने की कल्पना का आधार होगा। वैदेह का अर्थ विदेह का वासी, पर कौटलीय में बड़े व्यापारियों का नाम **वैदेहक** है, जैसे आजकल 'मारवाड़ी'। इसलिए उनमें भी वैश्य-ब्राह्मण-रक्त मिश्रण माना गया। मल्ल और लिच्छवि व्रात्य थे इसमें सन्देह नहीं, पर व्रात्य क्षत्रिय कौन सा वर्ण हुआ? द्रविड काम्बोज आदि के क्षत्रिय से शूद्र बनने की कल्पना भी मनोरञ्जक है। पर इन कल्पनाओं से ही सिद्ध होता है कि चार वर्णों में समूचा भारतीय समाज ठीक न अँटता, तो भी उसे ठोक पीट कर अँटाया जाता था। वास्तव में **चातुर्वर्ण्य** स्मृतिकारों का भारतीय समाज के वर्गीकरण का प्रयत्न मात्र था।

स्मृतियों के चातुर्वर्ण्य और बाद की जातपाँत में कितना अन्तर था, सो इन प्रश्नों की विवेचना से प्रकट होगा। (१) क्या वर्णों के पेशे अलग अलग थे? बेशक 'मनु' बतलाता है कि कौन वर्ण क्या पेशा करे, पर जब वह बताता है कि श्राद्ध में किन ब्राह्मणों को न जिमाया जाय, तब पता चलता है कि उस युग में कुत्ते और बाज़ पालने, मेढ़ों और भैंसों का रोज़गार करने, हाथी बैल घोड़े और ऊँट सधाने, विष बेचने तथा मुर्दे ढोने वाले ब्राह्मण भी थे (३.१५०–१७८)। (२) क्या विभिन्न वर्णों में विवाह न होते थे? 'मनु' बहुत चाहता है कि विवाह सवर्ण ही हों, पर उसके विवाह और दायभाग प्रकरणों से पता लगता है कि असवर्ण विवाहों की चाल भी बहुत थी, ब्राह्मणों शूद्रों में भी काफी सम्बन्ध होते थे। (३) क्या विभिन्न वर्णों में खान-पान न चलता था? स्मृतियों में इसकी गन्ध भी नहीं है। तो भी कुछ शूद्र जातियों से परहेज़ का रिवाज था। पतंजलि के महाभाष्य (२.४.१०) से प्रकट

होता है कि कुछ शूद्र जातियाँ पात्र से निरवसित थीं, जिन्हें आर्य लोग अपने बर्त्तनों में न खिलाते थे, किन्तु शकों यवनों की गिनती उनमें न थी। (४) जो ब्राह्मण या क्षत्रिय तुच्छ धन्धों में लगे हुए थे, उनके भी ब्राह्मण या क्षत्रिय कहलाने से क्या यह प्रकट नहीं होता कि जात-पाँत थी? इसका उत्तर यह है कि पुराने ब्राह्मण क्षत्रिय कुलों के लोग जब अपने पद के प्रतिकूल धन्धों में लग जायँ तब कुछ काल के लिए उनका ब्राह्मणपन या क्षत्रियपन लोगों को याद रहता, पीछे मिट जाता था। बस यहीं तक इस युग में वर्णों का विकास हुआ था। इसीलिए 'मनु' स्वयं कहता है (१०.६५) "शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र; ऐसे ही क्षत्रिय से पैदा हुए को समझे और वैश्य से भी।"

इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि इस युग तक आर्यों और दासों में काफी संकर हो चुकने के बावजूद भी पुराने ब्राह्मण (और क्षत्रिय वैश्य) कुलों का आर्य रंग-रूप बहुत कुछ बना हुआ था। पतंजलि कहता है (२.२.६)—"और गोरा रंग, शुचि आचार, पिंगल (हलके रंग की) आँखें, कपिल (भूरे) केश ये भी ब्राह्मण के अन्दरूनी गुण होते हैं।" इस वास्तविक नस्ल-भेद की नींव के ऊपर स्मृतिकारों का समाज के वर्गीकरण का प्रयत्न था। पर न तो उस मूल भेद से और न उस वर्गीकरण से समाज की तरलता रुकने पाई थी। सातवाहन युग के भारतीयों ने दूर और दुर्गम देशों में उपनिवेश बसाये और चीन से जर्मनी तक के समुद्रों को लाँघा इसी से प्रकट है कि वे जात-पाँत और चौके-चूल्हे के बन्धनों से जकड़े हुए न थे।

शक आदि जातियाँ जो मध्य एशिया से इस युग में भारत आईं, उनका समाज जन-मूलक था। उनके लेखों में उनके जनों की खाँपों का बराबर उल्लेख रहता है। भारतीय समाज से, जो जन दशा को लाँघ चुका और जिसमें ग्राम श्रेणि पूग आदि संस्थाओं का विकास हो चुका था, उन जन-जातियों का सम्पर्क होने पर एक दूसरे पर कैसा प्रभाव हुआ, यह समाजशास्त्रीय इतिहास की बड़ी समस्या है। गौतमीपुत्र

सातकर्णि के विषय में उसकी माँ जब अपने लेख में कहती है कि उसने **चातुर्वर्ण्य का संकर** रोक दिया, तब उसका यही अर्थ है कि उसने पुराने भारतीय समाज में इन नई जातियों के मिलने की रोक-थाम की।

ख. स्त्री-पुरुष-धर्म

स्मृतिकारों ने नियोग, मोक्ष और स्त्रियों के पुनर्विवाह पर रोकें लगाने के प्रयत्न किये, तो भी इस युग में वे प्रथाएँ जारी रहीं यह स्मृतियों से ही सूचित होता है। ध्यान रहे कि इससे पहले स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में शिथिलता बहुत थी और उसी को रोकने का यह प्रयत्न था। पुरानी शिथिलता का सब दोष तथा बन्धन स्त्रियों पर ही लगाना आज हमें ठीक नहीं लगता, पर इस अंश में 'मनु' पिछले स्मृतिकारों की अपेक्षा उदार है। और उसके इन कथनों में विवाह का उच्चतम आदर्श है कि "पति के लिए भार्या देवताओं की देन है,...एक दूसरे के तईं मरते दम तक सच्चा बर्ताव यही संक्षेप से स्त्री-पुरुष का परम धर्म है (६. ६५, १०१)"

भारत में जननशास्त्र का अध्ययन उपनिषद्-काल से चला आ रहा था। 'मनु' के असपिण्ड असगोत्र विवाह के नियम और ऋतुकाल-विषयक उपदेश (३. ५-१०, ४५-५०) सुजनन की दृष्टि से ही हैं। पच्छिमी देशों ने निकट विवाह के बुरे परिणामों को अब जा कर पहचाना है।

ग. आश्रम-धर्म

संन्यास आश्रम पहले केवल ब्राह्मण पुरुषों के लिए था; बुद्ध ने उसे सब के लिए खोल दिया था। बौद्ध मार्ग की प्रेरणा से बहुत लोग संन्यासी बन कर्त्तव्यों से भागने लगे, जिसका कुपरिणाम मौर्य युग के अन्त में दिखाई दिया। इस युग में उसकी प्रतिक्रिया हुई। 'मनु' गृहस्थ आश्रम के गुण गाता नहीं थकता। महाभारत के व्यंग्य और उद्गार और भी जोरदार हैं—"आपत्काल में संन्यास लेना चाहिए... बुढ़ापा आ जाने पर या शत्रुओं से दुर्गति किये जाने पर। ... मौन धार

कर केवल अपना भरण करते हुए धर्म का ढोंग रच गिरा जा सकता है, जिया नहीं। ··· जंगलों में यों सुख से जिया जा सकता है यह सोच कर कुछ मन्द कुलीन **अजातश्मश्रु** (जिनकी दाढ़ी मूँछ नहीं उगी ऐसे) द्विज घर-बार छोड़ संन्यासी हो गये (शान्ति० १०. १७ प्र०, ११. १-२)।"

इससे भी बढ़ कर पते की दो कहानियाँ हैं। जाजलि मुनि ने समुद्र के किनारे बड़ा तप किया। उसे सिद्धि हो गई और वह समुद्र में जहाँ चाहे तैरने लगा। उसके बाद उसने एक जगह बैठ और तप किया। उसके केशों में गौरैया के जोड़े ने घोंसला बना लिया।। वे उड़ कर आतीं जातीं, पर जाजलि हिलता नहीं। उन्होंने वहाँ अंडे दिये, फिर बच्चे जने। उन बच्चों के पंख निकले, फिर वे भी उड़ने जाने आने लगे। जाजलि उनकी सब चेष्टाओं को अनुभव करता, पर हिलता नहीं। अन्त में वे वह घोंसला छोड़ चली गईं। तब जाजलि भी उठा और बोला—मैंने धर्म पा लिया! आकाश से पक्षी बोले—वाराणसी का तुलाधार धर्म को तुमसे अधिक जानता है! जाजलि चकित हो वाराणसी चला। तुलाधार एक पंसारी था। उसने जाजलि को देख पूछा—जाजलि, तुम्हारे केशों में गौरैया ने घोंसला बना लिया था, तुम धर्म की जिज्ञासा करने आये हो? जाजलि और भी चकित हुआ। तुलाधार ने उसे धर्म का उपदेश देते हुए कहा कि मेरी यह तराजू सब लोगों के लिए समान टिकी रहती है। मैं कभी इसकी डंडी नहीं मारता, ईमानदारी से अपना धन्धा करता हूँ, यही मेरी धर्म की सिद्धि है (शान्ति० अ० २६७-७०)।

एक और ब्राह्मण कौशिक था जिसने पेड़ तले तप किया। एक दिन पेड़ पर बैठी बगली ने उसपर बीठ कर दी। कौशिक ने आँख उठा कर देखा तो बगली भस्म हो गिर पड़ी। कौशिक को दुःख हुआ, पर अपनी सिद्धि पर अभिमान भी। उस दिन भिक्षा करते वह एक घर पहुँचा। वहाँ स्त्री ने कहा—ठहरो, कुटुम्बिनी बर्त्तन माँज कर आती है। इतने में उस कुटुम्बिनी का पति भूखा घर लौटा और वह उसे खिलाने और

मधुर वाक्यों से बहलाने लग गई। उस बीच उसे ब्राह्मण की याद आई तो वह भिक्षा ले बाहर आई। उसने कौशिक से क्षमा माँगी, पर कौशिक बिगड़ने लगा। वह बोली—"तुमने क्रोध से बगली को जला डाला सो मैं जानती हूँ, पर, द्विजोत्तम, क्रोध मनुष्यों का शरीर में टिका शत्रु है, जो क्रोध और मोह को छोड़ दे उसे देवता ब्राह्मण जानते हैं।" कौशिक ने चकित हो स्त्री से पूछा—तुम्हें धर्म की सिद्धि कैसे हुई? स्त्री ने कहा—मैं **एकपत्नी** (एक-पति-व्रता) हूँ, अपने बड़ों कुटुम्बियों देवों पितरों अतिथियों की सेवा करती हूँ..., और तुम्हें अधिक जानना हो तो मिथिला में रहने वाला व्याध तुम्हें धर्म का तत्त्व बतलायगा। कौशिक ने उसी दिन मिथिला की राह ली। वहाँ पहुँच एक सूना (कसाईघर) में उसने व्याध को मृगों भैंसों और सूअरों के मांस बेचते देखा। व्याध ने उसे देख कहा—एकपत्नी ने तुम्हें मेरे पास क्यों भेजा है सो मैं जानता हूँ, चलो घर चलें। कौशिक और भी चकित हो व्याध के पीछे-पीछे गया। घर जा कर उसका आतिथ्य कर व्याध ने उसके प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दिया, जिसका सार यह था कि साधु आचार और दम (इन्द्रिय-निग्रह) यही धर्म है। हिंसा अहिंसा की विवेचना करते हुए व्याध ने कहा—क्या खेती में धरती के कीड़ों की हत्या नहीं होती, क्या पानी पीते हुए कीटाणुओं की हत्या नहीं होती, "क्या मनुष्य मनुष्यों को दास-भोग से (दास या मजदूर रूप में उनके खून-पसीने का फल खा कर) नहीं खाते ?" कौशिक ने व्याध से पूछा—आखिर आपको सिद्धि कैसी हुई यह तो कृपा कर बताइए। व्याध ने कहा—चलो भीतर तो बताऊँ। घर के भीतर ले जा कर व्याध ने उसे अपने माता-पिता का परिचय कराया और कहा, ये मेरे देवता हैं, इन्हीं की पूजा से मुझे सिद्धि हुई है। वृद्धों से असीस दिला कर वह उसे बाहर लाया और बोला—देखो ब्राह्मण, तुम अपने माता-पिता की अनुमति विना उन्हें छोड़ वेद पढ़ने को भाग आये, इसी से तुम्हारा तप सफल नहीं हुआ, अब जा कर उनकी सेवा करो। कौशिक धर्म-व्याध के उपदेश

से पूरी तरह तृप्त हो अपने माता-पिता के पास लौटा और उनकी सेवा में जुट गया (वन० अ० २०६-१६) ।

§५. सातवाहन युग की कला

क. महाराष्ट्र और उड़ीसा की लेणें

पहाड़ की चट्टान काट कर चैत्य और विहार बनाने की जो कला मौर्य युग में चली थी उसका शुंग-सातवाहन युग में बड़ा उत्कर्ष हुआ। उन गुहाओं को उनमें खुदे लेखों में **लेण** (**लयन**) या **सेलघर** (शैलगृह) कहा है। वे महाराष्ट्र छत्तीसगढ़ और उड़ीसा के पहाड़ों में हैं। मराठी में उन्हें अब भी लेणी तथा उड़ीसा में गुम्फा कहते हैं।

महाराष्ट्र में भाजा कोंडाना, पितलखोरा, अजिंठा, बेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर में वैसी लेणें हैं। ये सब बौद्ध विहार हैं। इनमें से कार्ले वाली प्रायः सब से पीछे की, लग० ६५ ई० पू० की है। अजिंठा की केवल दो लेणें—सं० १० और ६—इस युग की हैं, बाकी बाद की। बौद्धों में सामूहिक पूजा की प्रथा थी, जो कि जैनों में न थी। इसलिए इन लेणों में **उपस्थान** (हॉल) बने हैं। कार्ले विहार के दाता श्रेष्ठी भूतपाल का कहना है कि उसका **सेलघर** जंबुदिपम्हि उत्तमं—भारत में श्रेष्ठ—था, और सो बात ठीक है। आकार में वह किसी बड़े भवन के बराबर है, और उसके मुकाबले में अशोक और दशरथ मौर्य की खुदवाई गुफाएँ नमूने मात्र लगती हैं। पर इन बड़ी लेणों की शैली में भी फूस के छाजनों की अनुकृति है। प्रत्येक लेण एक ही चट्टान में से काटी गई है। दो एक लेणों में मूर्त्तियाँ भी कटी हैं। भाजा लेण की भीत पर चिपटे उभार में सूर्य और इन्द्र की मूर्त्तियाँ खुदी हैं। वैसी उभारदार* मूर्त्तियाँ इस युग की विशिष्ट वस्तु हैं।

---

* अर्थात् जो किसी भीत पर उभरी हो, 'कोरी हुई' मूर्त्ति की तरह भीत से अलग न हो सके='बास्सो रिलिएवो' (इतालवी परिभाषा जो अंग्रेजी में चलती है।)

उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि की गुम्फाएँ जैन मठ हैं। इनमें से हातीगुम्फा में खारवेल का प्रसिद्ध अभिलेख है। खारवेल की रानी की बनवाई रानीगुम्फा दोमंजिली है। इसके द्वार पर मूर्त्तियों का एक लम्बा पट्टा है। "उसे देख कर यह भान होता है कि यह पत्थर की मूर्ति न हो कर एक ही साथ चित्र और काठ पर की नक्काशी है। उड़ीसा में आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रँग दिया जाता है और तब उभरा हुआ चित्र जान पड़ता है।"

छत्तीसगढ़ के सरगुजा प्रदेश में सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाएँ पास पास हैं। सीताबेंगा गुफा एक प्रेक्षागार (नाट्यशाला) थी, जोगीमारा वरुण-मन्दिर जिसमें कोई **देवदर्शिनी** (देव-प्रेरणा से भविष्यवाणी करने वाली स्त्री) रहती थी। जोगीमारा की भीतों पर चित्र भी अंकित हैं जो भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम उपलब्ध नमूने हैं। किसी अनाड़ी चित्रकार ने बाद में उनकी सुन्दर रेखाओं के ऊपर भद्दे ढंग से रंग पोत दिया है। अजिंठा लेण ९-१० में भी चित्र हैं। वेषभूषा—भारी भारी आभूषण तथा पुरुषों के मुंडासों के गेंद जैसे फुँदनों—से वे भी इस युग के निश्चित होते हैं।

ख. भारहुत और साँची की वेदिकाएँ और तोरण

इस युग के कारीगरों की दूसरी बड़ी देन भारहुत और साँची के स्तूपों के चौगिर्द की **वेदिकाएँ** (पत्थर की बाड़ें) और उनमें के **तोरण** (दरवाजे) हैं। भारहुत बघेलखंड में सतना के पास है। वहाँ की वेदिका और तोरण के अवशेष अब कलकत्ता संग्रहालय में हैं। साँची विदिशा के पास है। वहाँ के बड़े स्तूप की वेदिका में प्रत्येक दिशा में एक तोरण है। दो और स्तूपों की भी वेदिकाएँ हैं जिनमें से एक में एक तोरण है। भारहुत के तोरण पर "शुंगों के राज्य में" बने होने का लेख है; साँची के बड़े स्तूप का दक्खिनी तोरण "राजा श्री सातकर्णि के **आवेशनी** (कारीगर) वासिष्ठीपुत्र आनन्द का दान" है—५७ ई० पू० वाले गौतमीपुत्र सातकर्णि के। साँची वाले तोरणों के खंभों के बीच तिहरी

सूचियाँ (बँडेरियाँ, आड़ी पाटियाँ) हैं जो बीच में कुछ कमानीदार हैं। तोरणों के प्रत्येक खंभे, प्रत्येक सूची और प्रत्येक उष्णीष (दाब, खंभे की सीध में ऊपर बढ़े पत्थर) पर सजीव मूर्त्त दृश्य कटे हैं। वेदिकाओं के थंभों और सूचियों पर भी सुन्दर मूर्त्तियाँ काटी गई हैं। थंभों पर मानो ऊपर की बँडेरियों का बोझ झेलने को चौमुखे हाथी बौने आदि बने हैं तथा उनके बाहरी ओर मानो सहारा देने के लिए ललित भाव-भंगी में वृक्षों पर रहने वाली यक्षिणियाँ।

मूर्त्त दृश्यों में बुद्ध जीवनी की अनेक घटनाएँ, जातक कहानियाँ तथा उस युग के लोक जीवन और इतिहास के चित्र तथा कुछ व्यंग्य चित्र भी हैं। सभी खूब जानदार और वास्तविक हैं। भारहुत के अनेक दृश्यों के शीर्षक उनके नीचे खुदे हैं, साँची वालों को विद्वानों ने यत्नपूर्वक पहचाना है। किन्तु बुद्ध की मूर्ति उनमें कहीं नहीं है। बुद्ध का संकेत उनके चरण आसन या बोधिवृक्ष आदि से किया गया है।

ये वेदिकाएँ और तोरण सब पत्थर के हैं, पर ठीक काठ के नमूनों पर बनाये गये हैं। उष्णीषों के जोड़ लकड़ी के जोड़ों की तरह तिरछे काटे गये हैं। उनपर मूर्त्तियों की खुदाई भी चन्दन या हाथीदाँत की नक्काशी के नमूने पर हुई है। उन्हें पत्थर पर उभरे या काटे हुए चित्र कहना चाहिए। भारहुत की कला में साँची वाला सुथरापन नहीं है, वह ठीक लोक-कला है।

ग. मिट्टी के टिकरे और मूर्त्तिकला

वही लोक-कला इस युग के उन मिट्टी के पकाये टिकरों में प्रकट होती है जो हज़ारों की संख्या में जहाँ तहाँ पाये जाते हैं और जिनका चिपटे डौल के उभारे हुए चित्रों से शुंग-सातवाहन युग का होना पहचाना जाता है। इनमें उस युग का लोक-जीवन बड़ी वास्तविकता से अंकित है। सहजाति से पाये गये एक टिकरे पर कण्व के आश्रम में दुष्यन्त का आगमन तथा कौशाम्बी के एक टिकरे पर वासवदत्ता-हरण का दृश्य

हृदयग्राही रूप में अंकित है।* पूजा के लिए पत्थर या धातु की पट्टी पर मूर्त्ति उभारने की प्रथा भी थी। वैसी पट्टियों को **आयागपट** या **आर्य-वती** कहते थे। मथुरा से शक क्षत्रपों और उनके ठीक बाद के काल (पहली श० ई० पू०) के जैन आयागपट मिले हैं, और उनपर की मूर्त्तियाँ भी उसी तरह चिपटे उभार में हैं।

इन उभारी मूर्त्तियों के अतिरिक्त खुली मूर्त्तियाँ भी बनती थीं। भास के प्रतिमानाटक से पता मिलता है कि प्राचीन भारत में राजवंशों के **देवकुल** बनाने की प्रथा थी। प्रत्येक राजा की मृत्यु के बाद उसकी मूर्त्ति उसमें स्थापित की जाती थी। हमने देखा है कि वैसी राज-मूर्त्तियाँ महाजनपद और पूर्वनन्द युग से बन रही थीं (ऊपर पृ० १३६)। नानाघाट में पहले सातवाहनों का देवकुल था। वहाँ की मूर्त्तियों के अब केवल पैर तथा उनके नीचे की पावटियाँ बची हैं जिनपर राजाओं के नाम खुदे हैं।

घ. गान्धारी शैली

कला के उक्त नमूने प्रायः पहली शताब्दी ई० पू० तक के हैं। इसके ठीक बाद पह्लव राजा अज या उसके उत्तराधिकारी के काल से कपिश-गन्धार में एक नई कला का उदय होता है जिसका विषय बौद्ध है और "शैली सरसरी निगाह से देखने में" यूनानी। इस शैली को गान्धारी शैली नाम दिया गया है और इसकी हज़ारों मूर्त्तियाँ मिली हैं। फ्रांसीसी विद्वान् फूशे तथा अंग्रेज़ विद्वान् विं० स्मिथ और सर जौन मार्शल का मत था कि बुद्ध मूर्त्ति की कल्पना इसी शैली के कारीगरों ने की, इसी से भारत में कोरी हुई मूर्त्तियों का रिवाज चला तथा आगे की भारतीय मूर्त्ति-कला पर इसकी अमिट छाप पड़ी। दूसरी तरफ़ हैवेल (अंग्रेज़), आनन्द कुमारस्वामी, का० प्र० जायसवाल तथा कृष्णदास उस स्थापना का

* जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५२)—इतिहासप्रवेश ४र्थ संस्क० पृ० ३१, ५८। इस ग्रन्थ के प्रतीक आगे अनेक चित्रों के बारे में केवल इ प्र संकेत से दिये जायेंगे। उसके आगे की संख्या पृष्ठसूचक होगी।

पूरा प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि यह कला महायान-अनुयायी पह्लव और ऋषिक राजाओं के एकाएक बुद्ध मूर्त्ति की माँग करने से खड़ी हुई, पह्लवों ऋषिकों के पास अपनी कोई मूर्त्तिकला न थी, गन्धार में बसे हुए जिन यूनानी-वंशज कारीगरों से उन राजाओं ने काम लिया उन्होंने भारतीय कला की भावमय व्यञ्जना को यूनानी कला की वास्तविकता के साथ मिलाने का प्रयत्न किया, पर वे इसमें विफल रहे, गान्धारी कला में उन दोनों विशिष्टताओं में से एक भी प्रस्फुटित न होने पाई। दूसरा मत अधिक साधार है, तो भी इसमें और खोज की आवश्यकता है।

इस विवाद में अथवा भारतीय कला-इतिहास के अनुशीलन में मेरे जानते किसी ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि शकों ऋषिकों की अपनी कला भी कोई थी, और कि वह कैसी थी। पेशावर सग्रहालय में उरशा की कागान दून से मिली सरपट भागते हिरन-जोड़े की अत्यन्त सजीव ठोस सोने में बनी मूर्त्ति है। १६ सौ बीसों में एक जर्मन विद्वान् ने उसे देखा तो उसने यह माना कि उसके कागान से पाये जाने की बात झूठ है और कि वह बर्लिन संग्रहालय से चुरा कर लाई गई है। पहले विश्व-युद्ध के बाद अंग्रेज़ों और उनके मित्रों ने जर्मनी पर अधिकार किया था, तब वे उसे चुरा ला सकते थे। उस विद्वान् ने बर्लिन पत्र लिखा और और जब तक उसका उत्तर न आया वह पेशावर के आसपास टिका रहा। जब उसके पास यह लिखा आ गया कि बर्लिन संग्रहालय वाली मूरत वहाँ सही-सलामत है, तब उसने माना कि वह मूरत कागान से मिली है! बर्लिन वाली मूरत रूस की दोन दून से मिली थी।* शकों सर्मातियों की समान कृष्टि की चर्चा हो चुकी है (ऊपर पृ० १७३) और कागान और

* मुझे यह कहानी १९४६ में पेशावर संग्रहालय के विद्वान् पठान अध्यक्ष श्री अ० शकूर ने सुनाई थी। अधिक पूछताछ के लिए तब समय न था और इसका किसे ध्यान था कि पेशावर विदेश बन जायगा जहाँ से भारत में कोई सूचना मँगाना अत्यन्त कठिन हो जायगा? अपनी स्मृति के आधार पर मुझे लगता है कि अजिंठा की एक प्रसिद्ध आकृति उसी की अनुकृति है।

दोन की इन मूर्त्तियों का मानो एक साँचे में ढला होना मार्के की बात है। भारतीय कृष्टि में शकों ऋषिकों की देन भी खोज का महत्त्वपूर्ण विषय है।

ङ. मथुरा और अमरावती के कला-सम्प्रदाय

पंजाब, राजस्थान, गंगा काँठे और दक्खिन के बीच दिल्ली की जो केन्द्रीय स्थिति है, जब दिल्ली नहीं थी तब मथुरा उस स्थिति को निभाती थी। इसीलिए कनिष्क वंश की पेशावर के साथ-साथ दूसरी राजधानी मथुरा भी रही। उस वंश की छत्रच्छाया में मथुरा में मूर्तिकला का एक सम्प्रदाय पनप उठा जिसकी सैकड़ों कृतियाँ आज भी मिलती हैं, जिनमें से अनेक भारतीय कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। यह सम्प्रदाय भारत की पिछली कला-परम्परा के अनुसार है, इसपर गान्धारी शैली का ज़रा भी प्रभाव नहीं। कनिष्क की खंडित मूर्ति (इ प्र १३०) इसी की कृति है। इसकी और प्रसिद्ध मूर्त्तियों में एक प्रसाधिका (रानी की शृंगार-सहायिका) की बड़ी भव्य है; एक महाभारत की कहानी के अनुसार ऋष्यशृंग की। ऋष्यशृंग ऋषिकुमार था जिसने जवान होने तक किसी स्त्री को देखा न था। जब पहलेपहल देखा तब जो भोलापन और चकित मनोभाव दिखाया वह इस मूर्त्ति में कमाल का अंकित है। एक मूर्त्ति कुबेर की है। उसे व्यंग्यचित्र कहना चाहिए। मोटे पेट को दुपट्टे से थामे मुसकराते पूँजी-पति कुबेर बैठे हैं। इसकी नकल सीता काँठे द्वारा चीन पहुँची जहाँ आज भी पू-थाइ नाम से यह बनती है। युरोप के शौकीन इसे भाग्यदायक मान कर मँगाते और घरों में रखते हैं। भारत के अंग्रेज़ी-पढ़े भी उसकी नकल करने लगे हैं। वे इसे हँसता बुड्ढा कहते हैं।

आन्ध्र देश के गुंटूर जिले में कृष्णा तट पर अमरावती में पुराना स्तूप था। तीसरी शताब्दी ई० में इसे संगमरमर की चीपों से ढका गया और इसके चारों ओर संगमरमर की बाड़ बनाई गई जिसे जी खोल कर मूर्त्तियों और अलंकरणों से सजाया गया। वह समूची कृति बहुत ऊँचे दर्जे की है। उसकी कला में कहीं कहीं रोमी प्रभाव की झलक है, जो रोम के साथ चलते व्यापार के कारण स्वाभाविक ही था।

च. देवमूर्त्तियों और मन्दिरों का अभाव

भारत में मूर्तिकला महाजनपद युग से चली आती थी। सातवाहन युग के वाङ्मय में देव-प्रतिमाओं के जो उल्लेख हैं उन्हें भी हमने देखा। फिर भी इस युग की कोई पौराणिक देवमूर्त्तियाँ और उनके मन्दिर क्यों नहीं मिले? यह बड़ी समस्या है।

मेरे गुरु स्व० आचार्य का० प्र० जायसवाल ने इसका यह समाधान किया था कि कुषाण वंश (और कनिष्क वंश) के कट्टर बौद्ध शासकों ने उन्हें नष्ट कर दिया। राय कृष्णदास का भी इस व्याख्या से सन्तोष हो गया है। किन्तु कुषाण और कनिष्क वंश के राजाओं में कट्टर बौद्ध कौन था? और उस युग की भारतीय जनता प्रजापीडक शासन को कितने दिन टिकने देती? एकमात्र कुषाण के बेटे विम का प्रजापीडक होना प्रसिद्ध है। पर वह शिव का उपासक था। उसके सिक्कों पर नन्दी के सहारे खड़े त्रिशूल-धारी शिव की मूर्त्ति है। कनिष्क ने शिव स्कन्द और दूसरे देव-देवियों की मूर्त्तियाँ अपने सिक्कों पर छापीं। उसके वंश का शिवाङ्क सिक्का इतना चला कि तीसरी शताब्दी में जब उससे मर्व और बलख का राज्य ईरान के सासानी शाहों ने लिया तब उन्हें भी वहाँ शिव-नन्दी वाला सिक्का चलाना पड़ा। फिर दक्खिन भारत में तो कुषाण और कनिष्क वंश का राज्य कभी पहुँचा नहीं, वहाँ से मूर्त्तियाँ और मन्दिर कैसे लुप्त हो गये? इस दशा में यह व्याख्या ठीक नहीं लगती।

सच बात यह है कि इस युग तक के वाङ्मय में देवमूर्त्तियों के जो उल्लेख हैं उनसे यह प्रतीत नहीं होता कि मूर्त्तिपूजा साधारण और व्यापक रूप में चल गई हो। पौराणिक धर्म का इस युग में उदय मात्र हुआ। भागवतों के पूजा-स्थान सामूहिक भजन के बाड़े ही थे (ऊपर पृ० १२१)। आयागपटों पर या अन्य रूप में छोटी छोटी अस्थायी मूर्त्तियाँ विशेष अवसरों पर पूजी जाती होंगी। सिक्कों पर की देव-मूर्त्तियों से मूर्त्ति-पूजा का रिवाज सिद्ध नहीं होता। मूर्त्तिकला थी, पर मूर्त्तिपूजा का अभी आरम्भ मात्र हुआ था।

अध्याय ९

वाकाटक-गुप्त युग—भारतीय कृष्टि का स्वर्ण-काल

§१. वाकाटक-गुप्त युग

दूसरी शताब्दी के अन्त से राजनीतिक नक्शे में उलटफेर होने लगा। लाटदेश में आभीरों ने पच्छिमी क्षत्रपों से स्वतन्त्र राज्य खड़ा कर लिया। दक्षिण कोशल के एक सातवाहन-सामन्त ने कनिष्कवंशज सम्राट् वासुदेव के काल में कौशाम्बी पर चढ़ाई कर उसे ले लिया। वासुदेव के बाद (लग० २१० ई०) सतलज जमना के बीच यौधेय और कुणिन्द गण विद्रोह कर स्वतन्त्र हो गये। पूर्वी राजस्थान में मालव गण क्षत्रप राज्य से स्वतन्त्र हो गया। गंगा-काँठे में भी ऋषिक साम्राज्य तब खड़ा न रह सका। वहाँ एक भारशिव-नाग वंश उठ खड़ा हुआ जिसकी शाखाएँ मथुरा में, उसके सवा सौ मील दक्खिन सिन्ध-परा-संगम पर पद्मावती में तथा शायद उत्तर पञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्रा में भी राज करने लगीं। सातवाहन साम्राज्य भी टूट गया। कुन्तल (दक्खिनी महाराष्ट्र, उत्तरी कर्णाटक) में उसके उत्तराधिकारी चुटु-सातवाहन हुए; आन्ध्र देश में इक्ष्वाकु, बृहत्फलायन और शालंकायन वंशों के राज्य स्थापित हुए।

वासुदेव का उत्तराधिकारी कनिष्क ३य और उसका वासुदेव २य हुआ। वासुदेव २य के हाथ से पच्छिमी पंजाब भी निकल गया, वहाँ स्थानीय राजवंश खड़े हो गये। २२४ ई० में ईरान में पार्थव वंश का राज्य समाप्त कर अर्दशीर पापकान ने सासानी राजवंश स्थापित किया। उसने मकरान तक जीतने के बाद भारत की पच्छिमी सीमा के कलात प्रदेश को भी ले लिया तथा मध्य एशिया में मर्व और बलख भी वासुदेव

२य से छीन लिये, जिसका राज्य तब अफगानिस्तान और सुग्ध में बाकी रहा। सुग्ध के उत्तर से ज़ुआन-ज़ुआन लोग, जो अल्तइक नृवंश के थे, ऋषिक राज्य को कमजोर पा सुग्ध पर धावे मारने लगे।

लग० २५० ई० में भारशिव राजा का सेनापति "विन्ध्य-शक्ति" प्रसिद्धि में आया। वह विन्ध्य प्रदेश का था और उसने विन्ध्य की दृढ गढ़बन्दी की थी, इससे उसका यह नाम पड़ा। वह वाकाटक वंश का था। उसने विदिशा और अवन्ति जीत भारशिव राज्य में मिला दिये। अवन्ति छिन जाने पर क्षत्रप राज्य मुख्यतः सुराष्ट्र कच्छ और सिन्ध में रह गया। विन्ध्यशक्ति का बेटा प्रवरसेन पिता से भी योग्य निकला। भारशिव राजा भवनाग के कोई पुत्र नहीं था। उसने अपनी बेटी का प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र से विवाह कर उसे अपना उत्तराधिकारी बना दिया। भारशिव राज्य की बागडोर यों प्रवरसेन के हाथ आ गई। उसने राजस्थान के अंश, महाराष्ट्र, दक्षिण कोशल और आन्ध्र को भी जीत साम्राज्य में मिलाया। तभी वीरकूर्च्च नामक पुरुष ने, जो गौतमीपुत्र वाकाटक की तरह नाग राजा का दामाद था, तमिळ देश को जीत काञ्ची में पल्लव राजवंश स्थापित किया।

सासानी शाहानशाह वरह्रान २य ने २८३ ई० में शकस्थान और शायद सिन्ध भी जीत अपने बेटे वरह्रान को सकानशाह (शकाधिपति) पद दे वहाँ का उपराज नियत किया। २६३ ई० में वरह्रान २य की मृत्यु पर वरह्रान ३य ने मुकुट पहना। उसके दादा के छोटे भाई नरसेः ने उसे चुनौती दी। दोनों में युद्ध हुआ। सम्राट् प्रवरसेन ने तब भारत से सेनापति मयूरशर्मा को उस गृह-युद्ध में वरह्रान का साथ देने शकस्थान भेजा। मयूरशर्मा कर्णाटक का था और पहले कोंकण और राजस्थान में सम्राट् की ओर से लड़ चुका था। घरेलू युद्ध में नरसेः की जीत हुई।* प्रवरसेन ने अपनी लौटती सेना द्वारा सुराष्ट्र के क्षत्रप राज्य

---

*शाह नरसेः अपने पाइकुली अभिलेख में कहता है कि अवन्ति-राज ने वरह्रान

को आधिपत्य में ले लिया। कादम्ब मयूरशर्मा को उसने पल्लव महाराजा से कर्णाटक प्रदेश दिला कर उसका अभिषेक करा दिया। मयूरशर्मा के वंशज 'वर्मा' बन गये। ३३२ ई० में प्रवरसेन ने क्षत्रप वंश को मिटा कर सुराष्ट्र को भी अपने सीधे शासन में ले लिया। उसके प्रायः १२ बरस पीछे उसकी मृत्यु हुई।

प्रायः उस काल तक कनिष्क वंश का राज्य टुकड़े टुकड़े हो चुका और उसकी जगह अफगानिस्तान और पच्छिमी गन्धार में ५ छोटे छोटे राज्य हो गये थे। ज़ुआन-ज़ुआन लोग सुग्ध मर्व और बलख में भी आ बसे थे। ज़ुआन-ज़ुआन उनका चीनी नाम था, पारसी और रोमी उन्हें ख़ियोन कहते, पह्लवी में उनका नाम ह्यओन तथा उनके सिक्कों पर उयोन है।

विन्ध्यशक्ति का समकालिक गुप्त नामक राजा शायद अयोध्या में था। उसके पोते ने अपने को चन्द्र-गुप्त कहा। मिथिला के लिच्छविगण की शक्ति साढ़े सात सौ बरस साम्राज्यों के अधीन रहने के बाद भी बनी हुई थी। चन्द्र-गुप्त ने लिच्छवि कन्या कुमारदेवी से विवाह किया और दोनों राज्य मिल गये। उनके बेटे समुद्र-गुप्त का अभिषेक ३२० ई० में हुआ। उसने मगध को जीता और पञ्चाल मथुरा के राजाओं को हराया। फिर प्रवरसेन के आँख मूँदते ही मगध से सीधे दक्खिन चढ़ाई की।

के पक्ष में सेना भेजी थी। मैसूर में चन्द्रवल्ली की चट्टान पर खुदा है कि "कादम्बों में क मयूरशर्मा ने तालाब खुदवाया जिसने हराये···आभीर···पारियात्रिक शकस्थान···।" दोनों लेख एक दूसरे की व्याख्या करते है। चन्द्रवल्ली अभिलेख मैसूर पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष डा० मै० ह० कृष्ण को १९२९ मे मिला, उस चट्टान के पास खुदाई से उन्हें तालाब का बाँध भी मिला। इस लेख की व्याख्या में अपने को असमर्थ पा कर एक बड़े विद्वान् ने डा० कृष्ण की मृत्यु के बाद इसे 'आधुनिक जालसाज़ी' कह डाला अर्थात् डा० कृष्ण पर जालसाज़ी का अभियोग लगाया! विवेचना के लिए देखिए जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९५५)—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृ० २६१–३२४।

दक्षिण कोशल और उड़ीसा होते हुए वह आन्ध्र की सीमा तक पहुँच गया, जहाँ और राजाओं के साथ काञ्ची के पल्लव राजा का भाई भी उससे हारा। समुद्र-गुप्त ने यों वाकाटक साम्राज्य के दक्खिनपूरबी पहलू को तोड़ कर अधीन कर लिया। तब उसके उत्तरपच्छिमी पहलू पर चोट कर पद्मावती और अवन्ति को चीरता वह वीणा नदी पर अरिकिण (एरण, जि० सागर) तक पहुँच गया। उसके बाद उसने गंगा-जमना काँठों के राज्यों को "ज़बरदस्ती उखाड़" अपने सीधे शासन में ले लिया। बंगाल कामरूप नेपाल कुमाऊँ के राज्यों तथा मालव आर्जुनायन यौधेय माद्रक आदि गणराज्यों ने उसका आधिपत्य माना। ये गणराज्य राजस्थान से चनाब तक फैले थे। वाकाटकों से साम्राज्य ले लेने के बाद समुद्र-गुप्त ने महाराष्ट्र में उनका राज्य बना रहने दिया और उन्हें मनाने का यत्न किया।

बलख के एक ऋषिक सरदार किदार ने इस बीच अफगानिस्तान पच्छिमी गन्धार के पाँच राज्यों को जीत वहाँ राज्य खड़ा किया। सासानी सम्राट् शाहपुह्र २य ने ३५६–५८ ई० में उसपर चढ़ाई कर उसे अपना सामन्त बनाया। खियानों या उयोनों के मर्व और बलख में घुसने पर सासानियों से उनकी मुठभेड़ें हुईं थीं। ३५८ में शाहपुह्र ने उनसे भी सन्धि कर उनके राजा को बलख में अपना सामन्त नियत किया। कालिदास ने रघु की उत्तर चढ़ाई में जिन यवनियों की चर्चा की है वे इन्हीं उयोनों की स्त्रियाँ थीं। किदार ने समुद्र-गुप्त से सहायता ले और उसका आधिपत्य मान शाहपुह्र से युद्ध छेड़ा और उसे हरा कर भगा दिया (३६७ ई०)। समुद्र-गुप्त का आधिपत्य यों हिन्दकोह तक पहुँच गया। उधर सिंहल आदि द्वीपों ने भी उसे अधिपति माना।

समुद्र-गुप्त की मृत्यु (लग० ३७६ ई०) के बाद शाहपुह्र २य ने किदार के बेटे पिरो को फिर अपना सामन्त बना लिया और उसके पूरबी प्रान्तों के उपराज शकाधिपति ने पिरो के साथ भारत पर चढ़ाई की। समुद्र-गुप्त के बेटे राम-गुप्त ने उनका सामना किया, पर ब्यास नदी के

किनारे शिवालक के एक गढ़ में घिर गया। शकाधिपति ने उससे प्रस्ताव किया कि अपनी रानी ध्रुवस्वामिनी को सौंप दो तो तुम्हें जाने दूँ। राम-गुप्त ने वह शर्त्त मान ली! पर उसका छोटा भाई चन्द्र-गुप्त दूसरा संकल्प कर, भाई को मना कर, ध्रुवस्वामिनी के भेस में शकाधिपति के पास गया, और उसका काम तमाम कर उसकी सेना का भी संहार किया। राम-गुप्त का भी अन्त हुआ; ध्रुवस्वामिनी ने चन्द्र-गुप्त को अपना पति वरा। चन्द्र-गुप्त ने अफगानिस्तान पर चढ़ाई कर सासानियों को खदेड़ा और किदार-वंशजों को पूरी तरह हराया।

चन्द्र-गुप्त की पहली रानी से प्रभावती नामक बेटी थी। उसका विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन २य से हुआ। उससे गुप्त वाकाटक राज्यों में पूरा समझौता हुआ और समूचा भारत एक तरह से एक साम्राज्य में आ गया। दिल्ली की महरौली बस्ती में जो लोहे का स्तम्भ खड़ा है, उसे शिवालक के विष्णुपद पहाड़ से अनंगपाल तोमर ११वीं सदी में उठवा लाया था। उसपर लिखा है कि राजा चन्द्र ने पूरबी बंगाल में सम्मिलित शत्रुओं को हराया, सिन्ध के सात मुखों (सतलज, ब्यास, रावी, चनाब, जेहलम, सिन्ध, काबुल) को युद्ध में तैर वाह्लीकों (बलख वालों = किदार वंशजों) को जीता तथा दक्षिणी समुद्र उसके वीर्य-वायुओं से अधिवासित हुआ। यों चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य पूरे भारत का सम्राट् था।

चन्द्र-गुप्त के बेटे कुमार-गुप्त का ४० वर्ष का प्रशासन (४१५–४५५ ई०) प्रायः शान्ति से बीता। पर उस बीच मध्य एशिया में बड़ा परिवर्त्तन हो रहा था। चौथी शताब्दी के अन्त में हूण फिर अपने घरों से निकले और चीन को छोड़ बाकी सब सभ्य राष्ट्रों से जा भिड़े। उनकी एक बाढ़ थियानशान की उत्तरी तलहटी के साथ-साथ पच्छिमी मध्य एशिया पहुँची और वहाँ के ऋषिक-तुखार राज्यों तथा सासानी साम्राज्य से टकराई। हूणों सासानियों का युद्ध सवा सौ बरस तक चलता रहा। वंक्षु पर हूणों के टिक जाने से सीता काँठे के भारतीय राज्य उत्तर और पच्छिम से घिर गये। कुमार-गुप्त अफगानिस्तान पर आधिपत्य बनाये न

रख सका। ४५४ ई० में सासानी राजा यज़्द्गुर्द को मार कर एक हूण सेना अफगानिस्तान पंजाब और मध्यदेश को चीरती बनारस के उत्तर तक बढ़ आई। कुमार-गुप्त की उसी युद्ध में मृत्यु हुई, पर उसके जवान बेटे स्कन्द-गुप्त ने हूणों को पूरी तरह हराया। सभ्य जगत् में वह हूणों की पहली हार थी।

उसके बाद ३० बरस शान्ति रही। पर ४८४ ई० में सासानी राजा फिरोज़ को युद्ध में मारने के बाद हूणों ने बलख को अपनी राजधानी बना लिया। लग० ५०० ई० में हूण तोरमाण गन्धार में राजा बन बैठा। उसने अरिकिण तक पर चढ़ाई की। फिर उसके बेटे मिहिरकुल को गुप्त सम्राट् बालादित्य न रोक सका। पंजाब कुरुक्षेत्र राजस्थान को गुप्त सम्राट् जब न बचा सके तब वहाँ की जनता स्वयं अपनी रक्षा को उठ खड़ी हुई। उसके अगुआ **जनेन्द्र** यशोधर्मा ने गुप्त साम्राज्य को हाथ में ले मिहिरकुल को "हिमालय के गढ़ में खदेड़ा और अपने चरणों पर झुकने को बाधित किया।" मिहिरकुल ने तब आत्महत्या कर ली। यशोधर्मा के सुशासन के साथ प्राचीन काल का अन्त होता है (लग० ५४० ई०)।

§२. वाकाटक-गुप्त युग में बृहत्तर भारत और विदेश-सम्पर्क

गंगा पार का हिन्द और सीता काँठे का हिन्द जिनका सातवाहन युग में उदय हुआ था इस युग में और फूले फले। चौथी शताब्दी ई० में पूरवी कलिमन्थन (बोर्नियो)* के राजा मूलवर्मा ने कोई यज्ञ किया जिसके लिए खड़े किये यूप (खंभे) संस्कृत अभिलेखों सहित विद्यमान हैं। और पूरब, सुलवेसि ('सेलेबीज़')* द्वीप का उपनिवेशन भी इस युग तक

---

* एशिया के अनेक स्थानों के नाम पिछली दो-तीन शताब्दियों में युरोपी उच्चारण के अनुसार बिगड़ गये या युरोपियों ने नये रख दिये। हिन्दद्वीपों (इन्दोनीशिया) की स्वतन्त्र सरकार अब 'बोर्नियो' के लिए पुराना नाम कलिमन्थन बर्तती है। सुल-वेसि स्थानीय भाषा का शब्द है, अर्थ—लोह-द्वीप।

हो चुका था। वहाँ भारतीय वर्णमाला और धर्म-कर्म की परम्परा अब तक चली आती है। जावा के राजा पूर्णवर्म्मा का इसी काल का एक अभिलेख है। उसकी दक्खिन भारत के समकालिक लेखों के साथ तुलना से प्रकट होता है कि भारत और परले हिन्द की लिपि इस युग में हूबहू एक थी (इ प्र १७४, १७७)। चम्पा का राजा भद्रवर्मा चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य का समकालिक था। उसके लेख भी विद्यमान हैं। उसने भद्रेश्वरस्वामी नाम से शिव-मन्दिर बनवाया जो चम्पा का राष्ट्रीय मन्दिर बन गया। उसका लड़का गंगा की तीर्थयात्रा करने आया। लौटने पर वह गंगराज कहलाया और उसका वंश गंगराज वंश। 'फूनान' में चन्द्र-गुप्त युग में दक्खिन भारत से दूसरा कौण्डिन्य गया जिसने वहाँ धर्म-कर्म और समाज के अनेक सुधार किये। इस कौण्डिन्य के वंश में ५वीं शताब्दी के अन्त में राजा जयवर्मा हुआ। सुमात्रा-जावा में ५वीं शताब्दी में एक नया राज्य खड़ा हुआ जिसकी राजधानी श्रीविजय (=पालेम्बांग) थी। वह शीघ्र साम्राज्य बन गया।

फ़िलीपीन और हैनान द्वीपों तथा तैवान (फारमोसा) के दक्खिनी छोर में भी भारतीय उपनिवेशन बहुत सम्भवतः इसी युग में फैला। फ़िलीपीन की लिपियाँ, जिनमें लिखे ग्रन्थों को सोलहवीं शताब्दी में स्पेनियों ने थोक का थोक नष्ट किया, ब्राह्मी-मूलक थीं। वहाँ की कला पर स्पष्ट भारतीय छाप है। फ़िलिपीन के लोग यह मानते हैं कि उनके आचार की नींव मनु और लाओ-चे की स्मृतियों पर है। वहाँ की आधुनिक विधान-सभा के द्वार पर इन दोनों की मूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं। फ़िलिपीन के अनेक प्रदेश अब तक **विषय** कहलाते हैं। ज़िले के अर्थ में विषय शब्द गुप्त युग का था।

सीता काँठे की दशा कुमारजीव की कहानी से प्रकाशित होती है। समुद्र-गुप्त के प्रशासन में भारत के किसी राजामात्य का बेटा कुमारायण यात्रा को निकला और तारीम काँठे के कुचि राज्य में पहुँचा। वहाँ के राजा की बहन जीवा से उसका प्रेम और विवाह हो गया। उनका

लड़का कुमारजीव हुआ। कुमारजीव की माँ उसे पढ़ाने को कश्मीर ले आई। तीन बरस बाद वहाँ से काशगर ले गई जहाँ कुमारजीव ने वेद और शास्त्रों की गहरी पढ़ाई की। तब वह माँ के साथ चोक्कुक (यारकन्द) चला आया जहाँ उसने नागार्जुन आदि के महायान ग्रन्थ पढ़े। तब माँ बेटा कुचि लौट आये। कुमारजीव ३६ भाषाएँ सीख गया था। चीनी सेना ने ३८३ ई० में कुचि पर चढ़ाई की, जिसके कैदियों में कुमारजीव भी गया। चीन के सम्राट् को इसका पता लगने पर उसे राजधानी बुलाया गया जहाँ ४०१ ई० से वह संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद करने लगा। उसने भारत से और सहायक विद्वानों को भी बुलाया। ४१२ ई० में यह काम करते हुए उसकी मृत्यु हुई। कुमारजीव की कृतियाँ चीन का शिक्षित समाज आधुनिक युग तक पढ़ता रहा है।

कुमारजीव जब चीन में था, तभी फाहिएन सीता काँठे हो कर भारत आया। वह यवद्वीप हो कर जिस जहाज में चीन लौटा उसमें दो सौ भारतीय व्यापारी भी थे। उसके १०-१२ बरस बाद गुणवर्मा नामक विद्वान्, जो कपिश या कश्मीर का युवराज था, जावा हो कर नन्दी नामक भारतीय के जहाज में चीन गया। ३५२ ई० में कोरिया में बौद्ध धर्म स्थापित हुआ। विद्वानों ने यह माना है कि वहाँ की भाषा को ब्राह्मी लिपि में लिखने का यत्न भी किया गया (आइज़क टेलर १८८३, दि आल्फाबेट—वर्णमाला—२ पृ० ३४८)। उसकी परिणति कैसे क्या हुई इसपर प्रकाश की आवश्यकता है। भारतीय विद्वानों को इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए था, पर आज तक किसी ने नहीं दिया। ५३८ ई० में निपोङ (जापान) में भी बौद्ध शासन स्थापित हुआ।

सीता काँठे की बोलियों में सातवाहन युग में ब्राह्मी लिपि की पैबंद लगाई गई थी (ऊपर पृ० १४५)। इस युग में वहाँ की दो भाषाओं में वाङ्मय के फूल खिल आये। एक भाषा थी तारीम के उत्तर कुचि अग्नि कौशाङ आदि बस्तियों की, जिसे आधुनिक विद्वान तुखारी कहते हैं, दूसरी खोतनदेशी। दोनों के अनेक लेख मिले हैं (इ प्र १७४)। इन

दोनों में जो वाङ्मय खिले वे प्रायः संस्कृत से अनूदित या उसके नमूने पर थे। उनमें भरपूर संस्कृत शब्द भी हैं। दक्खिन भारत में तमिळ भाषा का विकास जिस प्रक्रिया से हुआ था, उसी प्रक्रिया से यहाँ इन भाषाओं का हुआ। इनके पड़ोस की सुग्धी भाषा में भी इस युग में संस्कृत अनुवादों के रूप में वाङ्मय का उदय हुआ।

भारतवर्ष कहने से वाकाटक-गुप्त युग में सीता काँठे और परले हिन्द सहित भारत ही समझा जाता था। वायुपुराण (१.४५.७८–८०) में कहा है—"इस भारतवर्ष के नौ भेद हैं, जो समुद्र से अन्तरित होने से परस्पर अगम्य हैं—इन्द्रद्वीप, ... ताम्रपर्णी ... और यह नौवाँ सागर से घिरा द्वीप ...।" नौवाँ द्वीप* ठेठ भारत है, बाकी नामों में से केवल ताम्रपर्णी की पहचान हो पाई है। चीनी ऐतिहासिक फ़न-ये ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखा कि शिन-तू (हिन्द) का विस्तार काओफू (काबुल) से फान-की (व्येतनाम) तक है; शिन-तू को थियेन-चू (देवताओं का देश) भी कहते हैं।

§ ३. उक्त युग का आर्थिक जीवन और राज्यसंस्था

महाजनपद युग में भारत की राज्यसंस्था का जो ढाँचा प्रकट हुआ और जिसका तब से विकास होता आया था, उसे हम इस युग में और परिपक्व पाते हैं। वैशाली और नालन्दा की खुदाई से गुप्त युग की लिपि वाली ग्रामो श्रेणियों निगमों की अनेक मुहरें मिली हैं, जिससे सिद्ध है कि जनता के स्थानीय स्वशासन के वे निकाय इस युग में भी काम करते थे। एक मुहर **पुरिका ग्राम जानपद** की मिली (इ प्र १८३)। जब पहलेपहल श्री का० प्र० जायसवाल ने कहा था कि प्राचीन भारत में महाजनपद से गुप्त युग तक पौर-जानपद सभाएँ थीं, तब इसपर बड़ा विवाद उठा था। अर्थशास्त्र और स्मृतियों में जनपदों की संवितों और

---

* द्वीप शब्द संस्कृत में सदा टापू के अर्थ में नहीं आता। दोआब, प्रायद्वीप आदि के अर्थ में भी बर्ता जाता है।

चरित्रों का स्पष्ट उल्लेख है, सो हमने देखा है (ऊपर पृ० १२७-२८, १६८–७१)। पर वैसे प्रमाणों के बावजूद अनेक विद्वानों का संशय न मिटा था। उसके बाद खुदाई से वह मुहर निकली। जायसवालजी की मृत्यु के बाद जयपुर के रैढ़ नामक स्थान की १६४१ में हुई खुदाई से मालव जनपद की तीसरी शताब्दी के लेख वाली सीसे की मुहर निकली। यों वाकाटक-गुप्त युग तक जानपद संस्थाओं का काम करना पूरी तरह प्रमाणित है।

मालव जनपद की मुहर (डा० सत्यप्रकाश के सौजन्य से)

नारद स्मृति में जो इस युग की है, मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों से कहीं अधिक व्यापार-सम्बन्धी कानून हैं। प्रकट है कि देशी विदेशी व्यापार पहले से अधिक था। कश्मीर के शालों की ख्याति तीसरी शताब्दी तक सुस्थापित हो चुकी थी। २७४ ई० में सासानी राजा ने रोम-सम्राट् को एक कश्मीरी शाल भेंट किया, जिसकी नफ़ासत देख रोमी लोग दंग रह गये थे। आज भी इतालिया में बहुत नफ़ीस कपड़े को, भले ही वह उनके अपने देश में बना हो, कश्मीरी बताया जाता है। सासानी शाह होर्मिज़्द २य (३०१–३०६ ई०) का विवाह काबुल की राजकुमारी से हुआ तो उसके लिए दहेज सब कश्मीरी जुलाहों ने बुना था।

जनता में राजनीतिक चैतन्य रहते राजाओं के लिए सुशासक होना आवश्यक होता है। वाकाटक और पल्लव राजाओं का पद **धर्ममहाराज** था—धर्मपूर्वक शासन का आदर्श उन्होंने अपने सामने रक्खा था। कादम्बों ने भी वही पद अपनाया। गुप्त सम्राटों की सुशासन के लिए विशेष ख्याति रही। उनका साम्राज्य अनेक **देशों** या **भुक्तियों** में बाँटा गया था, जिनमें से प्रत्येक के ऊपर उनकी ओर से नियत **गोप्ता** या उनके सामन्त **उपरिक महाराज** होते। भुक्तियों को फिर **विषयों** अर्थात् ज़िलों में बाँटा गया था। देशों और विषयों में राजकीय **अधि-**

करणों (दफ्तरों) के साथ साथ जनता की संस्थाएँ काम करती थीं। गुप्त शासनपद्धति का आगे शताब्दियों तक अनुसरण किया जाता रहा।

राजकीय कर्मचारियों को जागीर देने की प्रथा शायद शुंग युग में चली हो और इस युग में बढ़ी हो। पर ठीक किस रूप में वह थी इसकी और खोज अपेक्षित है।

§ ४. पौराणिक धर्म का विकास तथा वाकाटक-गुप्त युग का सामाजिक आचार

पौराणिक धर्म इस युग में आ कर पूर्ण हो गया। शिव स्कन्द सूर्य विष्णु और देवी की पूजा उनके मन्दिरों में मूर्त्तियाँ स्थापित कर होने लगी। भारशिव राजाओं के लेखों में उनके दस अश्वमेधों की चर्चा रहती है, अर्थात् वैदिक यज्ञों का रिवाज जारी था, पर साथ ही यह भी लिखा रहता है कि वे जहाँ कहीं जाते अपने कन्धे पर शिव की मूर्त्ति ले जाते थे। उस युग के जो शिवलिंग मिले हैं वे **मुखलिंग** हैं, अर्थात् उनपर एक या अनेक मानव चेहरे उभार में बने रहते हैं। वे चेहरे प्रायः भव्य होते हैं। भारशिव युग में ही लिच्छवियों ने नेपाल जीता और वहाँ लिच्छवि राजवंश स्थापित किया, जिसके तीसरे राजा पशुप्रेक्षदेव ने पशुपतिनाथ मन्दिर स्थापित किया। उसका शिवलिंग भी मुखलिंग ही है। भारशिवों के उपनाम नाग पर भी ध्यान देना चाहिए। वही उपनाम इस काल में चुटु-सातवाहनों में भी प्रचलित था, जैसे शिवस्कन्द-नाग, अग्निमित्र-नाग, नाग-निका देवी, नाग-मुलनिका आदि। मालव गण की राजधानी कर्कोटनगर कर्कोट नाग के नाम पर थी (उसके खँडहर नगर ककोड़ नाम से जयपुर के उणियारा ठिकाने में हैं)। यों तीसरी शताब्दी में नागों की पूजा भी प्रचलित रही लगती है। परले हिन्द के कौठार राज्य के श्रीमार राजकुल का उल्लेख ऊपर हुआ है (पृ०-१५३)। उसके बारे में एक अभिलेख व्येतनाम के ञतरङ बन्दरगाह में भगवती के मन्दिर में है। वह मन्दिर दूसरी नहीं तो तीसरी शताब्दी

का अंश्य है। इसलिए देवी की पूजा सातवाहन युग में नहीं तो तीसरी शताब्दी में अवश्य चल चुकी थी।

गुप्त सम्राट् परम भागवत (वैष्णव) थे। पर समुद्र-गुप्त ने अश्वमेध भी किया था। स्वयं किसी भी देवता के उपासक होते हुए दूसरे मार्गों के प्रति प्राचीन भारतीय राजाओं का आदर रहता था। वाकाटक स्वयं शैव थे, पर उनके प्रशासन में अजिंठा की सुन्दरतम बौद्ध लेणें काटी गईं। नालन्दा के बौद्ध महाविहार की स्थापना कुमार-गुप्त ने की। विदेशियों के लिए भी पौराणिक धर्म का द्वार तब खुला था। मिहिरकुल स्थाणु (शिव) का उपासक और पाशुपत मार्ग का अनुयायी था। उसने आत्महत्या भी की तो कठोर पाशुपत शैली[1] से—लोहे के फलक कर कीलें और छुरियाँ गड़वा, नीचे आग जलवा, उसके ऊपर लेट कर अपने देह को छेदते और भूनते हुए।

सामाजिक आचार भी इस युग में प्रायः सातवाहन युग का सा रहा। समाज में ऊँचे नीचे वर्ग थे, पर उनका अन्तर तरल था। भारशिवों और गुप्तों के पूर्व पुरुष किस वर्ण के थे हम नहीं जानते। पर उनके विवाह वाकाटकों से हुए, जो राजा बनने से पहले ब्राह्मण थे। कादम्ब किस प्रकार शर्मा से वर्मा बने सो हमने देखा है। कुमारायण ने जिस जीवा से विवाह किया वह कुचि के आर्यावर्त्ती उपनिवेशकों में से थी कि स्थानीय तुखारों में से सो भी हम नहीं जानते। ध्रुवस्वामिनी के पुनर्विवाह पर भी ध्यान देना चाहिए। उसने अपने पहले पति के रहते उससे मोक्ष पा कर पुनर्विवाह किया कि उसकी मृत्यु के बाद, इसका भी पता नहीं है।

साँची के तीसरी शताब्दी के एक अभिलेख में गोवध को पाप कहा है। पहलेपहल वहीं यह विचार प्रकट हुआ है। पिछले युगों की अपेक्षा इस युग का आचार अधिक परिष्कृत था इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ, मौर्य युग में समाजों या समाह्वयों अर्थात् जानवरों को लड़ा कर बाजी लगाने और तमाशा देखने की प्रथा थी। समाज का मूल अर्थ यही

था (सम्+√अज = इकट्ठा हाँकना)। अशोक ने इसे रोकने की यत्न किया, फिर सातवाहन युग के स्मृतिकारों ने। इस युग में वह प्रथा उठ चुकी लगती है।

§५. वाकाटक-गुप्त युग का ज्ञान और वाङ्मय

प्राचीन काल में विभिन्न देशों में संख्याएँ लिखने की विभिन्न पद्धतियाँ थीं। शून्य का चिह्न किसी पद्धति में भी नहीं था। भारत की पद्धति दूसरे देशों की से सरलतर थी। यहाँ नौ इकाइयों की तरह नौ दहाइयों के भी अलग चिह्न थे, सौ हज़ार आदि के अलग, सौ के चिह्न में दो का चिह्न टाँक कर दो सौ बनाया जाता था, इत्यादि। इसके बाद भारत में शून्य का और दशगुणोत्तर गणना का अर्थात् इकाई के ही चिह्न को एक एक स्थान बाएँ हटाते हुए दस दस गुना मूल्य देते जाने की पद्धति का आविष्कार हुआ। आज यह पद्धति बड़ी सरल लगती है, पर यह अनूठी सूझ थी और "मानव बुद्धि और शक्ति को सब तरफ़ आगे बढ़ाने में कोई और गणितीय रचना इससे अधिक प्रभावकारी नहीं हुई।"† बड़े अंक छोटों के बाँयें रक्खे जाँय यह पद्धति पहले से थी, जैसे ४६ लिखना हो तो बाएँ तरफ़ चालीस का फिर छः का चिह्न रक्खा जाता। नई बात केवल इतनी हुई कि इकाई के चिह्नों से ही शून्य के ज़ोर पर दहाइयों सैकड़ों आदि का काम लिया जाने लगा। नौ इकाइयों के चिह्न जो पहले से चले आते थे वही रहे। ऐसा केवल हमारे देश में हुआ क्योंकि यहाँ इस पद्धति का पहलेपहल आविष्कार हुआ। अरब वालों ने जब आठवीं और युरोपियों ने बारहवीं शताब्दी में इसे लिया तब हमारे अंक भी ले लिये। भारत में इस गणनापद्धति का आविष्कार तीसरी

† जी० बी० हाल्स्टेड (१९१२) औन दि फौंडेशन ऐंड टेक्नीक औफ ऐरिथ-मैटिक (अंकगणित की नींव और शिल्प) पृ० २०, विभूतिभूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह (१९३५)—हिस्टरी औफ़ हिन्दू मैथेमैटिक्स (भारतीय गणित का इतिहास) १ पृ० ३९ पर उद्धृत।

शताब्दी ई० में हुआ ऐसा अन्दाज़ है, पर कुछ विद्वान्* इसे और पहले का—दूसरी शताब्दी ई० पू० तक का—मानते हैं। पेशावर जिले के बख्शाली गाँव से मिली गणित की एक पोथी में पहलेपहल इस पद्धति का प्रयोग है, तथा योगदर्शन के व्यासभाष्य में इसका पहलेपहल उल्लेख है। अभिलेखों में इस पद्धति का प्रयोग ५६५ ई० से होने लगता है।

अंकगणित की दूसरी अधिकतर क्रियाएँ—योग ऋण गुणा भाग भिन्न वर्गमूल घनमूल त्रैराशिक आदि—जो आज बड़ी साधारण लगती और समूचे मानव विज्ञान और व्यवहार की नींव हैं, और उसी प्रकार बीजगणित की अधिकतर बुनियादी क्रियाएँ भी भारत में ही निकलीं। उनके इतिहास की खोज में बहुत काम बाकी है, तो भी इतना निश्चित है कि गुप्त युग तक वे पूर्ण हो चुकी थीं। पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह नामक ज्यौतिष के पाँच सिद्धान्त भी इस युग तक चल चुके थे। इनमें से रोमक सिद्धान्त यूनान-रोम से लिया गया था। ४७६ ई० में पाटलिपुत्र में आर्यभट का जन्म हुआ, जिसने २३ वर्ष की आयु में अपना लघुआर्यभटीय सिद्धान्त लिखा। उस ग्रन्थ में सूर्य और तारों के स्थिर होने, पृथ्वी के गोल होने तथा अपने अक्ष पर और सूर्य के चारों तरफ घूमने और चन्द्रमा के भी घूमने का प्रतिपादन है, सूर्य पृथ्वी और चन्द्रमा के आपेक्षिक परिमाण और दूरियाँ दी हैं, गुरुता-कर्षण की विवेचना है, ग्रहणों के कारणों की वैज्ञानिक व्याख्या तथा ज्यौतिष के अन्य अनेक नियम हैं। आर्यभट के बाद ज्योतिषी वराहमिहिर हुआ, जिसके पञ्चसिद्धान्तिका, वृहत्संहिता आदि ग्रन्थ प्राप्य हैं। यूनानी-रोमी ज्यौतिष के प्रसंग में वह कहता है—"यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर उनमें यह शास्त्र स्थित है, इससे वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।" प्रकट है कि ज्ञान को कहीं से भी ले लेने को प्राचीन काल के भारतीय उद्यत रहते थे।

---

* जैसे विभूति० दत्त और अ० सिंह (१९३५)—पूर्वोक्त पृ० ५१, ८६–८८।

योग दर्शन के व्यासभाष्य का उल्लेख हो चुका है। वैशेषिक का प्रशस्तपाद भाष्य और न्याय का वात्स्यायन भाष्य उसकी तरह चौथी शताब्दी के माने जा सकते हैं। इनका काल विवादग्रस्त है, पर बौद्ध योगाचारभूमि के लेखक मैत्रेय का चौथी शताब्दी में होना निश्चित है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका व्यासभाष्य के पीछे की है, अन्दाज़न पाँचवीं शताब्दी की। ईश्वरकृष्ण के समकालिक महान् बौद्ध दार्शनिक असंग और वसुबन्धु थे। वे दोनों भाई पेशावर के थे। बसुबन्धु के ग्रन्थ त्रिंशिका पर विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नामक भाष्य था जिसका चीनी अनुवाद प्रसिद्ध यात्री य्वान च्वाङ ने किया। उस अनुवाद से मूल संस्कृत ग्रन्थ का उद्धार श्री राहुल सांकृत्यायन ने किया है। अपने दूसरे ग्रन्थ अभिधर्मकोश-कारिका के उपसंहार में वसुबन्धु ने लिखा है—

इति दिङ्मात्रमेवेदमुपदिष्टं सुमेधसाम्।
व्रणादेशो विषस्येव स्वसामर्थ्यविसर्पणः॥

—यह मेधावियों के लिए दिशा मात्र बता दी है, जो अपने सामर्थ्य से स्वयं फैल जाने वाले विष के व्रणादेश (इंजेक्शन) की तरह है। विचारों की कौन सी घिचपिच से वसुबन्धु को इतनी खिझ थी कि उसने अपने उपदेश को विष की उपमा दी, सो तो भारतीय विचार के विकास को ठीक ठीक टटोलने से ही प्रकट होगा। पर वसुबन्धु के विचार फैल गये और उन्होंने भारतीय चिन्तन को बहुत प्रभावित किया इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि शंकर का वेदान्त उन्हीं का रूपान्तर है।

वैद्यक में चरक सुश्रुत नागार्जुन और पतञ्जलि की कृतियों का उल्लेख हो चुका है। तारीम काँठे में कूचा के पास भोजपत्रों पर गुप्त युग की लिपि में लिखी सात संस्कृत पोथियों के पन्ने १८९० में लेफ्टिनेंट बावर को मिले थे। तभी से तारीम काँठे के भारतीय अवशेषों की खोज आरंभ हुई। उन "बावर पोथियों" में से तीन आयुर्वेद की हैं जिनमें से एक में लहसुन के उपयोग बताये हैं। वाग्भट ने अपना अष्टांगहृदय गुप्त युग के शीघ्र बाद, छठी शताब्दी के अन्त में, लिखा। अश्वायुर्वेद के प्रवर्त्तक

शालिहोत्र और गजायुर्वेद के कर्ता पालकाप्य भी सातवाहन या वाकाटक-गुप्त युग में हुए यह मानना चाहिए। आयुर्वेद की मुख्य स्थापनाएँ इन ग्रन्थों में पूरी हो जाती हैं। इनमें शरीररचनाशास्त्र शरीरक्रियाशास्त्र वनस्पतिशास्त्र शल्यचिकित्सा आदि अनेक विज्ञानों की बातें हैं। शरीर की हड्डियों की गिनती इनमें ठीक ठीक है। मांसपेशियों धमनियों आदि का भी प्रायः पूरा विवेचन है। शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों—पाचन रक्तसंचरण आदि—का भी बहुत कुछ ठीक विवेचन है। रक्तसंचरण की प्रक्रिया जिसे आज हम जानते हैं उसे पहलेपहल पूरा हार्वी नामक वैज्ञानिक ने १६२८ ई० में पहचाना था। उससे पहले युरोप के वैद्य यह मानते थे कि रक्तसंचार धमनियों में ऊपर नीचे होता है। हमारे वैद्यों की कल्पना थी कि धमनियाँ अशुद्ध रक्त को हृदय से यकृत् में और शिराएँ फिर यकृत् से हृदय में ले जाती हैं। युरोपी कल्पना की अपेक्षा यह सचाई के निकटतर थी। रक्त-शुद्धि में फेफड़ों के कार्य को हमारे पूर्वजों ने न पहचाना था, उनकी बाकी स्थापना प्रायः ठीक थी। ज्ञाननाडियों के बारे में हमारे प्राचीन वैद्यों का विचार गलत था। चरक और सुश्रुत धमनियों की तरह उनका केन्द्र भी हृदय को मानते थे। किन्तु मध्य काल के हठयोगी और तान्त्रिक आचार्यों ने यह ठीक पहचान लिया कि ज्ञान-नाडियों का केन्द्र मस्तिष्क है तथा उसका मेरुदण्ड से सम्बन्ध है। पिछले आयुर्वेद-ग्रन्थों में इसका ठीक विवेचन है।

जैसे महाभारत को विद्यमान रूप मुख्यतः सातवाहन युग में मिला वैसे पुराणों को विद्यमान रूप मुख्यतः इस युग में मिला। उनमें मूर्त्तिकला स्थापत्य आदि अनेक विषयों की कृतियाँ सम्मिलित हैं।

नारद बृहस्पति और कात्यायन की स्मृतियाँ भी इस युग की उपज हैं। वे शुद्ध व्यवहार-स्मृतियाँ हैं। आचार अंश को उन्होंने छोड़ दिया है। श्री का० प्र० जायसवाल के मत से कामन्दकनीति का कर्त्ता चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री था।

बौद्ध विद्वान् बुद्धघोष ५वीं शताब्दी के आरम्भ में मगध में हुआ।

उसने सिंहल जा कर पालि तिपिटक की अठ्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ, भाष्य) लिखीं। महायान वाङ्मय इसी युग में पूर्ण हुआ। मैत्रेय वसुबन्धु आदि के दर्शन-ग्रन्थों के अतिरिक्त उसमें ललितविस्तर आदि काव्य और अनेक 'सूत्र' (जिन्हें वस्तुतः सूक्त कहना चाहिए) उल्लेखनीय हैं। जैन विद्वानों का संघ ४५३ ई० में सुराष्ट्र की वलभी नगरी में बैठा। उसने जैन आगमों को जो रूप दिया वही अब मिलता है।

वाकाटक-गुप्त युग का काव्य साहित्य बहुत ही ऊँचे दर्जे का है। उसमें विशाखदत्त के मुद्राराक्षस और विष्णुशर्मा के पञ्चतन्त्र जैसी अमर रचनाएँ हैं, पर सब से बढ़ कर कालिदास की कृतियाँ हैं। भारतीय विद्वानों के नवीनतम मत के अनुसार कालिदास को चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य ने अपनी लड़की प्रभावती के पास अपने दोहतों की शिक्षा के लिए भेजा था। कालिदास के काव्यों में हम भारतीय जीवन विचारों और आदर्शों का चौमुखा चित्र पाते हैं। वह चित्र एक जीवित राष्ट्र का है।

§ ६. वाकाटक-गुप्त कला

भारतीय कला में ओज और सौन्दर्य का तथा भाव और वास्तविकता का जैसा पूरा मिलन गुप्त युग में होता है वैसा और कभी नहीं। गुप्त-युगीन भारत का कला-प्रेम और उत्कृष्ट रुचि उस युग की प्रत्येक कृति से टपकती है।

भारशिव युग में मन्दिर-वास्तु की एक सुन्दर शैली चली जिसमें मन्दिर की छेंकन चौकोर होती, शिखर भी चौकोर ऊपर सँकरा होता जाता, खंभों में प्रायः खजूर या ताड़ पेड़ का अभिप्राय और द्वारों पर गंगा यमुना की मूर्त्तियाँ रहतीं। पूर्वी बुन्देलखंड के नागौद प्रदेश में भूमरा गाँव के पास इसके नमूने मिले हैं। इन्हींके पास नचने की तलाई के वाकाटक युग के मन्दिरों में इस शैली के शिखरों का विकसित रूप है जिससे गुप्त युग की शैली का विकास हुआ।

अजिंठा की अधिकतर गुफाएँ वाकाटक युग में काटी गईं।

सह्याद्रि ने अपने उत्तरी छोर से तापी और गोदावरी के बीच एक बाँही बढ़ा दी है, जिसके उत्तरी छोर पर जलगाँव के दक्खिन अजिंठा का टीला है। बाघोरा नदी उसके चरणों को धोती है। उस टीले में २६ गुफाएँ काटी गई हैं जिनमें कुछ चैत्य (मन्दिर) हैं और कुछ विहार (मठ)। पहली गुफा १२० फुट भीतर तक काटी गई है। "गुफाएँ और उनमें का सारा मूर्त्ति-शिल्प एक ही शैल में कटा हुआ है, किन्तु क्या मजाल कि कहीं एक भी छेनी अधिक लगी हो।"* बामियाँ (अफगानिस्तान) की गुफाएँ भी जिनमें से एक में ५८ गज ऊँची खंडित बुद्ध मूर्ति है (इ प्र १८७) तभी की हैं और वैसी ही अद्‍भुत।

गुप्त युग की वास्तु का नमूना एरण में समुद्र-गुप्त की सम्राज्ञी के बनवाये विष्णु मन्दिर के खँडहर (इ प्र १५६), उदयगिरि (भिलसा के पास) की चन्द्रगुप्त-गुहा (इ प्र १६३), अजिंठा की १६वीं गुफा का द्वार, बनारस के पास सैदपुर-भितरी में स्कन्दगुप्त की हूण-विजय-स्मारक लाठ (इ प्र १७०), दशपुर (मन्दसोर) में यशोधर्मा के स्तम्भ (इ प्र १७२) तथा सबसे बढ़ कर महरौली वाली 'लोहे की कीली' (इ प्र १६५) है जिस पर साढ़े पन्द्रह सौ बरसों में मोरचे का नाम नहीं लगा।

मथुरा से पाई गई माँ की सुन्दर मूर्ति (इ प्र १८४) दूसरी शताब्दी के मथुरा सम्प्रदाय और गुप्त युग की कृतियों के बीच कड़ी है। भारशिव-वाकाटक युग की मूर्तिकला के और नमूने मुखलिंग हैं।

इस युग की मूर्तियों और चित्रों में अनूठी सरलता के साथ सभी रसों की पूरी अभिव्यक्ति है। उन्हें देखने से लगता है मानो कारीगर की छेनी या लेखनी ने उन्हें अनायास ही रच दिया हो, उसे कोई श्रम नहीं करना पड़ा हो। अलंकरण उनमें कम से कम हैं।

---

* ९, १०, ११ अध्यायों के कला परिच्छेदों में बिना प्रतीक के जो उद्धरण हैं वे कृष्णदास (१९३९)—भारतीय मूर्त्तिकला के हैं।

गुप्त मूर्तिकला के नमूनों में सारनाथ और मथुरा (इ प्र ६६) वाली पत्थर की, सुल्तानगंज* (भागलपुर) वाली ताँबे की और मीरपुर खास (सिन्ध) के कहू जो दड़ो स्तूप से मिली मिट्टी की बुद्ध मूर्त्तियाँ जो "मनहु सांत रस धरे सरीरा" हैं, उदयगिरि की गुहा के बाहर पृथ्वी का उद्धार करती वराह मूर्ति (इ प्र १६२) जिसके अंग-अंग से तेज और वीर्य छलकता है और ध्रुवस्वामिनी का उद्धार करते चन्द्र-गुप्त की झलक मिलती है, भिलसा की खुदाई से पाई गई गंगा मूर्ति* (इ प्र १८६) जिसके प्रत्येक अंग में लावण्य, आँखों में माँ का स्नेह और ठवन में अनूठी सरलता गति और सन्तुलन है, और यह सब होते हुए जो मानुषी नहीं, स्पष्ट देवी है, ललितपुर के पास देवगढ़ के मन्दिर में नर-नारायण की तपस्या (इ प्र १८८) अहल्योद्धार (इ प्र ३५) आदि के दृश्य तथा राजगृह के मनियार मठ में चूने मसाले से बनी नागिनी मूर्त्ति आदि हैं। गुप्त सम्राटों के स्वर्ण-सिक्कों पर की मूरतें भी वैसी ही जोरदार हैं।

गुप्त युग की चित्रकला के नमूने अजिंठा तथा सिगिरिया (सिंहल) की गुफाओं में हैं। अजिंठा की चार गुफाओं (१, २, १६, १७) में ही वे अधिकतर बचे हैं, बाकी में कुछ टुकड़े हैं। उनके मुख्य विषय बुद्ध-जीवनी और जातक कथाएँ हैं, पर जातकों में सब तरह की कथाएँ हैं, इसलिए इन चित्रों का वस्तु (विषय) बहुत व्यापक है और इनमें कालिदास के काव्यों की तरह लोक-जीवन के सब पहलू अंकित हैं, सब तरह के पात्र हैं और सब रसों की अभिव्यक्ति है। इनका **वर्णिका-भंग** (रंगों की योजना) भी बहुत जानदार और वस्तु के अनुकूल है। पहली गुफा के एक दालान की पूरी दीवार पर बुद्ध के मार-विजय का चित्र है। इस गुफा में सूर्य का प्रकाश केवल सन्ध्या वेला ही थोड़ा सा आता

---

* सुल्तानगंज वाली ७ फुट की ताम्रमूर्ति अब बर्मिङ्घम संग्रहालय में है। भिलसा वाली गंगा मूर्ति को पुरातत्त्व विभाग के एक बड़े भारतीय अधिकारी ने गबन कर बेच दिया, सो वह अब अमरीका के बोस्टन संग्रहालय में है।

है। सो इसमें ऐसे बड़े और भावपूर्ण चित्रों का अंकित होना ही अचम्भे की बात है। १६वीं गुफा में गौतम के महाभिनिष्क्रमण का वैसा ही मर्मस्पर्शी चित्र है। १७वीं गुफा में सब से चतुर चितेरों की कला देखने को मिलती है। बुद्ध के कपिलवास्तु आने पर यशोधरा का उनके सामने राहुल को ला कर भेंट करना एक चित्र में अंकित है। एक जातक-दृश्य में युद्ध दिखाया गया है, जिसमें तीन सौ से अधिक चेहरे हैं और प्रत्येक पर युद्ध का कोई न कोई भाव है। आकाशचारी किन्नरों की गायकमण्डली का प्रसिद्ध चित्र (इ प्र १८६) भी इसी लेण में है। इसका एक और चित्र कृष्टि-इतिहास की दृष्टि से बड़े पते का है, पर उसकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। बुद्ध बैठे प्रवचन कर रहे हैं; उनके एक ओर बैठे सब भक्त श्रोता नुकीली टोपी वाले शक हैं, दूसरी ओर सब सलवार पहने पठान।

तारीम काँठे में मीरान के मन्दिरों के भित्तिचित्र भी इसी युग के हैं। उनमें भारहुत और मथुरा की मूर्त्ति-शैलियों की अनुकृति है। सीता-तारीम काँठे से भारतीय चित्र-शैली चीन गई। चीन में चाहे अपनी उत्कृष्ट चित्रण शैली थी, तो भी भारतीय चित्रकला की कलम वहाँ भी लग गई। वहाँ से वह कोरिया और जापान भी गई। सीता काँठे से दूसरी तरफ भारतीय चित्रकला का प्रभाव ईरान और अरब देशों में भी पहुँचा।

———

अध्याय १०

मध्य काल—जातपाँत का उदय

§१. मध्य काल का पट-परिवर्तन

क. कन्नौज का पहला साम्राज्य (लग० ५५०–६४५ ई०) और उस युग का बृहत्तर भारत

यशोधर्मा के बाद गुप्तों का एक शाखा-वंश फिर उठा, पर उसका राज्य मगध-मिथिला-बंगाल तक परिमित रहा। यशोधर्मा के नेतृत्व में हूणों को खदेड़ने में जिन्होंने प्रमुख भाग लिया था ऐसे दो सरदारों ने अपने राजवंश कुरुक्षेत्र में तथा दक्षिण पंचाल की राजधानी कन्नौज में स्थापित कर लिये। महाराष्ट्र-कर्णाटक में वाकाटकों कादम्बों के स्थान पर चालुक्य राजवंश खड़ा हुआ। तमिळनाड में पल्लव राजवंश बना रहा। कन्नौज के मौखरियों ने गुप्तों को हटा कर और आन्ध्र महाराष्ट्र और सुराष्ट्र की सीमाओं तक जीत कर अपने राज्य को साम्राज्य बना लिया। कुरुक्षेत्र के राजाओं ने गन्धार और मारवाड़ तक जीता। कुरुक्षेत्र की राजकुमारी राज्यश्री ग्रहवर्मा मौखरि को व्याही गई। शत्रुओं द्वारा ग्रहवर्मा के मारे जाने पर (६०५ ई०) राज्यश्री के भाई हर्षवर्धन ने कन्नौज को बचाया और बहन के प्रतिनिधि रूप में साम्राज्य की बागडोर सँभाली। कुरु पंचाल राज्यों की सम्मिलित शक्ति से उसने असम से कश्मीर और सिन्ध-सुराष्ट्र से उड़ीसा तक सारे उत्तर भारत को एक साम्राज्य में मिला लिया।

यशोधर्मा के हाथों भारत से हूणों के उखाड़े जाने के ३०-३२ वर्ष पीछे मध्य एशिया में भी सासानी शाह अनुशीरवाँ ने उन्हें मिटा दिया था। किन्तु वह काम उसने पच्छिमी तुर्कों की सहायता से किया था।

तुर्क भी हूणों की एक शाखा ही थे जो आरम्भ में श्वेत पर्वत के पूरब हामी के उत्तर बारकुल के पास रहते थे। अब उनमें से जो चीन के उत्तर अपने मूल घरों में रहते वे उत्तरी कहलाते, जो मध्य एशिया में आ बसे थे वे पच्छिमी। ५६५ से ६३१ ई० तक मध्य एशिया में उनका ज़ोर रहा। उरुमची और हामी के बीच आधुनिक तुरफान के स्थान पर जो भारतीय उपनिवेश था उसे उक्त अवधि में उन्होंने मिटा कर अपना राज्य स्थापित किया, जिसे चीनी कौशाङ कहते। वहाँ बसे तुर्कों ने अपने पड़ोसी अग्नि कुचि आदि के लोगों से बौद्ध धर्म सीख लिया। उनकी तुर्की भाषा में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए जिनमें से कई पाये गये हैं, किन्तु तुर्की भाषा ब्राह्मी लिपि में नहीं लिखी गई।

हर्षवर्धन का समकालिक चीन के थाङ वंश का संस्थापक प्रतापी सम्राट् ताइचुङ था। ६३० ई० में उसने उत्तरी तुर्कों का सारा देश जीत लिया। ६३६ में उसने कौशाङ के तुर्क राज्य को भी "बुझा दिया"। चीनी यात्री य्वान च्वाङ ६२६ में इसी रास्ते भारत आया। तब अग्नि, कुचि, भरुक, खोतन आदि राज्य ज्यों के त्यों पर कुछ जीर्ण दशा में थे। तारीम काँठे में कौशाङ के सिवाय तुर्कों की कोई बस्ती न थी। पच्छिमी तुर्कों का खाकान (राजा) सुयमाइर (चू) नदी के तट पर आधुनिक तोकमक के स्थान पर रहता था। वहाँ से हिन्दकोह तक उसका आधिपत्य माना जाता था। पर उस सारे देश में तुर्कों की कुछ छावनियाँ मात्र थीं। सुयमाइर से समरकन्द के दक्खिन के पहाड़ों तथा खीवा तक शूलिक लोग रहते थे, और उनके दक्खिन तुखार। समरकन्द के दक्खिन वाले पर्वत में लोहद्वार नामक तंग दर्रा तुखार देश की उत्तरी सीमा और दक्खिनी सीमा अफगान पठार की रीढ़ थी। अर्थात् बलख, बदख्शाँ, वंक्षु के उत्तर हिसार-स्तालिनाबाद प्रदेश और पामीर तुखार में था। तुखार लिपि भारतीय ही थी, पर शूलिक लिपि भारतीय से भिन्न थी। पामीर के सिवाय सारा तुखार देश तुर्क आधिपत्य में था।

भारत और चीन के बीच तिब्बत के विशाल पठार में भी उत्तर,

पच्छिम और दक्खिन से भारतीय लिपि और शिक्षा-दीक्षा इस युग में पहुँच गईं तथा वहाँ एक बड़ा राज्य स्थापित हो गया। परले हिन्द में श्रीविजय में शैलेन्द्र राजवंश स्थापित हुआ तथा 'फूनान' को उसके सामन्त चित्रसेन ने समाप्त कर वहाँ कम्बुज राज्य की नींव डाली। उस प्रदेश का नाम कम्बुज स्पष्ट ही पुराने कम्बोज के नाम पर पड़ा था, पर कम्बुज के आर्यप्राण ख्मेरों ने यह कहा कि हम कम्बु ऋषि और मेरा अप्सरा की सन्तान हैं!

ख. खिलाफत से टक्कर (६४४–७८६ ई०)

इस बीच अरब में इस्लाम का उदय हुआ और अरब साम्राज्य—खिलाफत—तेज़ी से फैला। ईरान को जीत कर ६४३ ई० में अरब हेलमन्द पर पहुँच गये जो तब भी भारत की सीमा थी। मकरान तब सिन्ध राज्य में था। ६४४ में अरबों ने उसपर चढ़ाई की। "सिहर्सराय" (श्रीहर्षराज) उनसे लड़ता हुआ मारा गया। दो बरस बाद उसके बेटे साहसी के भी खेत रहने पर उन्होंने मकरान ले लिया। श्रीहर्षराज कहीं हर्षवर्धन ही तो न था? इस बारे में हम अभी अधिक कुछ नहीं कह सकते। ६५० ई० में अरबों ने हरात भी ले लिया। अरबों को मध्य एशिया के निकट आता देख ६५७–५६ ई० में चीन ने पच्छिमी तुर्कों का सारा राज्य जीत उन्हें मध्य एशिया से भगा दिया। ६६३ में अरबों ने काबुल पर पहली चढ़ाई की, ६६७ और ७०० ई० में फिर धावे मारे, पर अफगानिस्तान को ले न सके। उधर दाल गलती न देख ७१०-१२ ई० में उन्होंने सिन्ध-मुलतान जीत लिये। चीन ने तब कास्पी सागर तक अपना साम्राज्य पहुँचा कर (७१५) कश्मीर काबुल और गज़नी के भारतीय राज्यों को बढ़ावा दिया। कश्मीर के ललितादित्य (लग० ७३०–७६५) ने चीन से पूरा सहयोग किया।

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद गुप्त-वंशज आदित्यसेन ने उत्तर भारत में फिर साम्राज्य खड़ा किया, पर वह साम्राज्य लग० ६६० ई० तक टूट गया। लग० ७२० ई० में कन्नौज के यशोवर्मा ने, जो प्रकटतः मौखरि

था, पूरब चढ़ाई कर गुप्त राजवंश को मिटा दिया। ललितादित्य ने कश्मीर के पूरब के पहाड़ी प्रदेश जीतते हुए यशोवर्मा को हराया और कुमाऊँ की पूरबी सीमा वाली काली नदी तक की भूमि उससे छीन ली। यशोवर्मा की इस हार से उत्तर भारत का साम्राज्य डाँवाँडोल हो गया। एक ओर मगध बंगाल में अराजकता उमड़ पड़ी, दूसरी ओर सिन्ध की अरब सेना कच्छ भिन्नमाल उज्जैन को लूटती हुई लाट देश में नवसारी तक आ पहुँची (७३६)। वहाँ उसका चालुक्य सेनापति ने पूरा संहार किया। पूर्वी भारत की जनता ने गोपाल को अपना राजा चुन अराजकता का अन्त किया (लग० ७४३)। तभी भिन्नमाल (दक्खिनी मारवाड़) में नागभट ने अपना प्रतिहार राजवंश स्थापित किया जिसने सिन्ध के अरबों का सामना कर ख्याति पाई, तथा कन्नौज का राज्य हर्षवर्धन के मामा के वंशज वज्रायुध ने सँभाला। महाराष्ट्र-कर्णाटक में चालुक्यों को हटा राष्ट्रकूट राजवंश खड़ा हुआ (७५३)।

अरबों ने तुर्कों को साथ ले ७५१ ई० में चीनियों को समरकन्द पर हरा दिया। मध्य एशिया का चीनी बाँध यों टूट जाने पर तुर्क वहाँ फिर आ गये और उनमें इस्लाम फैलने लगा। चीन के हट जाने पर भी ललितादित्य ने भारत की उत्तरपच्छिमी सीमा को सँभाले रक्खा। पर उसके उत्तराधिकारी सजग न रहे। ७८० में तिब्बतियों ने खोतन पर चढ़ाई कर विजय राजवंश को मिटा दिया। ७८६ में खलीफा हारूँल-रशीद के गद्दी पर बैठते ही अरबों ने काबुल पर फिर धावा मारा।

ग. कन्नौज का दूसरा तीसरा साम्राज्य (लग० ७४५—६२० ई०)

इस दशा में मगध-मिथिला-बंगाल के राजा (गोपाल के बेटे) धर्मपाल ने शायद यह मानते हुए कि दृढ कन्नौज साम्राज्य द्वारा ही उत्तर भारत की सुरक्षा हो सकती है, उस साम्राज्य को अपनी शक्ति से पुनरुज्जीवित किया। इन्द्रायुध को हटा कर जब उसने चक्रायुध को सम्राट् गद्दी पर बिठाया तब अवन्ति, कीर (काँगड़ा), मद्र और गन्धार तक के राज्यों ने कन्नौज का आधिपत्य माना। पर भिन्नमाल के प्रतिहार

राजा वत्सराज ने इस स्थिति को न मान धर्मपाल को चुनौती दी। राष्ट्रकूट ध्रुव धारावर्ष ने उन दोनों को चुनौती दी। प्रतीत होता है यह तिकोना संघर्ष अवन्ति किसके हाथ में रहे इस प्रश्न को ले कर था। यह संघर्ष उनके उत्तराधिकारियों ने भी जारी रक्खा, जिससे ७८७ से ८३६ ई० तक पूरे ५० वर्ष यह स्थिति रही कि दक्खिन के प्रबल राष्ट्रकूट साम्राज्य के सामने कन्नौज का निःशक्त साम्राज्य रहा, जिसे बाएँ दाहिने पहलुओं पर पाल और प्रतिहार राज्यों ने थामे रक्खा।

८३६ ई० में जब प्रतिहार मिहिर भोज ने देवपाल और शर्व अमोघवर्ष की परवा न करते हुए कन्नौज को जीत कर अपनी राजधानी बना लिया, तब स्थिति बदल गई। उसने पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया राजशाही) से सुराष्ट्र तक और कश्मीर की सीमा तक साम्राज्य फैलाया। राजा भोज के जिस रामराज्य की याद जनता अब तक करती है वह वस्तुतः इसी भोज का राज्य था। मिहिरभोज के ५५, उसके बेटे महेन्द्रपाल के १७ और पोते महीपाल के पहले ८ बरस के प्रशासन में इस तीसरे कन्नौज साम्राज्य की समृद्धि बनी रही। वैसे ही शर्व और उसके बेटे कृष्ण अकालवर्ष के ६६ वर्ष (८१५-६११) के प्रशासन में दक्खिन की।

इस बीच नौवीं शताब्दी के मध्य में खलीफों का साम्राज्य भी टूट गया। उसके स्थान में जो सल्तनतें खड़ी हुई उनमें से एक (राजधानी बुखारा) खुरासान और सुग्ध में ईरानियों की थी। ८७० ई० में इसके एक सेनापति ने काबुल का गढ़ ले लिया, तब वहाँ के शाहि राजाओं ने सिन्ध के दाहिने तट पर उदभाण्डपुर (ओहिन्द) को अपनी राजधानी बनाया। ८८० ई० में काञ्ची के पल्लव राजवंश के स्थान में चोळ वंश स्थापित हुआ।

महीपाल को हरा कर इन्द्र नित्यवर्ष ६१६ ई० में कन्नौज नगरी तक पहुँच गया। तब से तीसरे कन्नौज साम्राज्य की घटती कला शुरू हुई।

घ. प्रादेशिक राज्य (६२०—११६४ ई०)

साम्राज्य इसके बाद भी बना रहा, पर दूर के प्रान्त स्वतन्त्र हो

गये। नये उठने वाले राज्यों में चेदि (द० बुन्देलखंड, रा० धा० त्रिपुरी), जभौती (उ० बुन्देलखंड), मालवा, गुजरात और साँभर मुख्य थे। पाल राजाओं ने अपने अनेक प्रदेश वापिस ले लिये। उदभाण्ड के शाहियों ने पंजाब के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। ९७२ ई० में मालवे के राजा ने चढ़ाई कर राष्ट्रकूट राज्य को समाप्त किया। वहाँ फिर चालुक्य राजवंश स्थापित हुआ।

बुखारा की सल्तनत ने हरात और बलख से बामियाँ तक बढ़ कर काबुल दून को घेरते हुए उसके दक्खिन गज़नी ले ली। गज़नी की जागीर अलपतगीन तुर्क को दी गई जो बुखारा के अमीर का हाजीब अर्थात् प्रतिहार था। अलप के उत्तराधिकारी सुबुक ने उदभाण्ड के शाहि जयपाल से लमगान छीना, फिर सुबुक के बेटे महमूद ने १००१ ई० में पेशावर ले कर १०१४ तक कैसे शाहि राज्य को मिटा दिया और उसके बाद कैसे कन्नौज तक को करद बनाया और सोमनाथ पर चढ़ाई की सो सुविदित है। सोमनाथ का वह मन्दिर मालवे के राजा भोज ने बनवाया था जो महमूद का पिछला समकालिक था। राजराज और राजेन्द्र चोळ भी सुबुकतगीन और महमूद के समकालिक थे। उनकी बड़ी शक्ति थी। पर उसे उन्होंने उत्तर भारत को बचाने में नहीं लगाया। महमूद जब सोमनाथ पर चढ़ रहा था तभी राजेन्द्र ने बंगाल पर चढ़ाई की। अपनी जलसेना से सुराष्ट्र को बचाने के बजाय राजेन्द्र ने श्रीविजय पर चढ़ाई कर उसका साम्राज्य जिसमें दक्खिनी बरमा, मलाया, सुमात्रा और पच्छिमी जावा सम्मिलित थे, जीत लिया।

सुबुक और महमूद जब उदभाण्ड के राज्य पर झपट रहे थे, तभी तोङ्किङ के आनामी (व्येतनामी) चम्पा राज्य पर धावे मार रहे थे। १००१ में जैसे शाहि आनन्दपाल को अपनी राजधानी उदभाण्ड से भेरा हटानी पड़ी, वैसे ही १००० ई० में चम्पा के राजा सिंहवर्मा को अपनी राजधानी इन्द्रपुर से दक्खिन हटानी पड़ी। सीता काँठे के भारतीय राज्य भी लग० १००० ई० तक तुर्कों और उईगूरों की बाढ़ में डूब गये। यों

भारत के तीन किनारे एक साथ कट रहे थे।

भारत के ठीक मध्य के दो राज्य—मालवा और चेदि—तुर्कों और तमिळों की मार से बच गये थे। महमूद और राजेन्द्र के बाद मालवे का भोज और चेदि का कर्ण भारत में प्रमुख हो गये। इन्होंने कुरुक्षेत्र और काँगड़े को तुर्क आधिपत्य से उबारा, तुर्कों की बाढ़ रोकने को दिल्ली में तोमर राज्य खड़ा किया। चालुक्य भी फिर सँभल गये, १०६८ तक चोळों ने श्रीविजय पर आधिपत्य छोड़ दिया। १०७६ से ११२५ तक विक्रमांक चालुक्य भारत का प्रमुख राजा रहा। १०८० में चन्द्र गाहड्वाल ने कन्नौज में चौथा साम्राज्य स्थापित किया। उसके समकालिक दो कर्णाट सैनिकों ने बंगाल और तिरहुत में सेन और कर्णाट राजवंश स्थापित किये। चन्द्र गाहड्वाल के पोते गोविन्दचन्द्र ने कन्नौज साम्राज्य को मेरठ से भागलपुर तक फैला लिया। साँभर-अजमेर के राजा बीसलदेव ने लग० ११५० में दिल्ली और हाँसी जीत कर शिवालक तक अपना राज्य फैलाया। वहाँ उसने यह लेख खुदवाया कि 'राजा बीसल ने ··· म्लेच्छों को उखाड़ कर आर्यावर्त्त को फिर आर्यावर्त्त बनाया। ··· (वह) अपनी सन्तान से कहता है कि इतना तो हमने किया, बाकी लेने का उद्योग तुम मत छोड़ना।' पर बीसल के भतीजे पृथ्वीराज ने इस शिक्षा पर ध्यान न दे जझौती के राज्य से लड़ कर उसकी और अपनी शक्ति नष्ट की, और सो भी तब जब कि शहाबुद्दीन गोरी ने ग़ज़नी से मुलतान के रास्ते उसकी पच्छिमी सीमा से होते हुए गुजरात पर चढ़ाई की ही थी! गोरी जब पंजाब ले कर पृथ्वीराज के राज्य पर चढ़ा तब दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज मारा गया। अगले आठ बरस में कन्नौज साम्राज्य और बंगाल का सेन राज्य भी मार खा कर गिर पड़े।

ङ. हिन्दू राज्यों का अन्त (११९२–१५६७ ई०)

प्रचलित विश्वास है कि शहाबुद्दीन गोरी ने प्रायः समूचे उत्तर भारत में तुर्क साम्राज्य स्थापित कर दिया और फिर एक शताब्दी बाद अलाउद्दीन खिलजी ने सारे दक्खिन में। हिन्दू राज्यों के गिरने की वह कहानी

बहुत अतिरंजित है और उनकी कमज़ोरी को बढ़ा कर दिखाती है। खोज से प्रकट हुए तथ्य इस प्रकार हैं।

पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद उसके भाई हरिराज ने अजमेर से हट रणथम्भोर में राज्य स्थापित किया, जो १३०१ ई० तक बना रहा। कन्नौज-सम्राट् जयचन्द्र के बेटे हरिश्चन्द्र ने कन्नौज का गढ़ नहीं दिया और अवध में भी युद्ध जारी रक्खा। १७-१८ बरस पीछे और १२०००० तुर्कों के बलिदान के बाद वह गढ़ और अवध अल्तमश के प्रशासन में तुर्कों के हाथ आये। मगध के पाल राज्य को मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी ने २०० सवारों से हमला कर के जीत लिया, इस धारणा के बारे में यह जानना चाहिए कि मगध गोविन्दचन्द्र के ज़माने से कन्नौज साम्राज्य में था, २०० सवारों ने केवल उद्दण्डपुर का विहार लूटा था। तिरहुत का कर्णाट राज्य इसके बाद भी सवा शताब्दी तक स्वतन्त्र रहा, वह पहलेपहल १३२४ ई० में जीता गया, पर ४० वर्ष बाद वहाँ फिर हिन्दू राज्य खड़ा हो गया जो लग० १५०० ई० तक चला। १२०० ई० में मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने १८ सवारों के साथ नदिया के महल पर चढ़ाई की, राजा लक्ष्मणसेन दूसरी तरफ से भाग गया और बंगाल जीता गया, यह निरी चंडूखाने की गप है। नदिया कभी सेनों की राजधानी न थी, वह तुर्कों के हाथ पहलेपहल १२५५ ई० में आई, और राजा लक्ष्मणसेन ११७० में ही मर चुका था। १२०० में तुर्कों के लखनोती जीतने पर बंगाल की तुर्क सल्तनत उसके चौगिर्द ४०-४० कोस तक थी, सेन राजा अपनी राजधानी ढाके के पास सुवर्णग्राम में ले गये और दक्खिनी और पूरबी बंगाल में आगे सवा सौ बरस उनका राज्य बना रहा। उड़ीसा के गंग राज्य की सीमा इस अवधि में हावड़ा और हुगली तक रही और लखनौती के तुर्कों पर उसका सदा आतंक रहा। गन्धार का खोकर राज्य १२०६ ई० में स्वतंत्र हो कर १५२० ई० तक स्वतन्त्र रहा।

चेदि राज्य पर कोई मुस्लिम हमला नहीं हुआ तो भी १२०० ई० के लगभग वह आपसे आप छिन्न-भिन्न हो गया और उसमें जहाँ तहाँ

छोटे मोटे सरदार खड़े हो गये। तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों के चीन जीत लेने पर अनेक चीन-किरात जातियाँ दक्खिन हट आईं। भारत के पूरब के बरमा-स्याम-व्येतनाम वाले प्रायद्वीप में तब से उनकी प्रधानता हुई। पर आगन्तुकों ने वहाँ के हिन्दू राज्यों से भारतीय लिपि और बौद्ध धर्म सीख लिये; उनकी भाषाएँ आज तक उसी लिपि में लिखी जातीं तथा संस्कृत और पालि से शब्द उधार लेती हैं।

चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर और दक्खिन भारत के हिन्दू राज्य घुन खाए ठूँठ की तरह एक एक दो दो ठोकरों से गिर पड़े। पर उसके बाद बीस-पचीस बरस में ही विजयनगर राज्य खड़ा हो गया।

मंगोल बेड़े ने १२९३ ई० में सुमात्रा जावा पर भी चढ़ाई की थी। वे द्वीप मंगोल साम्राज्य में नहीं मिले, पर वहाँ के पुराने राज्य मिट गये। तब १२९४ में कृतरजस जयवर्धन ने नया राज्य खड़ा किया जिसकी राजधानी जावा में बिल्वतिक्त (मजपहित) थी। जयवर्धन की बेटी जयविष्णुवर्धनी के प्रशासन में वह साम्राज्य बन गया। एक शताब्दी बाद १४७८ ई० में वह अन्तिम हिन्दू उपनिवेश भीतरी जीर्णता से टुकड़े-टुकड़े हो गया। विजयनगर, मेवाड़ और उड़ीसा के राज्य १५६५–६७ में समाप्त हुए।

§ २. जनता के राजनीतिक चैतन्य का ह्रास

मध्य काल के राजनीतिक इतिहास के इस खाके में बढ़ते ह्रास की कहानी है। ५५० से ६२० ई० तक ह्रास थोड़ा है, उसके बाद एकाएक अधिक।

इस ह्रास के एक पहलू पर उक्त इतिहास ही प्रकाश डालता है। अरबों ने सिन्ध पर चढ़ाई की तो सिन्धी लोग यह माने हुए थे कि देवल बन्दरगाह के मन्दिर के झंडे में जादू है, जब तक वह फहराता है कोई क्षति न होगी। वहाँ के विहार में ७०० भिक्षुणियाँ थीं। सिन्धी प्रदेश की जनता में बहुत लोग भिक्षु थे; युद्ध के अवसर पर वे तमाशबीन बने

रहे। सिन्ध के राजा चच और दाहर ने अपनी जाट प्रजा के साथ अन्याय किया था, अतः बहुत जाटों ने विदेशी का साथ दिया। मिहिर भोज और महेन्द्रपाल मुलतान को आसानी से ले सकते थे। पर जब जब उनकी सेना वहाँ गई, मुलतान के मुस्लिम शासकों ने सूर्य-मन्दिर को तोड़ने की धमकी दी, और वह लौट गई! सुबुकतगीन और जयपाल का युद्ध जब गज़नी प्रदेश में चलता था तब जिस पहाड़ी सोते का पानी हिन्दू सेना पीती थी, तुर्कों ने उसमें शराब मिला दी, हिन्दू सेना ने वह 'भ्रष्ट' पानी नहीं पिया और हार मान ली! महमूद की सोमनाथ चढ़ाई के अवसर पर वहाँ के लोग उसी शिवलिंग से रक्षा की प्रर्थाना करते रहे!

इन बातों से एक तरफ धर्म-कर्म में अन्ध विश्वास का बढ़ना प्रकट है तो दूसरी तरफ राजनीतिक चैतन्य का क्षीण होना। सिन्ध के जाटों ने जो मनोवृत्ति दिखलाई वह शासन का अन्याय बहुत बढ़ जाने और शासकों और शासितों के बीच वर्ग-विद्वेष उत्पन्न हो जाने से ही हो सकती थी। वह दशा भारत के दूसरे प्रान्तों में तब तक न थी। तो भी जनता की शासन के प्रति उपेक्षा क्रमशः बढ़ रही थी। उस दशा में जनता के पुराने निकायों—ग्राम श्रेणि निगम जनपद-संघ आदि—का क्या हुआ? मध्य काल में हम एक भी गणराज्य का पता नहीं पाते। जैसा कि जायसवालजी ने लिखा था—"५५० ई० से हिन्दू इतिहास पिघल कर उजले चरित मात्र रह जाते हैं—राष्ट्रीय या सामूहिक जीवन की डोर में न पिरोये हुए अकेले अकेले रत्न। हमें बड़े धर्मात्मा और बड़े पापी मिलते हैं, ... पर वे साधारण सतह से इतने ऊँचे हैं कि असहाय बन कर उनकी प्रशंसा या पवित्र मान कर पूजा की जाती है। जन-समूह स्वतन्त्रता की साँस लेना छोड़ देता है।"*

प्राचीन काल में स्थानीय शासन जनता के निकायों के हाथ में था

* का० प्र० जायसवाल (१९१३, १९२४)—हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्य-संस्था) १, पृ० १६५।

तथा राज्य और साम्राज्य उसी नींव पर खड़े होते थे। मध्य काल में उन निकायों की दशा में क्रम-परिवर्तन कैसे हुआ इसकी खोज बाकी है। तमिळनाड में ग्रामों की सभाएँ राजराज और राजेन्द्र चोळ के युग तक भी सुसंघटित रहीं। पर जनता का सामूहिक जीवन जब क्षीण होने लगता और वह अन्याय सहने को तैयार हो जाती है, तभी राजा द्वारा नियुक्त स्थानीय शासक जागीरदार उच्छृङ्खल हो उठते हैं। कश्मीर का इस काल का इतिहास पूरा मिलता है और उससे हम जानते हैं कि दसवीं शताब्दी से **डामर** अर्थात् जागीरदार सिर उठाने लगते हैं और धीरे धीरे राज्य की सब शक्ति उनके हाथों बँट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। ऐतिहासिक कल्हण उन्हें तस्कर (चोर) और दस्यु (डाकू) कह कर याद करता है। राजा संग्रामदेव (१२३६–५२) को डामरों के उपद्रवों के कारण देश छोड़ जाना पड़ता है। दूसरी राजतरंगिणी के लेखक जोनराज ने उस अवसर का वर्णन करते हुए लिखा है। (श्लो० १००)—

तस्मिन् दंडधरे दूरं याते डामरफेरवः।
अन्त्राण्यपि विशामाशुरशेषं रक्तपायिनः॥

—उस दण्डधर के दूर चले जाने पर खून पीने वाले डामर सियार प्रजाओं की आँतें भी पूरी पूरी खा गये! प्रजा का सब कुछ सहने को तैयार होना इस दुरवस्था की जड़ में था।

नौवीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर के राजा शंकरवर्मा ने युद्ध के अवसर पर **रूढभारोढि** अर्थात् प्रजा के लिए भार ढोने की बेगार चलाई। वह भी उसी दशा की सूचक है। जनता की इस उपेक्षा की दशा में एक और बात जो इस काल में चली वह थी राज्यों में भाड़ैत सेना का उपयोग। उसे हम कम से कम नौवीं शताब्दी के आरम्भ से अभिलेखों में पाते हैं। बंगाल तक के राज्यों में तुर्क भाड़ैत सैनिक आते थे, जिन्हें यहाँ के लेखों में हूण ही कहा है।* तुर्कों ने बाद में भारतीय

* ज० च० विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि ··· पृ० २१५; (१९४१, १९५५)—भारतीय इतिहास की मीमांसा, पृ० ८८।

राज्यों को आसानी से कैसे जीत लिया इसपर इससे प्रकाश पड़ता है।

१३वीं शताब्दी से तुर्क विजेता किसान प्रजा के ऊपर जागीरदार बन कर बैठते गये।

§ ३. धर्म-कर्म में पतन-प्रवृत्तियाँ

य्वान च्वाङ ने सातवीं शताब्दी में बौद्ध मत का जो वर्णन किया है उससे उसमें अन्धविश्वास बहुत मिला हुआ प्रतीत होता है। बौद्ध महायान से छठी शताब्दी में या और पहले आन्ध्रदेश के श्रीपर्वत में वज्रयान नामक वाममार्ग निकला, जो सारे भारत और बृहत्तर भारत में फैल गया। उसमें गुह्य साधनाओं और सिद्धियों की प्रधानता थी। मन्त्रों अर्थात् गोप्य वाक्यों को जपने से भी सिद्धियाँ होती मानी जाती थीं, इसलिए वज्रयान का एक भेद मन्त्रयान भी हुआ। सातवीं से नौवीं शताब्दी तक इन यानों के ८४ सिद्ध हुए, जिनमें से गोरखनाथ का नाम आज तक प्रसिद्ध है। स्वात नदी की उपरली दून जो उड्डीयान कहलाती थी, सिद्धों का बड़ा केन्द्र थी। वहाँ के पद्मसम्भव को जो लग० ७४८ ई० में तिब्बत गया, तिब्बती अब तक गुरु मानते हैं। तिब्बत में बौद्ध मत वज्रयान रूप में ही फैला।

पौराणिक मतों के भी अनेक घोर और अश्लील रूप इस काल में प्रकट हुए या जो पहले से विद्यमान थे इस काल में बढ़ गये। शैवों में पाशुपत और कापालिक, वैष्णवों में गोपी-लीला, शाक्तों में आनन्द-भैरवी त्रिपुरसुन्दरी या ललिता की तथा गाणपत्यों में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ट गणपति की पूजा आदि वैसे पन्थ थे। "सिद्धि" पाना सभी पन्थों में मुख्य ध्येय बन गया।

बीच-बीच में अनेक भक्त सम्प्रदायों ने भक्तिमार्ग से और विद्वान विचारकों ने शास्त्रीय विवेचनाओं द्वारा लोगों को जगा कर जडता की इन प्रवृत्तियों से बचाने का प्रयत्न किया। तमिळ देश में बहुत से वैष्णव और शैव भक्त हुए जो क्रमशः आळवार और नायन्मार कहलाते थे।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल भट्ट ने वैदिक यज्ञों को फिर से चलाना चाहा। नौवीं शताब्दी के पहले अंश में केरल के शंकर आचार्य ने अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन किया, जिसमें वसुबन्धु के बौद्ध दर्शन की मुख्य बातें अपना ली गई थीं। शंकर के अद्वैतवाद का भारत के समूचे विचार पर गहरा प्रभाव पड़ा। ८५५ ई० के बाद कश्मीर में शैव सम्प्रदाय में सुधार की एक लहर उठी। नौवीं शताब्दी के अन्त में कश्मीर के राजा शंकरवर्मा ने देवमन्दिरों का प्रभाव न मानते हुए उनकी जायदादें ज़ब्त कीं।

महमूद गज़नवी द्वारा मूर्त्तिपूजा पर चोट लगने के बाद सुधार के कुछ और हलके प्रयत्न हुए। ११वीं शताब्दी के मध्य में तमिळ देश के वैष्णव भक्त रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध पुकार उठाई क्योंकि अद्वैतवाद में भक्ति को कोई स्थान न था। उसी शताब्दी के अन्तिम भाग में कर्णाटक में लिंगायत या वीरशैव नाम का सुधार-पन्थ चला। तभी कश्मीर के राजा हर्ष ने अपने यहाँ एक **देवोत्पाटननायक**—देवमन्दिर उखाड़ने वाले अधिकारी—की नियुक्ति की, जिसका काम था देवमन्दिरों को चुपके चुपके 'भ्रष्ट' कर देना और लोग उन्हें पूजना छोड़ दें तो ज़ब्त कर लेना।

किन्तु यह सब होते हुए भी धर्म-कर्म की जडता बढ़ती ही गई। महाराष्ट्र के जिस अन्तिम हिन्दू राजा रामदेव की दुर्भेद्य राजधानी देवगिरि पर २½ सौ मील दूर से एकाएक चढ़ आ कर अलाउद्दीन ने उसे हराया था, उसके मन्त्री हेमाद्रि का लिखा चतुर्वर्गचिन्तामणि नामक ग्रन्थ है, जिसमें नैष्ठिक हिन्दुओं के बरस भर में करने के लिए २००० व्रतों पूजाओं का विधान है! उस युग के काशी और मिथिला के शूलपाणि उपाध्याय, कमलाकर भट्ट, नीलकण्ठ आदि के ग्रन्थों में भी हिन्दू धर्म-कर्म का वही जटिल रूप है। कहाँ कौटल्य का अर्थशास्त्र, कहाँ हेमाद्रि का चिन्तामणि! दिन में ६ पूजाएँ करने वाले लोग राज्यों को कैसे चला सकते थे? वैसे धर्म-कर्म को मेहनती मजदूर वर्ग कैसे निभा

सकता था ?

इस्लाम की चोट के कारण हिन्दू धर्म-कर्म में और जो परिवर्त्तन हुआ उसपर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

§४. मध्य काल का ज्ञान और वाङ्मय—भारतीय मस्तिष्क की प्रगति रुकना

छठी शताब्दी में ज्योतिषी वराहमिहिर हुआ जिसने अपनी पंचसिद्धान्तिका में पुराने सिद्धान्तों का संक्षेप दिया है। सातवीं शताब्दी में ब्रह्मगुप्त, आठवीं में लल्ल, नौवीं में आर्यभट २य और भट्टोत्पल तथा दसवीं में श्रीधर हुआ। लल्ल और ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की स्थापनाओं का विशेष कर पृथ्वी के सूर्य के चौगिर्द घूमने के सिद्धान्त का विरोध किया! उसके बाद उन्हीं के मत का प्रचार रहा। वास्तव में आर्यभट के विचार अपने युग से इतने आगे थे कि लोगों का उन्हें मान लेना कठिन था। किन्तु १२वीं शताब्दी में भास्कराचार्य ने उनका फिर प्रतिपादन किया। भास्कर की पत्नी लीलावती भी बड़ी गणितज्ञा थी। गणित और ज्योतिष में इस काल में भारत का ज्ञान दूसरे देशों से ऊँचे स्तर पर रहा। तो भी आर्यभट के विचारों से आगे बढ़ने के बजाय वह पुराने विचारों की व्याख्या तक परिमित रहा।

वैद्यक में मध्य काल में ज्ञान की जो थोड़ी प्रगति हुई उसका उल्लेख हो चुका है (पृ० २०४)।

न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य के उत्तर में बौद्ध दिङ्नाग ने प्रमाण-समुच्चय लिखा। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक लिख कर उसका उत्तर दिया। तब धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्त्तिक द्वारा उसका तथा कुमारिल के श्लोक-वार्त्तिक का उत्तर दिया। धर्मकीर्त्ति का ग्रंथ नालन्दा में ६७५ से ६८५ ई० तक पढ़ने वाले चीनी विद्वान् इ-चिङ से पहले लिखा जा चुका था। प्रमाणवार्त्तिक के उत्तर में वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका लिखी। आठवीं शताब्दी के मध्य में बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित तथा नौवीं के आरम्भ

में शंकराचार्य हुआ। शैवों जैनों आदि ने भी इन दार्शनिक विवादों में काफी भाग लिया। किन्तु इस काल की सब दार्शनिक विवेचना पुराने विचारों के भाष्य वार्त्तिक वृत्ति और टीकाओं के रूप में थी। शंकर का समकालिक कश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट अपनी गौतमसूत्रवृत्ति की प्रस्तावना में कहता है (श्लो० ८)—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

—"हममें नई वस्तु की उत्प्रेक्षा (कल्पना) करने की क्षमता कहाँ है ? यही जानिए कि कुछ नये ढंग से बातें यहाँ कही जा रही हैं।" दार्शनिक उत्प्रेक्षा की नींव वैज्ञानिक प्रेक्षा (देखभाल) होती है। जाँचे परखे हुए तथ्यों के आधार पर की हुई उत्प्रेक्षा में बल होता है। मध्य काल में हमारे देश में विज्ञान की प्रगति रुक गई। उस दशा में जो दार्शनिक चिन्तन चलता गया उसमें क्रमशः बाल की खाल उधेड़ने की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

वही बात स्मृति वाङ्मय के सम्बन्ध में है। जनता की संस्थाएँ अपने अपने "चरित्र" स्वयं बनाने में ढील करने लगीं, तब राजा लोग पुरानी परम्पराओं या अपनी इच्छा के अनुसार शासन करने लगे, और कानून के पंडित पुरानी स्मृतियों की व्याख्या करने लगे। विक्रमांक चालुक्य के आश्रित विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य-स्मृति पर मिताक्षरा टीका प्रसिद्ध है। वैसी अनेक कृतियाँ इस काल में रची गईं। मिथिला में १६वीं शताब्दी तक कानूनी प्रश्नों पर "निबन्ध" (स्मृतियों के सार) लिखे जाते रहे।

कवियों में आठवीं शताब्दी का भवभूति कालिदास से टक्कर लेता है। वह और कन्नोज-सम्राट् महेन्द्रपाल का गुरु राजशेखर प्रकृतिप्रेक्षण में कालिदास से पीछे नहीं हैं। राजशेखर का मानसिक दिगन्त भी विस्तृत है। उत्तरी वायुओं का वर्णन करते हुए वह कहता है—लम्पाकी स्त्रियों के केशों को बिखेरते हुए, रल्लकों को नचाते हुए उदीच्य वायु बहते हैं। रल्लक प्रदेश खोतन के उत्तर था। दसवीं शताब्दी तक भारतीयों का

मानसिक क्षितिज साधारण रूप से संकीर्ण न हुआ था। उसके बाद स्पष्ट अवनति है। बारहवीं शताब्दी के श्रीहर्ष कवि के नैषधीयचरित में अलंकारों से लदी पंडिताऊ कविता का नमूना है।

इस काल में प्राकृतों से अपभ्रंश बने और उनसे हमारी "देशी भाषाएँ" निकलीं। प्राकृतों का प्रामाणिक व्याकरण १२वीं शताब्दी में जैन हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में दिया। अपभ्रंशों में भी काव्य लिखे गये। दसवीं शताब्दी के जैन पुष्पदंत का महापुराण अपभ्रंश की ऊँची कृति है। ८४ सिद्धों के दोहे भी अपभ्रंश या देशी भाषा में हैं। भारत की देशी भाषाओं की तरह जावा की स्थानीय आग्नेय 'कवि' भाषा भी आठवीं शताब्दी से लिखी जाने लगी। बारहवीं शताब्दी उसके साहित्य का स्वर्णयुग थी, जब उसमें अर्जुन-विवाह स्मरदहन आदि काव्य तथा नागरकृतागम नामक इतिहास लिखा गया।

कश्मीरी कवि कल्हण का ११४६ ई० पर समाप्त हुआ इतिहास राजतरंगिणी हमारे वाङ्मय में अनुपम कृति है। उसकी भाषा और शैली सीधी और सजीव है, उसकी स्पष्टवादिता लाजवाब है। १५वीं शताब्दी में जोनराज और श्रीवर ने दूसरी और तीसरी तथा १६वीं शताब्दी में प्राज्यभट्ट और शुक ने चौथी राजतरंगिणी लिख कर कश्मीर के अकबर द्वारा जीते जाने तक इस इतिहास को जारी रक्खा। संस्कृत में इस काल में और इतिहास भी लिखे गये।

विचार की प्रगति रुक जाने पर भी पहले मध्य काल में विद्या का अभ्यास खूब चलता रहा और विदेशी विद्यार्थी भी यहाँ आकृष्ट होते रहे। नालन्दा महाविहार की स्थापना कुमारगुप्त १म ने की थी। इचिङ के साथ वहाँ ३५०० से ५००० तक छात्र पढ़ते थे। इचिङ ने वहीं संस्कृत-चीनी-कोश लिखा जो एशिया के वाङ्मय का रत्न है। ७४७ ई० में दार्शनिक शान्तरक्षित ने तिब्बत जा कर नालन्दा के नमूने पर सम्ये विहार की स्थापना की। जापान का नारा विहार भी उसी नमूने पर बना।

खलीफा हारूँलरशीद के प्रशासन में बगदाद का दरबार भारतीय

ज्ञान से आप्लावित हो उठा। बरमक नामक वज़ीर खानदान की वहाँ बड़ी शक्ति थी। वे लोग बलख के थे, उनके पुरखा बलख के नव-विहार के अधिकारी रहे थे। उन्होंने भारत से विद्वानों को बुलाया, अरब विद्यार्थियों को भारत भेजा, संस्कृत के दर्शन वैद्यक ज्यौतिष इतिहास काव्य आदि के पचासों ग्रन्थों के अरबी अनुवाद कराये।

राजा धर्मपाल ने भागलपुर के पास विक्रमशिला विहार स्थापित किया। धर्मपाल के पुत्र देवपाल (८१०–५१ ई०) ने नगरहार के विद्वान् वीरदेव को "नालन्दा के परिपालन के लिए" नियत किया। वीरदेव ने स्वयं नगरहार में ही वेद और पेशावर में बौद्ध ग्रथ पढ़े थे। यों सिन्ध के मुस्लिम शासन में जाने के बाद भी अफगानिस्तान में वेदों और दर्शनों का अभ्यास जारी था। श्रीविजय के राजा बालपुत्रदेववर्मा के कहने से देवपाल ने नालन्दा में सुवर्णद्वीपी (सुमात्रा जावा के) छात्रों के लिए एक विहार बनवाया।

विक्रमशिला विहार से ११वीं शताब्दी में दीपंकर श्रीज्ञान नामक वज्रयानी विद्वान् तिब्बत गया। पहले वह श्रीविजय के आचार्य धर्मकीर्ति के पास स्वयं विद्याभ्यास के लिए गया था। वज्रयान यों इस युग में उड्डीयान और तिब्बत से श्रीविजय तक फैला हुआ था। मुहम्मद-बिन-बख्तियार के मगध जीत लेने पर विक्रमशिला का कश्मीरी आचार्य श्रीभद्र नेपाल भाग गया और वहाँ से तिब्बत के साक्य विहार में बुलाया गया। श्रीभद्र का शिष्य कुंगग्र्यैल्छन चंगेज़खाँ के ज़माने में मंगोलिया में बौद्ध मार्ग का प्रचार करने गया। चंगेज़ के पोते सम्राट् मानकूखान (१२४१–५९) ने एक सभा बुला कर यह जानना चाहा कि संसार का कौन सा मत सब से अच्छा है। कुंगग्र्यैल्छन के भतीजे फग्स्पा का भाषण सुन मानकू ने कहा—हाथ की हथेली से जैसे पाँचों अँगुलियाँ निकली हैं, वैसे ही बौद्ध मत से सब मत निकले हैं। फग्स्पा मंगोल सम्राटों का गुरु नियत हुआ। उसने बौद्ध ग्रन्थों के मंगोली अनुवाद कराये और मंगोल भाषा के लिए ब्राह्मी वर्णमाला की लिपि तैयार की। उस लिपि के

लेख मंगोल सम्राटों के सोने के बर्त्तनों पर या कुछ शिलाओं पर विद्यमान हैं। वह अधिक दिन चली नहीं और उसके न चलने का कारण भी उन लेखों से प्रकट है। उसका प्रत्येक अक्षर तान्त्रिक 'यन्त्र' सा लगता है। ब्राह्मी शैली से उच्चारण-विश्लेषण जितना सरल और पूर्ण था, उन उच्चारणों के संकेत उतने ही जटिल थे। फग्स्पा ने उनमें मन्त्रों की शक्ति फूँकी थी! ऐसी वस्तु जनता में कैसे चलती? यों रहस्यवाद का पाला इस युग में भारतीय कृष्टि के हर पहलू पर पड़ कर उसे मार रहा था।

§५. मध्य काल का सामाजिक जीवन—जातपाँत का उदय

विचारों की प्रगति रुक जाने से सामाजिक जीवन में भी संकीर्णता आने लगी। धर्म-कर्म में आडम्बर बहुत बढ़ जाने से श्रमिक वर्ग का, जिसे उतने पूजा-पाठ के लिए फुरसत न थी, कुलीन वर्ग से अन्तर बढ़ता गया। सामाजिक ऊँचनीच वाले वर्ग धीरे धीरे पथरा कर जातें बनने लगे। नदी का प्रवाह रुक जाने से जैसे छोटे छोटे जोहड़ बन जाते हैं वैसे ये जातें बनीं। पहले मध्य काल के अन्त में आ कर अर्थात् लग० १२०० ई० से इस प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। हमने देखा है कि दसवीं शताब्दी तक भारतीयों का मानसिक क्षितिज विस्तृत और दूर दूर देशों में आना जाना था। जात-पाँत के साथ वैसा न हो सकता था। पर उसके बाद जात-पाँत का उदय हुआ।

महमूद गज़नवी के ज़माने में खानपान के नियमों के पीछे हिन्दू अपनी भूमि और स्वतन्त्रता को भी न्यौछावर करने को कैसे तैयार हो जाते थे सो हमने देखा है। महमूद के साथ खीवा का विद्वान् अल्बरूनी था जिसने हमारी भाषा और शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया था। वह लिखता है—"मैंने सुना है कि (युद्ध में कैद हुए) हिन्दू दास भाग कर अपने देश और धर्म में वापिस जाते हैं तो हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त रूप में उपवास का आदेश देते हैं, फिर गौओं के गोबर मूत्र और दूध में ... दबा रखते हैं ... फिर उन्हें वही मल खिलाते हैं। मैंने ब्राह्मणों से

पूछा कि क्या यह सत्य है। परन्तु वे इससे इनकार करते और कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई भी प्रायश्चित्त सम्भव नहीं, उसे जीवन की उस स्थिति में लौट आने की कभी इजाज़त नहीं दी जाती जिसमें वह बन्दी रूप में ले जाये जाने के पहले रहा हो।" कैसी हृदयहीनता थी! अलबरूनी और लिखता है—"उन्हें इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध कर के फिर ले लें। ··· मूर्खता ऐसा रोग है जिसकी कोई दवा नहीं। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके समान कोई जाति ··· कोई सम्राट् ··· कोई धर्म ··· कोई विद्या नहीं। ··· उनके पूर्वज ऐसे संकीर्ण विचार वाले नहीं थे जैसी यह वर्त्तमान पीढ़ी है।" इसे सिद्ध करने को वह वराहमिहिर का उद्धरण देता है। उसके दिल में हिन्दुओं के लिए श्रद्धा थी, पर जब वह देखता कि उनकी अपनी जडता उनके पतन का कारण हो रही है, तब उसे ठेस लगती।

ललितादित्य अपने अन्तिम जीवन में उत्तर तरफ चढ़ाई कर अरसे तक उसमें फँसा रहा और वहीं चल बसा था। उस अवधि में वह अपने अमात्यों के पास देश के सुशासन के लिए सन्देश भेजता रहा। कल्हण ने वह कहानी कहते हुए ललितादित्य के मुँह से वे उपदेश दिलाये हैं जिन्हें वह स्वयं देना चाहता है। देश का सुशासन नष्ट करने वाले जो कारण हो सकते हैं उन्हें गिनाते हुए वह कहता है (४. ३५१-५२)—

अन्योन्योद्वाहसम्बन्धैः कायस्थाः संहता यदि। ···
तदा निःसंशयं ज्ञेयः प्रजाभाग्यविपर्ययः॥

—परस्पर विवाहों द्वारा **कायस्थ** (छोटे राजकर्मचारी) यदि संहत हो जायेंगे तो निःसंशय प्रजा का दुर्भाग्य होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि ११४९ ई० तक कायस्थों की जात न बनी थी, पर उसके बनने के लक्षण थे जिन्हें देख मेधावी लोगों को अनिष्ट की आशंका होती थी। इसके २९ बरस बाद शहाबुद्दीन गोरी गुजरात पर चढ़ाई कर के हारता है तो उसकी सेना के कैदियों की दाढ़ी-मूँछ मुँडा कर गुजराती विजेता उनके

पद के अनुसार उन्हें अपने ऊँचे नीचे वर्गों में मिला लेते हैं।* यह बात उससे उलटी है जो अल्बरूनी ने लिखी थी। इससे यह प्रकट है कि दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक जातें बनने की प्रवृत्ति थी, तो भी जातें स्थिर न हुई थीं। जोहड़ बनते थे, पर फिर बाढ़ आ जाने से उनका पानी बह जाता था। १३वीं शताब्दी में चीन-किरात वंश के अहोम लोग हमारी उत्तरपूर्वी सीमा के भीतर आये; उन्हीं से वह प्रान्त असम कहलाया। उस काल में वे गोभक्षक थे; आज नैष्ठिक वैष्णव हैं। यों तब तक भी जातें बन्द न हुई थीं। कायस्थ कल्हण के युग में एक पेशा था। उस पेशे की कोई 'श्रेणि' न थी। पर जिन शिल्पी पेशों की आरम्भ से श्रेणियाँ थीं, उनकी वे श्रेणियाँ ही पहले या पिछले मध्य काल में जातें बनती गईं ऐसा मानना चाहिए।

प्रचलित धारणा है कि राजपूत जात छठी शताब्दी से थी जब से कि हम चालुक्य गुर्जर आदि नाम सुनने लगते हैं, और कि १२वीं शताब्दी तक उसके ३६ कुल बन चुके थे जैसा कि पृथ्वीराजरासो में लिखा है। पर रासो १६वीं शताब्दी की रचना है। यदि १२वीं शताब्दी में राजपूतों के ३६ कुल गिने गये होते तो गाहड्वाल सेन पाल चोळ गंग आदि के नाम उनमें होते। प्रकट है कि रासो तब लिखा गया जब इन राजवंशों की याद भी मिट चुकी थी। उसका लेखक चन्द अपने को पृथ्वीराज का समकालिक कहता है, पर वह पृथ्वीराज की माँ का नाम भी न जानता था और न यह कि पृथ्वीराज के ताऊ ने दिल्ली जीती थी। उसने उसे उस अनंगपाल का दोहता बनाया जो उससे सवा शताब्दी पहले हो चुका था, उस समरसिंह का साला बनाया जो उसके सौ बरस पीछे हुआ, उसके १४ विवाह कराये जिनमें से पहला उस नाहड़देव की बेटी से कराया जो उससे साढ़े तीन सौ बरस पहले हुआ था,

---

* तारीखे-सोरठ (बर्जेस कृत अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ११२-१३, फ़जलुल्लाह फ़रीदी (१८९६)—बम्बई गज़ेटियर १, १, २ पृ० २२९ पर उद्धृत।

समरसिंह के बेटे को रुठा कर बिदर की उस सल्तनत में भेजा जो १४३० ई० में स्थापित हुई थी, और पृथ्वीराज से मेवात के मुगल पर चढ़ाई कराई जो मुगल कि १६वीं शताब्दी में भारत आये थे ! उसकी ३६ कुलों और उनमें से प्रतिहार चालुक्य परमार और चौहान के अग्निकुण्ड से पैदा होने की बात भी वैसा ही निराधार किस्सा है। १५वीं शताब्दी तक के लेखों में प्रतिहार अपने को रघुवंशी, चौहान सूर्यवंशी तथा चालुक्य सोमवंशी कहते थे, केवल परमार अपनी उत्पत्ति अग्निकुण्ड से बताते थे।

कन्नौज के सम्राट् गुर्जर-प्रतिहार थे। चन्द के किस्से के साथ एक अंग्रेज़ विवेचक ने यह बात जोड़ी कि गुर्जर नाम छठी शताब्दी से चलता है, गूजर लोग पंजाब कश्मीर और स्वात में भी हैं, अतः वे हूणों के के साथ बाहर से आये। पर कश्मीर और स्वात में जो गूजर हैं वे आज भी स्थानीय शब्दों से मिश्रित राजस्थानी बोलते हैं। इससे उनका राजस्थान से बाहर गया होना सिद्ध है। पच्छिमी पंजाब की भाषा में गाय-भैंस पालने वाले गुज्जर और बकरी पालने वाले अजिड़ या आजड़ी कहलाते हैं। अजिड़ जैसे 'अजा' से बना, वैसे गुज्जर 'गो' से। उसका अर्थ गोपाल है, और कुछ नहीं।

राजपूत इतिहास के सब से बड़े विद्वान् पं० गौ० ही० ओझा ने, "जिनसे बढ़ कर कि" (जर्मन विद्वान् कीलहोर्न के शब्दों में) "कोई अपने देश के इतिहास को नहीं जानता" था, दिखाया है कि गुर्जर प्रतिहारों की तरह ब्राह्मण प्रतिहार भी थे, कि गुर्जर प्रतिहार का अर्थ गुर्जर देश के प्रतिहार था। प्रतिहार का अर्थ है द्वारपाल। प्रतिहार वंश का स्थापक पहले किसी राजा का प्रतिहार रहा होगा; उसका उपनाम वंश का नाम हो गया। इसी प्रकार राष्ट्रकूट (राठोड़) जिसका अर्थ था प्रदेश-शासक। केवल इन उपनामों के प्रयोग से कुछ सिद्ध नहीं होता। असल प्रश्न यह है कि इन उपनामों वाले वंश जात कब से बने। राजपूत शब्द जात के अर्थ में १६वीं शताब्दी तक हमारे इतिहास या वाङ्मय में कहीं

नहीं मिलता। अल्बरूनी या कल्हण उसे कहीं नहीं बर्त्तते। पर चौथी राजतरंगिणी में, जो अकबर के प्रशासन में लिखी गई, उसका उस अर्थ में प्रयोग है। "यह शब्द जाति-सूचक हो कर मुगलों के समय अथवा उसके पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।"*

यों हम देखते हैं कि १२वीं से १६वीं शताब्दी तक भारतीय समाज के पुराने वर्ग धीरे धीरे पथरा कर ऐसी जातें बन गये जिनमें बाहर से किसी का घुसना अवैध सम्बन्धों के बिना नहीं हो पाता था। इसके बाद भी अनेक ऐसे वर्गों या जातों में जिनके कुछ लोग मुस्लिम बन गये कुछ हिन्दू रहे, हिन्दू मुस्लिम विवाह होते रहे। विवाह के बाद बहू अपने पति का धर्म अपना लेती। बादशाह शाहजहाँ ने सन् १६३४ में फरमान निकाला कि मुस्लिम लड़की हिन्दू के घर न जाय, और जाय तो उस हिन्दू को मुसलमान बनना पड़े।† यों "सनातन" जात-पाँत का यह पहलू शाहजहाँ का देन है।

§ ६. मध्य काल की कला-कृतियाँ

भारतीय कला का उत्कर्ष तीसरे कन्नौज साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ (अर्थात् ६१६ ई० तक) बना रहा। तभी पहले मध्य काल का पूर्वांश पूरा हुआ। अनेक मर्मज्ञों के मत से भारतीय मूर्त्ति-कला का श्रेष्ठ काल यही है। ओज और सरलता में इस काल की कृतियाँ गुप्त कृतियों से कुछ उन्नीस हैं, पर विशालता में अद्भुत हैं।

गुप्त युग तक के गुहा-मन्दिर पहाड़ों में काटी हुई गुफाएँ ही थे। इस काल में टीले के टीलों को काट कर मन्दिर का रूप दिया गया। हर्षवर्धन के समकालिक पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा और नरसिंहवर्मा थे। कांची के पूरब समुद्रतट पर मामल्लपुरम् में उनके बनवाये वैसे सात

* गौ० ही० ओझा (१९२५)—राजपूताने का इतिहास १, १ पृ० ३६-३७।

† यदुनाथ सरकार (१९१२)—हिस्टरी ऑफ औरंगज़ेब (औरंगज़ेब का इतिहास), १ पृ० ६२-६३, २४९।

मन्दिर हैं जो **रथ** कहलाते हैं (इ० प्र० २००, २०४)। इनकी गिनती विश्व की अद्भुत वस्तुओं में है। शैली इनकी भी छाजनदार वास्तु की ही है। गुप्त काल के गुहाचैत्यों और इन रथों के बीच की विकास-प्रक्रिया चेज़र्ला (ज़ि० गुंटूर) के कपोतेश्वर मन्दिर से प्रकट होती है। वह भी एक समूचे टीले का रूपान्तर है और उसकी छत ठीक फूस के छप्पर सी है। इन रथों की मूर्त्ति-कला भी वैसी ही अद्भुत है। पौराणिक कथानकों के मूर्त्त दृश्य पत्थर में काट दिये गये हैं। उन दृश्यों के प्रत्येक पात्र की मुद्रा ठवन और भाव उसके अनुरूप हैं। मामल्लपुरम् की सब से अद्भुत कृति भगीरथ की तपस्या का दृश्य है जो ९८′×४३′ चट्टान पर काटा गया है। महेन्द्रवर्मा और नरसिंहवर्मा की समकालिक मूर्त्तियाँ भी वहाँ हैं (इ प्र २०३)।

पुद्दुकोट्टै के पास सिद्धनवासल ('सिद्धों का वास') में इन्हीं राजाओं की कटवाई हुई गुफाओं में सुन्दर भित्तिचित्र हैं, जिनमें महेन्द्रवर्मा और उसकी रानी का चित्र भी है (इ प्र २०२)। इस शताब्दी की चित्रकला के और नमूने अजिंटा में, मालवे की बाघ नामक गुफा में, बीजापुर ज़िले में बदामी के पास ऐहोळे में तथा सीगिरिय (सिंहल) में है। तारीम काँठे में दन्दानऊलिक से पाये गये चित्र भी इस शताब्दी की भारतीय शैली के हैं; जापान के होरिउजी और नारा मठों के भी (इ प्र १७८)।

वास्तु और मूर्त्तिकला की इस शैली की अगली अनोखी रचना वेरूल ('एलोरा') के गुहामन्दिर हैं। वेरूल अजिंटा से ५० मील दक्खिन-पच्छिम है। वहाँ भी एक पूरी पहाड़ी काट-तराश कर मन्दिरों और मूर्त्त दृश्यों में बदल दी गई है। चूने-मसाले या कील-काँटे का कहीं नाम नहीं। चौंतीस मन्दिर हैं जिनमें दोमंजिले तिमंजिले भी हैं। उनमें सब से अद्भुत कैलाश मन्दिर है (इ प्र २२८) जिसे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०–७५ ई०) ने बनवाया था। यह १४२′×६२′ लम्बा चौड़ा तथा सौ फुट ऊँचा है। इससे मिले हुए ओसारों में तीन प्रतिमा-मंडप हैं जिनमें ४२ पौराणिक दृश्य खुदे हैं। उनमें सब से कमाल

की शिव की रावणानुग्रह मूर्त्ति है जिसमें रावण कैलाश को उठा रहा है और शिव अपने चरण से दबा कर उसका श्रम निरर्थक कर रहे हैं। बम्बई के पास घारपुरी ('एलिफैंटा') की गुफा और उसमें की त्रिमूर्त्ति आदि भी ८वीं शताब्दी की इसी शैली की रचना है। उसी शताब्दी की इस शैली की एक और कमाल की कृति जावा में शैलेन्द्र राजाओं के बनवाये बोरोबुदुर के मन्दिर हैं (इ प्र २५६) जिन्हें पत्थर में तराशे महाकाव्य कहा जाता है। नौवीं शताब्दी में पूर्वी जावा के राजा दक्ष के बनवाये प्राम्बनन के शिव-मन्दिर भी वैसे ही अद्भुत हैं। उनमें रामायण की सारी कहानी सुन्दर मूर्त्तियों में अंकित है। वेरूल के मन्दिरों में भित्तिचित्र भी हैं, पर उनमें कला का ह्रास दिखाई देता है।

पहले मध्य काल के उत्तरांश में अर्थात् दसवीं शताब्दी से कला का चौमुखा ह्रास है। इस काल में "हमारे कलाकारों की कल्पना प्रौढावस्था को पार कर बुढ़ापे में प्रविष्ट हो चुकी थी। ... मूर्त्तियों मन्दिरों के निर्माता कलाकार न रह कर शिल्पी मात्र रह गए थे। ... उनका हृदय नहीं, मस्तिष्क काम कर रहा था—वे कोई नई उपज न कर सकते थे। ... गुप्त काल की कुछ विशेषताओं का रूढियों के रूप में पालन करते हुए अलंकृत शैली ... ही उनकी मुख्य नवीनता ... थी। फलतः यह मूर्त्ति एवं वास्तु कला के सौन्दर्य का नहीं, चमत्कार का युग था।" पर कारीगरी का चमत्कार इन पिछली कृतियों में कमाल पर पहुँच जाता है। डेरा-इस्माइलखाँ ज़िले में काफिरकोट (इ प्र २६८), कांगड़े में मसरूर और बैजनाथ, तांजोर में बृहदीश्वर (इ प्र २४६) बुन्देलखंड में खजुराहो (इ प्र २७१), उड़ीसा में भुवनेश्वर (इ प्र २६५) पुरी और कोणार्क (इ प्र २६५), मालवे में उदयपुर (इ प्र २६६) आदि के मन्दिर, गुजरात का वडनगर का तोरण (इ प्र २६७), अजमेर का "अढ़ाई दिन का झोंपड़ा" (इ प्र २७६) आदि इस शैली के नमूने हैं। अलंकृति की परा काष्ठा में आबू के पास देलवाड़े की 'विमलवसही' (इ प्र २६६) कमाल की कृति है। वह जैन मन्दिर समचा संगमरमर

का है और गुजरात के उत्तरी छोर पर तभी बनाया जा रहा था जब दक्खिनी छोर पर महमूद सोमनाथ को ढहा रहा था ! उसमें एक अंगुल जगह भी नक्काशी से खाली नहीं है। "संगमरमर ऐसी बारीकी से तराशा गया है मानो किसी कुशल सुनार ने रेती से रेत रेत कर आभूषण बनाए हों।" कम्बुज की राजधानी यशोधरपुर (अंकोर थोम) में १२वीं शताब्दी में बना वैष्णव मन्दिर 'अंकोर-वाट' (नगर-मन्दिर) भी अद्भुत है। उसमें भी प्राम्बनन की तरह रामायण के मूर्त्त दृश्य हैं।

उड़ीसा खजुराहो आदि के इस युग के मन्दिरों की एक विशिष्टता उनमें की अश्लील मूर्त्तियाँ है। मन्दिरों को युगल मूर्तियों से सजाने की प्रथा भारतीय कला में आरम्भ से थी। उसकी यह परिणति वाममार्ग के प्रभाव से हुई, जो धर्म-कर्म के साथ ही कलाभिरुचि और सामाजिक आचार के भी पतन की सूचक थी। पर अच्छी मूर्तियाँ भी बनती रहीं, जिनमें दक्षिण भारत की नटराज की मूर्त्ति (इ प्र ३६३) और जावा की १३वीं शताब्दी की प्रज्ञापारमिता मूर्त्ति (इ प्र ३६४) विशेष उल्लेखनीय हैं।

चित्रकला में ह्रास दसवीं शताब्दी से बहुत स्पष्ट प्रकट हुआ। पूर्वी भारत की पाल शैली में जिसका प्रभाव तिब्बत बरमा चीन और मंगोलिया की कला पर भी हुआ, तथा कश्मीर की शैली में वह ह्रास कम है। पर गुजरात-राजस्थान में उदय हुई और वहाँ से भारत के मुख्य भाग और बृहत्तर भारत तक फैली एक शैली में जिसके हज़ारों चित्र हस्तलिखित पुस्तकों मे मिलते हैं, ह्रास की चरम सीमा है। उन चित्रों में अंकित प्राणियों के अंग-प्रत्यंग में अकड़-जकड़ है, उनकी शैली अतिरंजित रूढि-ग्रस्त और निर्जीव है। इसे राय कृष्णदास ने अपभ्रंश शैली नाम दिया है जो पूर्णतः सार्थक है।

———

अध्याय ११

इस्लाम और पच्छिम युरोप के आघात, उनकी प्रतिक्रिया

§१, मुस्लिम अरबों का आघात

इस्लाम के नये जोश में अरबों ने ईरानी राज्य को एक थपेड़े में गिरा दिया और रोमी साम्राज्य से बहुत सी भूमि दो-चार झटकों में छीन ली थी। भारत के दरवाजे पर वे सवा दो सौ बरस टक्करें मारते रहे, पर केवल एक प्रान्त ले सके। इस बीच भारत का ज्ञान ले कर उससे उन्होंने समूचे पच्छिमी जगत् में नई लौ जगा दी। ७५१ ई० के बाद मध्य एशिया में वे जो तुर्कों को वापिस ले आये और उन्हें मुस्लिम बना दिया यह उनकी बड़ी जीत थी। तुर्की भाषा में उससे पहले संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के बहुतेरे अनुवाद हो चुके थे। उन ग्रन्थों के तुर्की से अरबी अनुवाद हुए* जिनके प्रभाव से इस्लाम में उदार सूफ़ी सम्प्रदाय चला।

§२. तुर्कों का पहला आघात

बुखारा की ईरानी सल्तनत ने दसवीं शताब्दी में बामियाँ और ग़ज़नी जीत कर एक तुर्क वंश को वहाँ स्थापित किया। ९८५–१०४० ई० के बीच इस वंश ने भारत के दो और प्रान्त—अफगानिस्तान और पंजाब—जीते और सारे उत्तर भारत पर धाक जमा ली। पर इन दो

---

* आधुनिक तुर्की के जन्मदाता कमाल अतातुर्क द्वारा इस्तान्बूल और अन्य स्थानों की मस्जिदों के भण्डार खुलवाने से ऐसे अनेक ग्रन्थ मिले। उनसे यह सिद्ध हुआ कि सूफ़ी सम्प्रदाय का उदय मध्य एशिया में इस बौद्ध वाङ्मय के सम्पर्क से आठवीं-नौवीं शताब्दी में हो गया था। यह पुरानी धारणा कि उसका उदय भारत में वेदान्त के सम्पर्क से हुआ यों गलत सिद्ध हुई।

प्रान्तों को लेने के लिए इन्हें गहरा संघर्ष करना पड़ा और इन प्रान्तों के आगे इनकी बाढ़ भी रुक गई, प्रत्युत कुरुक्षेत्र और कांगड़ा प्रदेशों से इन्हें पीछे हटना पड़ा। महमूद गज़नवी के दिल में भी इस्लाम का जोश था, पर उसका पंजाब जीतना शुद्ध राजनीतिक कार्य था, और उसके सिक्कों (इ प्र २४६) पर कलमे का संस्कृत अनुवाद जो **अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार** किया गया है, उससे प्रकट है कि भारतीय दर्शन का प्रभाव सूफी मार्ग द्वारा इन मुस्लिमों पर पड़ चुका था। अल्बरूनी और फिरदौसी जैसे विद्वानों को प्रश्रय देना भी उदार दृष्टि का सूचक था। महमूद के मन्दिर ढहाने को विकट कट्टरपन का कृत्य समझा जाता है। उस बारे में यह जानना चाहिए कि वे मन्दिर पतन की दिशा में जाते धर्म-कर्म और आचार के तथा अवनतिमुख कला के आश्रय थे, वे उचित से बहुत अधिक बन रहे थे, उनमें देश की फालतू लक्ष्मी संचित हो रही थी, पर उस लक्ष्मी की रक्षा के प्रश्न से उसके अन्धविश्वासी स्वामी बेखबर थे। उस दशा में किसी न किसी राजपरिवर्तन में अथवा राज्यशक्ति के क्षीण होने पर उनका लुटना अथवा घास दीमकों और चमगादड़ों द्वारा उजाड़ा जाना अवश्यम्भावी था।

§३. तुर्कों का दूसरा आघात

सुबुकतगीन के दो शताब्दी पीछे तुर्कों ने दूसरी बार उत्तर भारत को ठोकर लगाई तो यहाँ के अनेक राज्य एक एक धक्के से गिर पड़े। सौ बरस बाद दक्खिन भारत के राज्य और भी आसानी से ढहे। प्रकट है कि १०००–१३०० ई० के बीच भारत की राज्यशक्ति तेजी से क्षीण हुई थी। इन बोदे राज्यों को ढा कर ज़मीन साफ करना युग की माँग थी। उस माँग को पूरा करने की—क्षीण समृद्ध और जडताग्रस्त हिन्दू राज्यों को लूटने गिराने की—जो प्रवृत्ति तुर्कों में थी, उसे वे कभी इस्लाम की प्रेरणा भले ही मान लें, पर वह प्रवृत्ति स्वाभाविक और राजनीतिक थी। शहाबुद्दीन गोरी अजमेर राज्य को जीतने के बाद वहाँ

चौहानों का सा नन्दी मूर्त्ति से अंकित सिक्का और कन्नौज राज्य को जीत कर वहाँ गाहड्वालों का सा लक्ष्मी अंकित सिक्का (इ प्र २८३, २८४) चलाता रहा। प्रकट है कि वह इस्लाम फैलाने नहीं, राज्य जीतने आया था।

दिल्ली में बसने के २५ बरस पीछे तुर्कों का मध्य एशिया और अफगानिस्तान से संबंध कट गया। वहाँ चंगेजखाँ ने मंगोल साम्राज्य स्थापित किया। १३वीं शताब्दी उत्तरार्ध की मलिक खुसरो की कविता से प्रकट है कि तुर्कों ने तब तक भारत और भारतीय शिक्षा-दीक्षा को पूरी तरह अपना लिया था। यदि पुराने भारतीयों (हिन्दुओं) का सामाजिक आचार उन्हें अपने में मिला सकता तो वे पुराने शकों की तरह उनमें मिल गये होते।

§४. भारतीय इस्लाम और १४वीं-१५वीं शताब्दी का पुनरुत्थान

चौदहवीं शताब्दी आरम्भ में जब राजस्थान, दक्खिन भारत और कश्मीर के राज्य गिरे, भारत ह्रास की चरम सीमा पर पहुँचा प्रतीत हुआ। दक्खिन के राज्यों को ढाने वाला मलिक काफूर 'अन्त्यज' हिन्दू से बना हुआ मुसलमान था। इसलिए यह भी प्रकट था कि हिन्दुओं की उस दुर्दशा का कारण उनकी अपनी मनःस्थिति और सामाजिक आचार था।

किन्तु इसके शीघ्र बाद पुनरुत्थान हुआ। १३२६-२७ ई० में मेवाड़ और विजयनगर उठ खड़े हुए। विजयनगर के स्थापकों के मन्त्री सायण और विद्यारण्य थे जिन्होंने वेद के भाष्य और दर्शन के सकलन द्वारा अपने कृष्टिदाय को सँभाला। कश्मीर पर १२७३ और १३२० ई० के बीच दो मंगोल चढ़ाइयाँ हुई थीं जिनमें कश्मीरियों ने अपने को "बिलाव के सामने चूहे की तरह" माना था। किन्तु १३३४-३५ ई० में तीसरी मंगोल चढ़ाई होने पर कश्मीर के सरदार शाहमेर ने आक्रमक को लौटा दिया। उसके बाद उसने कश्मीर का राज्य ले लिया

और बीस-एक बरस बाद उसका पोता उलटा मंगोल राज्य पर चढ़ाई कर हिन्दकोह तक जा निकला। यह स्पष्ट पुनरुत्थान था। शाहमेर मुसलमान था, पर वह स्थानीय मुस्लिम था, उसके पूर्वज कोई पार्थ और बभ्रुवाहन थे। कहना चाहिए कि उसकी और उसके वंशजों की आँखें इस्लाम के प्रभाव से खुली थीं। लग० १३६५ ई० में तिरहुत का नया राज्य उठ खड़ा हुआ। उसी शताब्दी में रामानन्द और विसोबा खेचर हुए, जो सन्त सुधारमार्ग के प्रथम प्रवर्त्तक थे। भारतीय मुस्लिमों पर तभी ईरान के सूफी कवि हाफ़िज़ का बड़ा प्रभाव पड़ा था अर्थात् वे कट्टरपन को छोड़ उदार दृष्टि अपना चुके थे। यह सब नई लहर का आरम्भ था।

मध्य एशिया में डेढ़ शताब्दी बाद मंगोल आधिपत्य समाप्त कर तैमूर ने फिर तुर्क प्रभुता स्थापित की। उसी तैमूर की अफ़गानिस्तान और दिल्ली पर चढ़ाई से उत्तर भारत की निःशक्तता फिर प्रकट हुई (१३९८)। तैमूर के हटते ही जौनपुर मालवा और गुजरात में प्रादेशिक सल्तनतें उठ खड़ी हुईं। बंगाल और महाराष्ट्र में वैसी सल्तनतें पहले से थीं, पर बंगाल का राज्य राजा गणेश ने हथिया लिया और उसके प्रशासन (१४०९–१५) में संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। गन्धार (रावलपिंडी प्रदेश) के जसरथ खोकर ने तैमूर की कैद से छूट फिर अपना राज्य सँभाला और आगे आधी शताब्दी तक कश्मीर से ठेठ हिन्दुस्तान तक की राजनीति को प्रभावित किया।

जौनपुर की सल्तनत में भारतीय संगीत-दाय की रक्षा के लिए १४२८ ई० में दूर दूर के गायकों का सम्मेलन जुटा कर संगीत-शिरोमणि नामक संस्कृत ग्रन्थ तैयार कराया गया। प्रादेशिक मुस्लिम राज्यों ने भारतीय वास्तु-कला में भी फिर जान फूँकी। पुराने कारीगरों को नई कल्पनाएँ दे कर जो इमारतें उन्होंने खड़ी कराईं उनमें प्रत्येक प्रदेश की पुरानी शैली पुनर्जीवित हुई दिखाई दी। गुजरात की मस्जिदों में तो कमल आदि के अभिप्राय भी ज्यों के त्यों हैं।

जसरथ खोकर को मध्य पंजाब तक अपना राज्य पुनःस्थापित करने

में कश्मीर के सुलतान सिकन्दर ने सहायता दी थी। इस सिकन्दर के प्रशासन में मीर सैद मुहम्मद नामक फकीर ने कश्मीर की जनता में इस्लाम फैलाया। सिकन्दर का ब्राह्मण मन्त्री सूहभट्ट भी मूर्त्तिपूजा-विरोधी था। सो उसके प्रशासन में मन्दिर ढाये गये और प्रजा को दबाव से मुसलमान बनाने के प्रयत्न किये गये। पर सिकन्दर के दूसरे बेटे जैनुलाबिदीन (१४२०–७०) ने जिसे जसरथ की सहायता से राज्य मिला, दूसरा रास्ता पकड़ा। उसने निर्वासित हिन्दुओं को वापिस आने दिया, जो दिल से मुसलमान न हुए थे उन्हें फिर हिन्दू हो जाने दिया, टूटे मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया (इ प्र ३३५), जज़िया कर नाम-मात्र को रहने दिया। हिन्दू प्रजा के त्योहारों और तीर्थयात्राओं में भी वह भाग लेता। उसने स्वयं संस्कृत पढ़ी, संस्कृत और कश्मीरी में रचना तथा संगीत को प्रोत्साहित किया, सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं, रास्ते और पुल बनवाये, खानों की उपज से राज्य की आय बढ़ा कर बहुत से कर उठा दिये, कैदियों को छोड़ उन्हें खानों सड़कों आदि के काम पर लगाया। उसके रामराज्य की याद कश्मीर में आज भी बनी है।

जैनुलाबिदीन का समकालिक और मित्र मेवाड़ का महाराणा कुम्भा था (१४३३–६८)। उसके अपना राज्य बढ़ा कर सारे राजस्थान को अधीन करने में स्पष्ट अग्रसर प्रवृत्ति थी। उसने संगीत वास्तुशास्त्र आदि पर अनेक ग्रन्थ लिखवाये। चित्तौड़गढ़ को नया रूप दे कर अपने विजयों का स्मारक जो कीर्त्तिस्तम्भ तथा कुम्भस्वामी का मन्दिर उसने बनवाया, वे उसके गौरव के अनुकूल कृतियाँ हैं। उस कीर्त्तिस्तम्भ में ब्रह्मा विष्णु शिव की मूर्त्तियों के साथ अल्लाह का नाम भी जो खोदा गया है वह कुम्भा की उदार समन्वय-दृष्टि का प्रमाण है। पर उसके भीतर की मूर्त्तियाँ भद्दी हैं—मूर्त्तिकला का पुनरुत्थान उनमें नहीं हो पाया। तो भी चित्रकला की एक नई जानदार शैली अपभ्रंश शैली की रूढियों को तोड़ कर इस काल में चल निकली। उसे राजपूत कलम नाम दिया गया है जो उचित ही है, क्योंकि

पदच्युत हिन्दू राजकुलों के वंशज इसी काल से अपने को राजपूत कहने लगे थे। अपभ्रंश शैली में शबीहें न बनतीं थीं, राजपूत शैली में बनने लगीं।

कुम्भा का समकालिक उड़ीसा का राजा कपिलेन्द्र था (१४३५–७०)। १३२४ ई० से उड़ीसा का गंग वंश बराबर कमज़ोरी दिखा रहा था। कपिलेन्द्र ने उसे हटा कर अपना सूर्यवंश स्थापित किया और भागलपुर से तिरुचिराप्पल्ली अर्थात् गंगा से कावेरी पार तक अपना राज्य फैलाया।

६८५ ई० के बाद तुर्कों ने, फिर १२१६ में मंगोलों ने अफगानिस्तान को जीता था। पठान लोग उस अवधि में निश्चेष्ट रहे। पन्द्रहवीं शताब्दी में वे फिर उठे। १४४० ई० में जब सिबी के एक पठान ने मुलतान जीता, तथा १४५१ में जब बहलोल लोदी ने जसरथ खोकर की सहायता से दिल्ली ली, तब पठानों के पुनरुत्थान की सूचना मिली। उसके बाद उनकी बस्तियाँ उत्तर भारत में दरभंगे और दक्खिन में कडप कर्णूल तक फैल गईं। बाबर के नेतृत्व में तुर्कों की जो तीसरी धारा भारत में आई, पठान अन्त तक उससे लड़ते रहे। पठान पुनरुत्थान का चरम उत्कर्ष शेरशाह के प्रशासन में प्रकट हुआ। उसके रामराज्य की कहानी सुविदित है। उत्तर भारत की प्रजा ने मिहिरभोज के ज़माने के बाद वैसा सुशासन न देखा था। शेरशाह का सब से महत्त्व का कार्य जागीरदारों को उखाड़ कर पुरानी भारतीय राज्यसंस्था को फिर खड़ा करने का प्रयत्न था। उसने गाँवों की पंचायतों को फिर जगाया, और उन्हें परिगणक‡ या परगना नामक मालगुज़ारी-वसूली की पुरानी इकाइयों में संघटित किया। हिन्दुओं की जात-पाँत की तरह मुस्लिम पठानों के फिरके थे। शेरशाह पठानों को बराबर उन फिरकों को भूल

‡ परिगणक शब्द इस अर्थ में मालवे के परमारों के लेखों में है। पर हिन्दी शब्दसागर में लिखा है कि परगना फ़ारसी शब्द है!

जाने को कहता था। सत्रहवीं शताब्दी में शिवाजी ने नये पुनरुत्थान का आरम्भ करते हुए शेरशाह की नीति का अनुसरण किया। पर शिवाजी के मराठों ने उन्नीसवीं सदी में जब अंग्रेज़ों की गुलामी स्वीकार कर ली, तब भी पठानों ने अपने को स्वतन्त्र रक्खा, इससे प्रकट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी का पठान पुनरुत्थान और गहरा था।

१४८७ ई० में बंगाल में इलियास-वंशी राज्य समाप्त हो कर अराजकता उमड़ पड़ी, जिसे छः बरस बाद अलाउद्दीन हुसेनशाह ने समाप्त किया। उसके सैनिकों ने राजधानी को लूटा तो उसने कई हज़ार सैनिकों को वहीं फाँसी चढ़वा दिया। फिर वह जैनुलाबिदीन की नीति पर चला। गोपीनाथ वसु‡ उसका वज़ीर था, जिसे उसने पुरन्दरखाँ का पद दिया। सन्त चैतन्य के तीन शिष्य भी उसके अधीन ऊँचे पदों पर थे। हुसेनशाह, उसके पुत्र और सरदारों ने बँगला में भागवत और महाभारत के अनुवाद कराये।

चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में दक्खिन भारत और कश्मीर में भारत के पतन की जो परा काष्ठा दिखाई दी थी, १४वीं-१५वीं शताब्दियों के प्रादेशिक राज्य उससे हुई प्रतिक्रिया की उपज थे। उन सभी के सामने प्रायः यह आदर्श रहा कि उनकी प्रजा फिर वैसी असहाय दशा में न आने पाय, प्रजा की सुरक्षा और कल्याण करने और न्याय्य शासन को बनाये रखने वाली दृढ राजशक्ति बनी रहे। प्रायः उन सब ने अपने-अपने प्रदेश की कृष्टि को प्रोत्साहित किया। किन्तु उनमें से किसी की भी उत्प्रेक्षा स्वयं इतनी ऊँची नहीं उठी कि सारे भारत या उसके बड़े भाग को एक साम्राज्य में लाया जाय।

§५. तीसरी तुर्क धारा और १६वीं शताब्दी के भारतीय आदर्श

साम्राज्य के आदर्श को १६वीं सदी में जगाया बाबर के नेतृत्व में आने वाली तीसरी तुर्क धारा ने। मंगोलों की नई शाखा उज़बकों की

‡ इन्हीं गोपीनाथ के वंशज सुभाषचन्द्र वसु हुए।

बाढ़ मध्य एशिया में आ जाने से बाबर को वहाँ से हटना पड़ा था। वह तोप-बन्दूकों वाली नई युद्धशैली को ले कर आया था। राणा सांगा जहाँ उसके सहयोग से उत्तर भारत का एक अंश लेने की सोचता था, वहाँ बाबर को सारा लेने में संकोच न था। शेरशाह को साम्राज्य का आदर्श प्रकटतः उसी से मिला। अन्त में जब अकबर ने सारे उत्तर भारत को अफगानिस्तान सहित एक साम्राज्य में मिला लिया तब भी उसे सन्तोष न हुआ। अपने वंशजों को वह इस आदर्श का दाय दे गया कि दक्खिन भारत को तथा अपने पूर्वजों की भूमि 'तूरान' (सुग्ध) को भी जिसे उज्बकों ने छीन लिया था, साम्राज्य में मिलाया जाय। यह महत्वाकांक्षा जहाँ इन 'मुगलों' की देन थी, वहाँ अकबर की धर्म-विषयक उदार दृष्टि, सुशासन का आदर्श और साहित्य-संगीत-कला-प्रेम उसे कहाँ से मिले थे ? प्रकटतः सूफियों सन्तों के प्रभाव और भारत के उपस्थित वातावरण से।

कहा जाता है कि अकबर भारत में विदेशी था, पर उसने यहाँ की शिक्षा-दीक्षा को पूरी तरह अपना लिया। ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि मध्य एशिया और भारत मिल कर तब एक ही राज्यक्षेत्र और कृष्टि-क्षेत्र था, अकबर ने अपने नीति-आदर्शों को आज के भारत में आने से पहले ही अपना लिया हो यह सम्भव है और कि उसे विदेशी कहना कुछ ठीक नहीं है। चित्रकला की मुगल कलम जो अकबर के प्रशासन में चली, राय कृष्णदास ने गहरी मौलिक खोज द्वारा दिखाया है कि उसमें प्रमुख तत्त्व कश्मीरी कलम का है, पर ईरानी कलम और राजपूत कलम के भी पुट हैं, और कि वह ईरानी कलम जो ईरान में ११वीं शताब्दी से पुनर्जीवित हुई थी, स्वयं सीता काँठे की भारतीय कलम से प्रभावित थी।* यों यदि मुगल कलम भारतीय प्रभाव को हरात और काबुल में पा सकती थी तो क्या अकबर अपने राजनीतिक आदर्शों को

* कृष्णदास (१९३९)—भारत की चित्रकला।

भी वहीं से न ला सकता था ? जो भी हो, वे आदर्श अकबर की देन न थे, जैनुलाबिदीन, हुसेनशाह और शेरशाह के ज़माने से वे भारत में सुस्थापित थे। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अकबर ने १५६३ ई० में अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता दी तो उसके ५ बरस पीछे फ्रांस के राजा हेन्री ४थे ने उसी आशय का नान्ते का आदेश निकाला, और औरंगज़ेब ने १६७६ में जज़िया फिर लगा कर अकबर की नीति को रद्द किया तो उसके ६ बरस पीछे लुइ १४वें ने नान्ते के आदेश को रद्द किया।

मुगल साम्राज्य काल की वास्तुकला भी भारतीय वास्तु की परम्परा में है और उसमें हिन्दू और मुस्लिम शैली का भेद करना निरर्थक है। अकबर की इमारतों, मथुरा में मानसिंह के बनवाये गोविन्ददेव के मन्दिर और दतिया और ओरछा के महलों की एक ही शैली है।

देसी भाषाओं के साहित्य में, जो इस काल में बढ़ने लगता है, काव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और काव्य भी या तो पिछले संस्कृत काव्यों की तरह कृत्रिम, अथवा सन्त कवियों की भक्तिप्रधान कृतियाँ।

§ ६. शिवाजी और सत्रहवीं शताब्दी का पुनरुत्थान

१४वीं-१५वीं शताब्दियों के पुनरुत्थान ने भारत की जनता में जो आकांक्षाएँ और आदर्श जगा दिये थे, अकबर ने उन्हें पूरा करते हुए भारत-व्यापी साम्राज्य खड़ा करने की शक्ति भी दिखाई, इसी नींव पर मुगल साम्राज्य खड़ा हुआ था। प्रचलित धारणा है कि औरंगज़ेब ने उन आकांक्षाओं और आदर्शों को जब कुचलना चाहा तब शिवाजी और अन्य विद्रोही उठ खड़े हुए। किन्तु शिवाजी ने औरंगज़ेब के राजगद्दी पाने के १२ बरस पहले अपना कार्य आरम्भ किया था। कहना चाहिए कि १४वीं शताब्दी आरम्भ की दशा से भारत की प्रजा तीन शताब्दियों में जितना उठी थी, शिवाजी को उतने से सन्तोष न हुआ, इसलिए उसने पुनरुत्थान की नई चेष्टा आरम्भ की। उसे अपने आदर्श

को चरितार्थ करने के लिए जिस राज्य को खड़ा करना था उसके लिए भूमि बीजापुर गोलकुण्डा और मुगल तीन राज्यों से लड़ कर लेनी थी। ऐसी विपरीत परिस्थिति में—कहना चाहिए शून्य में—सृष्टि करने के लिए जैसी अटल क्रान्तिकारी प्रकृति की आवश्यकता थी, शिवाजी की प्रकृति वैसी थी। और उसका ऊँचा संघर्ष उसके देशवासियों की भावनाओं को ऊपर उठाये विना न रह सकता था; आज भी उठाता है।

भारत के पुराने राज्य-आदर्श को फिर से जगाने के प्रयत्न में शिवाजी ने शेरशाह की तरह जागीरदार नामक शासन के ठेकेदारों को उखाड़ा। शेरशाह के उत्तराधिकारियों ने उस आदर्श पर डटे रहने का यत्न किया था, जिससे उनके उच्छृंखल सरदारों ने उपद्रव किये और साम्राज्य टूट गया। अकबर ने इस अंश में शेरशाह का अनुसरण नहीं किया। शिवाजी ने यह बुनियादी सुधार फिर दृढता से किया। किन्तु मुगल साम्राज्य के साथ जीवन-मरण का संघर्ष आने पर उसके उत्तराधिकारी इसपर टिक न सके। मुगलों के मुकाबले को अपने प्रजाजनों को उभाड़ने के लिए उन्होंने के फिर जागीरों का प्रलोभन दिया। यों शिवाजी के किये पर भी पानी फिरा, और भारत में १७वीं शताब्दी के युरोप की तरह दृढ केन्द्रग्रथित राज्यसंस्था खड़ी न हुई, जिससे यहाँ के ढीले-ढाले राज्य अंग्रेज़ों की सुग्रथित शक्ति का सामना न कर सके। १४वीं से १८वीं शताब्दी तक के भारतीय पुनरुत्थान में शेरशाह और शिवाजी ये दो ही पुरुष सब से अधिक गहरे पैठे, पर इनके प्रयत्न भी अन्ततः सफल न हुए।

महाराष्ट्र से नये पुनरुत्थान की लहर बुन्देलखंड, व्रजभूमि ('जाटों में') और पंजाब पहुँची। उसी ने हिमाचल में नेपालियों को उठाया जिससे उन्होंने सिकिम से कांगड़े तक राज्य फैलाया।* यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस इस्लाम ने १४वीं से १६वीं शताब्दी तक बहुतेरे

* ज० च० विद्यालंकार (१९४१, १९५५)—भारतीय इतिहास की मीमांसा पृ० १२४–२८, ४५८ प्र०।

भारतीयों का कर्तृत्व जगाया था, वह अब प्रायः बुझा कारतूस हो चुका था। यदि फ्रांसीसी और अंग्रेज़ बीच में न आ पड़ते तो समूचा भारत शिवाजी वाली लहर से उठे राज्यों के अन्तर्गत हो जाने को था। दूसरी बात और भी पते की यह है कि १४वीं-१५वीं शताब्दियों वाला पुनरुत्थान और फिर यह १७वीं शताब्दी वाला पुनरुत्थान भी सारे भारत में एक समान नहीं हुआ। "गंगा-काँठे सिन्ध गुजरात आन्ध्र और तमिळ मैदानों में अर्थात् भारत के सब से उपजाऊ प्रान्तों में वह (१७वीं शताब्दी वाला) पुनरुत्थान प्रकट नहीं हुआ और इन्हीं प्रान्तों में अंग्रेज़ों को पहलेपहल पैर जमाने का अवसर मिला।"* क्यों ऐसा हुआ यह हमारे इतिहास की गहरी समस्या है, जिसे विद्वानों ने अब तक देखा भी नहीं है।

महाराष्ट्र के इस पुनरुत्थान में वहाँ प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन बढ़ा, किन्तु कोई मौलिक चिन्तन जगा सो नहीं कहा जा सकता। केवल इस युग के सवाई जयसिंह (१७४३ ई०) की बनवाई वेधशालाओं से यह सूचित है कि भारतीयों की नये ज्ञान को अपनाने की शक्ति मर न गई थी। जयसिंह ने युरोप में हुई ज्यौतिष की नई खोजों को भी जान समझ कर वे वेधशालाएँ बनवाई थीं। मुगल कलम में कश्मीरी कलम का एक और पुट मिलने से इस युग में चित्रकला की पहाड़ी कलम पैदा हुई, जिसमें अजिंठा युग के बाद भारतीय चित्रकला की सब से ऊँची उड़ान दिखाई दी। "ऐसा कोई रस या भाव नहीं है जिसका पूर्ण सफल अंकन ··· (इस शैली के चित्रकार) न कर सके हों। ··· उनकी प्रत्येक रेखा में प्राण स्पन्दन और प्रवाह रहता है।"

§७. पच्छिमी युरोप का पहला आघात (१५००-१७४० ई०)

१४६८ ई० में पुर्त्तगाली नाविक अफरीका का चक्कर लगा भारत पहुँच गये। भारत युरोप के बीच व्यापार तब तक "मूरों" की मार्फत होता था। पुर्त्तगाली अरबों और अन्य मुस्लिमों को मूर कहते थे। यदि

---

* ज० च० विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ४८१।

कोई भारतीय नाविक उस समुद्री यातायात में लगे थे तो वे मुस्लिम थे; हिन्दुओं का समुद्रयात्रा करना मध्य काल में धीरे-धीरे छुट चुका था। पुर्त्तगालियों ने "मूरों" के हाथ से भारतीय समुद्र का व्यापार छीनना चाहा। गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा (१४५६–१५११) ने मिस्र के सुलतान की सहायता से पुर्त्तगाली बेड़े को एक लड़ाई में हरा दिया। पर १५०९ ई० की दूसरी लड़ाई में, जो सुराष्ट्र के दीव बन्दर के सामने हुई, पुर्त्तगालियों ने मिस्री और गुजराती बेड़े को जला डाला। उसके बाद उन्होंने ढूँढ ढूँढ कर "मूरों" के जहाज डुबा डाले और भारतीय समुद्र पर एकाधिकार कर लिया। उनका एक बार युद्ध में जीत जाना कोई बड़ी बात न थी, पर हमारा उसके बाद अपने समुद्र पर फिर प्रभुता पाने का यत्न ही न करना अत्यन्त असाधारण बात थी।

नाविक शिल्प के अतिरिक्त तोप बनाने और चलाने के शिल्प में भी पुर्त्तगाली कुशल थे। १५३०–३५ में उन्होंने गुजरात और बंगाल के सुलतानों को उनके हुमायूँ और शेरखाँ के विरुद्ध संघर्षों में तोपों और तोपचियों की सहायता दे कर बदले में तट की भूमि पाई। इसके बाद समूचे मुगल युग में युरोपी तोपची भारतीय सेनाओं में ऊँचे पद पाते रहे।

गुजरात जीतने के बाद अकबर को इस समस्या से वास्ता पड़ा। "सीमा-शासकों की बेपरवाही से तट के (जो) अनेक शहर और बन्दरगाह फिरंगियों के हाथ चले गये थे" उन्हें वापिस लेना उसे अभीष्ट था। पर उसके सब प्रयत्न विफल हुए, और उसका कारण था समुद्र-विषयक ज्ञान और शक्ति का न होना। फलतः अकबर के प्रशासन में ही यह दशा हो गई कि पुर्त्तगाली परवाने के विना हाजी जहाज मक्का भी न जा पाते थे। जहाँगीर और शाहजहाँ के प्रशासनों में चटगाँव में बसे फिरंगी और उनके दोगले वंशज, जो गोवा के नियन्त्रण में न थे, साल-ब-साल नदियों की राह बंगाल पर धावे मारते, उनके 'हरमद' (armada) को देख बंगाल के सूबेदार का नव्वारा (बेड़ा) भाग

जाता, वे असहाय जनता को पकड़ उनके एक एक हाथ में छेद कर एक रस्सी में पिरो अपनी नावों में भर ले जाते और उन्हें दास बना कर काम लेते या बेच देते। १६६६ में शाइस्ताखाँ द्वारा चटगाँव जीतने तक यह सिलसिला जारी रहा।

१६०० ई० के बाद अंग्रेज ओलन्देज़ (हौलैण्ड वाले) और फ्रांसीसी भी भारत के तट पर आ बसे। उन्होंने भारतीय समुद्र पर पुर्त्तगालियों का एकाधिकार न माना। फलतः हमारे समुद्र में अराजकता मच गई और चाँचियागीरी (जल डकैती) बढ़ती गई। यहाँ तक कि औरंगज़ेब के प्रशासन में एक बार ब्रिगमैन नामक अंग्रेज डाकू ने बादशाह के सब से बड़े जंगी जहाज गंजे-सवाई का, जो मक्के से कई हाजी जहाजों को लिवाये ला रहा था, मुम्बई और दमन के बीच रास्ता छेंका, उसकी तोपों को बेदम कर तीन दिन तक उन जहाजों को और मक्के से लौटती सैयद स्त्रियों की इज्ज़त को जी खोल लूटा, और तब उन्हें सूरत जाने दिया (१६६५)। औरंगज़ेब ने इसपर फिरंगियों का व्यापार बन्द कर उनके शस्त्र और झंडे ज़ब्त किये, तोपों के चबूतरे ढहा दिये, गिर्जों में घंटे बजना रुकवा किया और सब अंग्रेज़ों को कैद कर लिया। कैदी अंग्रेज व्यापारियों पर उसने दबाव डाला कि उनकी कम्पनी बादशाह से खर्चा ले कर अपने जंगी जहाजों द्वारा अपने देश के चांचियों पर अंकुश रक्खे! अंग्रेज़ कम्पनी के मुखिया ने वैसा इकरारनामा लिख दिया तो सब अंग्रेज़ छोड़े गये। पर दूसरे ही वर्ष किड और शिवर्स नामक दो 'महान् बदमाश' हिन्द महासागर में आये। पहले चाँचिये किसी जहाज में नौकर या यात्री बन उसे छीन कर उससे डकैती करने लगते थे, ब्रिगमैन ने भी वैसा ही किया था, पर किड जिस जहाज का कप्तान था उसे अंग्रेज़ लौर्डों की एक कम्पनी ने इसी धन्धे के लिए तैयार कर भेजा था। उसका आधार मदगस्कर में था, उसके बेड़े पर १२० तोपें थीं। इन चाँचियों की करतूतों के कारण फिरंगी व्यापारी फिर कैद हुए और उनकी कम्पनियों से फिर वैसे ही ठहराव कराये गये। पर चाँचियागीरी

फिर भी न रुकी। भारतीय समुद्र की रक्षा की ज़िम्मेदारी भारत-सम्राट् की थी न कि विदेशी व्यापारियों की। औरंगज़ेब ने अपने को वह ज़िम्मेदारी निभाने में अशक्त मान विदेशी व्यापारियों को जंगी बेड़े रखने को प्रोत्साहित किया। उन व्यापारियों के वंशजों ने उसके वंशजों को न केवल समुद्र प्रत्युत स्थल की रक्षा की चिन्ता से भी मुक्त कर दिया! औरंगज़ेब के ज़माने में ईस्ट इंडिया कम्पनी को गंगा में भाड़े की नावें चलाने की इजाज़त भी मिल गई। पंडितराज जगन्नाथ जब बनारस में गंगालहरी गा रहा था, तभी वे विदेशी नावें गंगा की छाती को रौंद रही थीं! आज तक वही दशा जारी है।

आखिर क्यों मुगल सम्राट् अपने को इतना अशक्त मानते रहे? युरोपियों की समुद्री शक्ति का तत्त्व क्या था? क्या वे भारतीयो से बेहतर जहाज बनाते थे? इस बारे में यह पते की बात है कि सूरत बन्दरगाह में उन्नीसवीं सदी के शुरू तक जो जहाज बनते थे वे युरोपी जहाजों से अधिक मजबूत होते थे। युरोप वाले उन जहाजों को खरीद ले जाते थे। किन्तु उनसे दुनिया के समुद्रों के रास्ते नापना और उनपर अधिकार करना युरोपियों को ही सूझता था, हमें नहीं! अकबर और अन्य भारतीय पुर्तगालियों से युरोप का हालचाल अनेक बार सुनते थे। पर आश्चर्य है कि उनके मन में उन देशों को देखने की उत्सुकता कभी न जगती थी! क्या उनकी झिझक इस कारण थी कि जहाजों की रक्षा के लिए अपने कारीगर अच्छी तोपें बन्दूकें न बना सकते थे? तथ्य यह है कि तोपों बन्दूकों की ओर भी हमारे कारीगरों का ध्यान खींचा जाता तो वे युरोपियों से बेहतर बना सकते थे। १८वीं सदी में उधुआ नाला की लड़ाई में मीर कासिम की सेना ने जो बन्दूकें बरतीं, वे ईस्ट इंडिया कम्पनी की बन्दूकों से कहीं अच्छी पाई गई थीं। फेरूशहर की लड़ाई (१८४५) के बाद जो सिक्ख तोपें अंग्रेज़ों के हाथ आईं, उनकी मार और मुँह की चौड़ाई अंग्रेज़ी तोपों से अधिक थी, पछाड़ कम। पर जान पड़ता है हमारे कारीगर इस युग में दूसरों के चंगुल में फँसे थे, और

जिस वर्ग के हाथ आर्थिक राजनीतिक शक्ति थी वह इतना आत्म-रत और बेपरवाह था कि राष्ट्र की शक्ति का उपयोग करने की सोचता ही न था। एकमात्र शेरशाह अपवाद प्रतीत होता है। उसने जैसे किसानों की शक्ति को संघटित किया, वैसे ही तोपों का प्रश्न आते ही अपने कारीगरों को तोपें ढालने में भी लगाया। उसके शीघ्र वीरगति पाने से हम नहीं कह सकते कि समुद्र-रक्षा का प्रश्न आने पर वह उसे कैसे सुलझाता। केवल जहाजों और तोपों के उचित उपयोग द्वारा समुद्री युद्ध करने के शिल्प ('टेक्नीक') में फिरंगी हिन्दुस्तानियों से आगे निकल गये थे। भारत के नेता ध्यान देते तो ५–१० बरस में भारत के तरुण उस शिल्प का भेद पा सकते और भारत का जंगी बेड़ा युरोप के बेड़ों से प्रबलतर बन सकता था। पर नेताओं की आँखें ही तो बन्द थीं!

मुगल नेताओं की चर्चा छोड़ अब हम मराठे नेताओं की बात करें। शिवाजी ने तमिळनाड की चढ़ाई में देखा कि गढ़ों को ढाने के लिए फिरंगी तोपें और तोपची बड़े काम के हैं। उसने अंग्रेज़ तोपचियों को अपनी सेवा में लेना चाहा, पर यह कभी न सोचा कि अपनी प्रजा को उस शिल्प में सधा लें। शिवाजी के "अष्ट प्रधानों" में से एक रामचन्द्र नीलकंठ बावडेकर था, जिसने पीछे महाराष्ट्र के स्वतन्त्रता-युद्ध (१६८६–१७०७) का संचालन भी बड़ी योग्यता से किया। उसका लिखा राजनीति-विषयक ग्रन्थ है। वह लिखता है कि 'टोपीकार' (युरोपी) लोग जहाजरानी में तथा गोला-बारूद तोप-बन्दूक बनाने और चलाने में भारतीयों से होशियार हैं, इसलिए वे खतरनाक हैं, उन्हें भारत में बसने को ज़मीनें न देनी चाहिएँ, अन्यथा वे गढ़ बना कर हमें परेशान करेंगे। रामचन्द्र पन्त ने यह खतरा देखा सो ठीक, पर उसे यह न सूझा कि उनके देशों में जा कर हम देखें तो सही कि उनकी इन विषयों में उन्नति का स्वरूप और कारण क्या है, और कि हम भी इन नई विद्याओं या शिल्पों को सीख लें, चुरा लें या चाहे जैसे अपना लें। युरोपियों को दूर रखने की नीति हमें कुछ काल तक ही बचा सकती थी।

कौटल्य ने अपने युग में यूनानियों के युद्ध-शिल्प को तुरत अपना लिया था, उन्हें दूर रख कर बचने की न सोची थी। रामचन्द्र की 'राजनीति' हेमाद्रि के 'चिन्तामणि' से ऊँची सतह पर है, पर कौटल्य के 'अर्थशास्त्र' के सामने वह कहाँ हैं? बाजीराव १म ने जब उत्तरी कोंकण और बसई से पुर्तगालियों को निकाल दिया और बसई की गोदियाँ (डौक यार्ड) मराठों के हाथ आ गईं, तब उन्हें यों ही उजड़ने दिया। मराठों के ध्यान में यह कभी न आया कि उनमें अपने जहाज बनवाना शुरू करें। मराठों की आँखों के सामने गोवा में पुर्तगाली चल टाइपों से अपनी पुस्तकें छापते थे, पर मराठों को कभी न सूझा कि हम भी अपनी मराठी पुस्तकें छाप सकते और उनके द्वारा अपनी जनता को जगा सकते हैं।

§८. भारत का पराधीन होना

१८वीं शताब्दी तक आते आते युरोप भारत से स्थल-युद्ध शिल्प में भी आगे निकल गया। बन्दूक का प्रयोग बढ़ने से वहाँ एक आदेश पर एक साथ चलने और प्रहार करने वाली पदाति सेना का महत्त्व बढ़ गया। उन केन्द्रनियन्त्रित सेनाओं द्वारा राजाओं ने अपने उच्छृंखल सरदारों को नियन्त्रित किया, जिससे शासन में केन्द्रीय नियन्त्रण और सुव्यवस्थितता बढ़ती गई। युरोप जब यह प्रगति कर रहा था, तब भारत जहाँ का तहाँ खड़ा था।

युरोपियों ने भारत की यह कमज़ोरी शीघ्र पहचान ली। वे सोचने लगे कि हम कुछ हज़ार युरोपी सेना भारत में ला सकें तो यहाँ के समुद्र-तट के अनेक प्रान्तों को जीत लें। पर उस ज़माने में युरोप से भारत तक सेना लाने का उपाय और खर्चा शक्य न था। उस दशा में पुदुचेरी ('पौंडिचेरी') के फ्रांसीसी गवर्नर द्यूमा को यह सूझा कि भारत में भारतीयों की भाड़ैत सेना खड़ी कर उसी से भारत को जीता जा सकता है। द्यूमा की उस सूझ में तीन महान् सत्य अन्तर्निहित थे। पहला यह कि भारतीयों में इतनी समझ वीरता और नियम-पालन की क्षमता है कि

वे अच्छे सैनिक बन सकते हैं। अफरीका अमरीका की जिन जातियों से युरोपियों को वास्ता पड़ा था उनमें यह गुण न था, कारण कि वे कृष्टि की आरम्भिक मंजिलों पर थीं, जब कि भारतीयों की नसों में एक पुरानी कृष्टि की साधना व्याप्त थी। दूसरा यह कि भारतीयों में परस्पर-सहयोग-क्षमता और आपस का लिहाज़ इतने मरे हुए हैं कि वे स्वयं अपने को वैसी सेनाओं में संघटित नहीं कर सकते, भाड़े के सिपाही ही बन सकते हैं और उस रूप में अपने ही भाइयों पर गोली दागने में नहीं हिचकेंगे। तीसरा यह कि उनकी जिज्ञासा और महत्त्वाकांक्षा इतनी बुझी हुई है कि उन्हें जितना सिखा दिया जाय उससे आगे बढ़ कर समूचे ज्ञान को अपनाने की अभिलाषा उनमें नहीं जगती, इसलिए जहाँ वे अच्छे हथियार बन सकते हैं वहाँ इसका कोई खतरा नहीं है कि वे स्वयं इस विद्या में निष्णात हो अपनी सेनाएँ खड़ी कर लेंगे।

सन् १७४१ में मराठा नेताओं में से रघुजी भोंसले ने द्यूमा की नई सेना को पहलेपहल देखा। फिर जब द्यूमा के उत्तराधिकारी द्युप्ले ने भारतीय राज्यों के झगड़ों में हाथ डाल उस सेना के जौहर दिखाए, और अंग्रेज़ों ने भी वैसी भाड़ैत सेना खड़ी कर ली, तब सारे भारत को उस नई शक्ति का पता मिला। महाराष्ट्र के नेताओं ने द्युप्ले के सेनापति दि-बुसी को अपनी सेवा में लेना चाहा, और उसके न आने पर उसके सिखाये कुछ 'गार्दियों' को सेवा में रख जल्दी जल्दी अपनी पदाति सेना खड़ी की। पानीपत में उनकी हार (१७६१) का कारण यही हुआ कि उन्होंने इस नये शिल्प को अधूरा समझ कर अधकचरे ढंग से इसका प्रयोग किया।†

महाराष्ट्र और भारत के प्रमुख नायक पेशवा बालाजीराव ने अपनी राजनीतिक "परिस्थिति के तई (भी) निपट अन्धापन" दिखाया।

---

† यदुनाथ सरकार (१९३४)—फाल औफ दि मुगल एम्पायर (मुगल साम्राज्य का पतन) २ पृ० ३२२–२५; इ प्र ५०२–०७।

फ्रांसीसियों से घबड़ा कर उसने माना कि अंग्रेज़ हमारे सहायक होंगे। अपने विद्रोही जलसेनापति को दबाने के लिए उसने अंग्रेज़ों की सहायता ली और उनके द्वारा समूचा मराठा बेड़ा डुबवा लिया! फिर उसके सहयोग की बदौलत ही अंग्रेज पलाशी में जीत सके (१७५७)। अंग्रेज़ों के बंगाल-बिहार ले लेने पर भी उसकी आँखें न खुलीं। रुहेलखंड और पंजाब के लिए उसका पठानों से झगड़ा था। पलाशी में अंग्रेज़ों की जीत के दो मास बाद से नजीबखाँ रुहेला और अहमदशाह अब्दाली उसकी मिन्नत करते रहे कि समझौते से निपटारा कर लें। पठानों से निपट कर उनके सहयोग से वह बिहार-बंगाल आन्ध्र तट और तमिळ-नाड वापिस ले सकता था; पर वह नहीं माना और सब कुछ गँवा बैठा!

१७६१ के बाद महाराष्ट्र नेता नया युद्ध-शिल्प सीखने की बात भूल कर सो गये। बीस बरस बाद जब पहले अंग्रेज़ी युद्ध में उन्हें फिर ठोकरें लगीं तब वे फिर आँख मल कर उठे। महादजी शिन्दे ने फ्रांसीसी नायकों को सेवा में रख जल्दी जल्दी बन्दूकची पाँतें खड़ी कीं। भारत के नेताओं को अब भी यह न सूझा कि नई विद्या की जड़ तक प्रवेश कर इसपर पूरा अधिकार पा लें जिससे स्वयं इसका प्रयोग कर सकें। जागीरदार-शासनप्रणाली के अनुसार फ्रांसीसी नायकों को सेना खड़ी करने और रखने का पूरा दायित्व देते हुए उस दायित्व के निर्वाह के लिए बड़ी बड़ी जागीरें भी उन्होंने दे दीं, जिससे राज्य की करने न करने की सब शक्ति उन विदेशियों के हाथ चली गई! अवसर आने पर उन्होंने धोखा दिया, तब मराठा राजनेता अंग्रेज़ों के मुकाबले में हतप्रतिभ और किंकर्त्तव्यविमूढ हो कर बात की बात में अपना देश और स्वतन्त्रता हार बैठे (१८०३)। उस दशा में यशवन्तराव होलकर ने पुरानी मराठा शैली से लड़ना तय किया। उसके पैंतरा लेने पर वेलज़ली जैसा सेनानायक आगे बढ़ने से झिझका, जनरल लेक का भेजा कर्नल मौन्सन कोटा से आगरा तक मार खाता सब कुछ गँवा कर लौटा, और अन्त में मराठों को अपनी हारी भूमि और स्वतन्त्रता का कुछ अंश वापिस मिला, जिसे

बाद में उन्होंने वैसे ही मतिविभ्रम के कारण गँवाया। नये युद्ध-शिल्प के सामने मराठों का पुराना युद्ध-शिल्प निकम्मा न हो गया था, विशेष स्थलों और अवसरों के लिए वह बहुत उपयोगी था, भारत के लोग यदि नये शिल्प को पूरा समझ कर अपनी पुरानी पद्धति के साथ उसका ठीक ठीक समन्वय करते तो उनके घबड़ाने और हारने का कोई कारण न होता। वेलज़ली ने मराठा युद्धशैली को समझ सीख कर स्पेन में नैपोलियन के विरुद्ध उसका ऐसा सफल प्रयोग किया कि उसी की बदौलत नैपोलियन हारा और वेलज़ली ड्यूक औफ़ वेलिंग्टन बना।

पर भारतीय मानो ऐसी मोहनिद्रा में थे कि ऐसे स्पष्ट तथ्यों को भी न देख पाते थे। और तो और, उनका अपने देश का ज्ञान भी युरोपियों से पिछड़ गया था। १८वीं शताब्दी के अन्त का दक्खिन भारत का मराठा नक्शा विद्यमान है (इ प्र ५६१)। उसकी तभी के बने हुए रेनल के नक्शे (इ प्र ५६१ के सामने) से तुलना करने से यह तथ्य आँखों के सामने आ जाता है।

इंग्लैण्ड में व्यावसायिक क्रान्ति १८वीं शताब्दी उत्तरार्ध में हुई। उससे पहले जिन बातों में युरोप के लोग भारतीयों से आगे बढ़ गये थे वे बड़ी साधारण थीं। १८०३ ई० तक भारत का मुख्य भाग और १८४६ तक पंजाब और नेपाल पूर्णतः स्वतन्त्र थे। तब तक भारत पूँजी-शक्ति और शिल्प-शक्ति में युरोप से कहीं बढ़ा चढ़ा था। २½ हज़ार बरस का शिल्पाभ्यास भारतीय कारीगरों को दाय में प्राप्त था। यदि भारत के नेता जागरूक होते तो युरोप के नये शिल्प-मार्गों को तुरन्त सीख कर और अपने कारीगरों की सृजनशक्ति को जगा कर अपने राष्ट्र को आगे का आगे बनाये रख सकते, स्वतन्त्रता गँवाने का तो प्रश्न ही न आता।

युरोपी जिस सेना से भारत को रौंद रहे थे, वह हमारे अपने देश-भाइयों की है, उसे समझा बुझा कर फोड़ लेना चाहिए, यह सूर्य के समान स्पष्ट तथ्य भारत के राजनेताओं को तुरत दिखाई देना चाहिए

था। उन्हें इसमें अपना अपमान लगना चाहिए था कि विदेशी हमारे देश में आ कर हमारे ही मानव साधनों से ऐसा हथियार बना लें कि हम उसे देख बूढ़ी स्त्रियों की तरह डरते काँपते रहें! यदि वे साधारण मानव की तरह देखते सोचते होते तो इस लाञ्छना को तुरत अनुभव करते और विदेशियों की इस चेष्टा को हिमाकत मान मर्दों की तरह इसका प्रतिकार करने में जुट जाते। पर १७४१ से १८५५ तक एकाध अपवाद को छोड़ किसी भारतीय राजनेता ने इस तथ्य की ओर आँख उठा कर नहीं देखा।

भारत की यह मोहनिद्रा अद्भुत थी—उसका प्रभाव अब भी बाकी है। मोरक्को से जापान तक पुराने सभ्य जगत् के सभी देश इस युग में सोये हुए थे—एक जापान था जो एक थपकी से जाग उठा। पर उन सब राष्ट्रों की अपेक्षा भी भारत में एक विशिष्टता थी। प्रसुप्त एशिया और अफरीका का कोई दूसरा राष्ट्र ऐसा न था जिसने स्वयं अपने को गुलाम बनवाया हो। एक भारतीय ही ऐसे थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के भाड़ैत हथियार बन कर स्वयं अपने को और दूसरे अनेक देशों को भी दास बनवाया! अफ़गानिस्तान को अंग्रेजों ने १८३६ में भारतीय सेना द्वारा धर दबाया तो उन्हें आशा थी कि साल भर में वहीं से स्थानीय सेना खड़ी कर लेंगे और वहीं की वसूली मालगुज़ारी से वहाँ का शासन चलायेंगे। पर तीन साल में एक अफ़गान भरती न हुआ, एक पैसा वसूल न हुआ, और जो सेना वहाँ चढ़ी थी उसमें से केवल एक डाक्टर लौट कर आ पाया। हाङ्काङ, मलाया, बरमा, मिस्र, सोमालिस्तान आदि सभी देश अंग्रेज़ों ने भारतीय सेना और मालगुज़ारी के बल पर जीते। इसका यह अर्थ है कि भारतीयों के सामूहिक आचार का पतन इतना था जितना और किसी भी राष्ट्र का नहीं हुआ था।

लौर्ड कर्ज़न ने अपने साथियों को कहा था—"आप दामरारा (ब्रि० गियाना) और नाताल के खेतों बगीचों से लाभ उठाते हैं तो हिन्दुस्तानी कुली-मजदूरों की बदौलत, मिस्र को सींचते और नील

नदी को बाँधते हैं तो प्रशिक्षित हिन्दुस्तानी अफ़सरों की बदौलत, मध्य अफरीका और स्याम की सम्पद् का उपयोग कर पाते हैं तो हिन्दुस्तानी जंगल-अफसरों की बदौलत और दुनिया के सब गुप्त स्थानों की खोज करते हैं तो हिन्दुस्तानी पैमाइशकारों (और जासूसों) की बदौलत।" सार यह कि भारतीयों में ऐसे सब गुण थे कि दूसरे के हथियार बन सकें, पर ऐसा एक भी गुण न था जिससे स्वतन्त्र कर्त्ता बन सकें ! कारीगरी और सीखने की योग्यता थी, पर कला और कर्तृत्व न थे। इसका यह अर्थ था कि हम ऐसी परिपक्क और जीर्ण कृष्टि के वारिस थे जो बेदम हो चुकी थी। युरोपियों ने कहा भारतीय ठोकरें और टुड्डे खाते हुए भी आँख के सामने की वस्तु को नहीं देखते, इन्द्रियातीत पारलौकिक सत्ताओं की कल्पना ही करते रहते हैं, यही उनकी आध्यात्मिकता और यही उनका दर्शन है !

हमने देखा था कि १४वीं शताब्दी आरम्भ में जिस जडतापूर्ण क्रियाकलाप में भारतीय मस्तिष्क उलझ गया था, सन्त सुधारकों ने उससे उसे उबारा, जिससे शिवाजी जैसा क्रान्तिकारी प्रकट हुआ। अब हम देखते हैं कि सन्त मार्ग से हुआ वह पुनरुत्थान युरोपी मुकाबले में बिलकुल निकम्मा सिद्ध हुआ। उस मार्ग से भारत की आँखें नहीं खुलीं, कर्मचेष्टा भले ही जगी हो, ज्ञानचेष्टा नहीं जगी। महत्त्वाकांक्षा को जगाने के बजाय उस भक्तिमार्ग ने उसे मारा, मस्तिष्क को मूँदे रक्खा, और समाज के दबे वर्गों को आर्थिक रूप से नहीं उठाया कि वे राष्ट्र के हित में अपना हित देख पाते।

§९. पुनर्जागरण की नई धारा

सन् १७५६ में जब पेशवा बालाजीराव की मूर्खता से विजयदुर्ग पर अंग्रेज़ी झंडा चढ़ा, वहाँ हरि दामोदर नामक अधिकारी अपने पुत्र रघुनाथ के साथ उपस्थित था। इन पिता-पुत्र के ध्यान में तभी यह बात आई कि ज्ञान की दौड़ में युरोपी लोग जो थोड़ा आगे निकल गये

हैं उसमें उन्हें पकड़े बिना भारतीय उनका सामना न कर सकेंगे। हरि दामोदर उसी वर्ष झाँसी का सूबेदार बना कर भेजा गया और १७६५ में अपनी मृत्यु तक उस पद पर रहा। तब से १७६४ तक रघुनाथ हरि उस पद पर रहा। रघुनाथ हरि ने स्वयं अंग्रेज़ी सीख कर अंग्रेज़ी विश्वकोश, जिसका तब दूसरा संस्करण निकला था, मँगाया और उससे भौतिकी और रसायनशास्त्र पढ़े। उसने झाँसी में एक बड़ा पुस्तकालय और 'रसशाला' (रासायनिक परीक्षणशाला) स्थापित की।

अंग्रेज़ी राज की स्थापना के बाद अंग्रेज़ शासकों के सामने जब देश में शिक्षा का प्रबन्ध करने की ज़िम्मेदारी का प्रश्न आया, तब उनके विचारशील नेताओं ने पुरानी शैली से संस्कृत और फारसी पढ़ाते चलने के बजाय देशी भाषाओं द्वारा युरोप के नये ज्ञान का भारत के पुराने ज्ञान के साथ समन्वय करके उसकी शिक्षा जनता को देना अधिक ठीक माना। युरोप का नया ज्ञान यों जनता तक पहुँचने से आगे जा कर अंग्रेज़ी राज्य को खतरा होता, पर इन शासकों ने उस खतरे की परवा न की। इसका कारण यह था कि उनकी दृष्टि में जब तक वह खतरा खड़ा होता, तब तक अंग्रेजी राज की जड़ यों ही हिल जाने को थी। मद्रास में अंग्रेज़ी शासन के संघटन का कार्य टौमस मुनरो ने किया था। बम्बई में वही कार्य एल्फिंस्टन ने किया। एल्फिंस्टन तो वेलज़ली का चेला था। ये दोनों बड़े ही दूरदर्शी राजनेता और दृढ कुशल शासक थे। इन दोनों ने ही यह लिखा कि हमारी भाड़ैत भारतीय सेना कुछ काल बाद यह पहचान लेगी कि हमारे साम्राज्य की बुनियाद उसी पर है और यों अपनी शक्ति पहचान कर जिस दिन वह हमारी आज्ञा मानने में आनाकानी करने लगेगी, भले ही वह विद्रोह न करे, उसी दिन हमें भारत छोड़ जाना होगा। उनका अन्दाज़ था कि ४०-५० वर्ष में वह दशा आ जायगी। तब उस अरसे तक नये विज्ञानों की शिक्षा द्वारा भी यदि भारतीयों की आँखें खुल जायँ, और उन्हें वह शिक्षा देने का श्रेय अंग्रेज़ों को मिले, तो इसमें उनकी दृष्टि से क्या हर्ज होता?

बंगाल में अंग्रेज़ी राज स्थापित होने पर अंग्रेज़ी शिक्षा पा कर जागने वाले व्यक्तियों में राममोहन राय (१७७४-१८३३) का पहला नाम है। उसने भी यह पहचाना कि धर्म-कर्म और समाज-संघटन के सुधार तथा नये ज्ञान के प्रसार द्वारा ही भारत को उठाया जा सकता है, कि युरोप के नये ज्ञान का भारत के पुराने ज्ञान के साथ समन्वय कर के देशी भाषाओं द्वारा उसे जनता तक पहुँचाना होगा। महाराष्ट्र में एल्फिन्स्टन की योजनानुसार पहले शिक्षा पाने और फैलाने वाले व्यक्तियों में बालशास्त्री जांभेकर (१८१२-४६) था। बालशास्त्री ने पहले संस्कृत शास्त्रों का अभ्यास किया था, फिर अंग्रेज़ी फ्रांसीसी और लातीनो सीख कर पाश्चात्य गणित और ज्यौतिष पढ़ इन विषयों पर मराठी में पहले ग्रन्थ लिखे। राममोहन की तरह समाज-सुधारक भी था।

इस बीच एक अंग्रेज़ ने कलकत्ते में अंग्रेज़ी स्कूल खोला था। उससे यह तजरबा हुआ कि भारत के बाबू लोग शौक से अंग्रेज़ी सीखते हैं, उसके द्वारा अपने शासकों से सम्बन्ध जोड़ और अपने देशभाइयों के बीच विशिष्ट पद पा कर वे फूले नहीं समाते। वे ज्ञान के लिए नहीं, अंग्रेज़ों के अधीन पद पाने और अपने समाज में हैसियत के लिए अंग्रेज़ी पढ़ना चाहते हैं। १८३३ में सरकार ने भारत की सरकारी शिक्षा का रूप नियत करने को मैकाले की अध्यक्षता में कमिटी नियुक्त की। इस कमिटी ने देसी भाषाओं द्वारा नये ज्ञान की शिक्षा की बात को ताक में रख भारतीयों को अंग्रेज़ी भाषा साहित्य और कानून पढ़ाने का मार्ग ही चुना। इनका उद्देश था अंग्रेजी शासन के लिए क्लर्क वकील और कारिन्दे तैयार करना, जो भारत के विदोहन में अंग्रेजों के अच्छे हथियार बनें। भारत की भाषाओं में ज्ञान का विकास हो इसकी इन्हें क्या पड़ी थी? उलटा वह जितने दिन टले, इनकी दृष्टि से भला था। मैकाले शिक्षा से पहले वाले अंग्रेज़ों के शिक्षा-प्रसार के प्रयत्नों के प्रभाव से मराठी बँगला और हिन्दी में कुछ और वैज्ञानिक ग्रन्थ भी लिखे गये। आगे जा कर वह धारा छीज गई।

महाराष्ट्र के अंग्रेज़ों के अधीन होने के बाद देश की स्थिति पर पहलेपहल गहरा विचार गोपाल हरि देशमुख (१८२३–९२) ने किया। गोपाल का पिता अन्तिम पेशवा के सेनापति बापू गोखले की सेवा में रहा था, जिससे गोपाल का ध्यान बचपन से ही मराठा राज्य के पतन की दशाओं की ओर गया। उसने भारत में गहरे आर्थिक सामाजिक उलट-फेर की आवश्यकता देखी और बड़ी पैनी और विचार-मथक शैली में 'लोकहितवादी' नाम से मराठी में अपने सिद्धान्त प्रकाशित किये (१८४९)। अंग्रेज़ी राज से पैदा हुई भारत की दरिद्रता को दूर करने के लिए गोपाल हरि ने स्वदेशी कारबार बढ़ाने, स्वदेशी वस्तुओं को बर्त्तने और अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार का रास्ता पहलेपहल बताया। कह नहीं सकते कि लोकहितवादी का ध्यान भारत की परतन्त्रता के प्रत्यक्ष कारण—भारतीयों के अंग्रेज़ों के भाड़ैत बनने—की ओर भी गया कि नहीं। उस तथ्य को तभी उसके समवयस्क नानासाहब धोंधोपन्त (जन्म १८२४) और उसके साथी पहचान रहे थे।

रघुनाथ हरि ने जो पहली सच्ची ज्ञान की लौ जगाई थी उसका प्रकाश झाँसी से कानपुर बनारस आदि की मराठी बस्तियों में फैलता रहा। जान पड़ता है उसी प्रकाश में पहलेपहल कुछ लोगों ने यह देखा कि "हम खुद ही विदेशी की तलवार अपने बदन में घोंपते हैं।" १८५७–६० का स्वाधीनता-युद्ध जिसका संघटन नानासाहब और अजीमुल्ला ने किया, इस अनुभूति पर आश्रित था। लक्ष्मीबाई रघुनाथ हरि के सब से छोटे भाई की पुत्रवधू थी। भारतीयों को गुमराह करने के लिए अंग्रेज़ों ने इस युद्ध के बारे में तरह तरह की बातें फैलाईं। उन्होंने कहा कि गाय और सुअर की चर्बी वाले कारतूसों से सिपाही भड़क उठे। तथ्य यह है कि जनवरी '५७ में उन कारतूसों का पता चला, पर युद्ध का संघटन '५५ से ही किया जा रहा था, कि जनवरी से ३१ मई तक मेरठ के सिवाय सब जगह के सिपाही चर्बी वाले कारतूसों को चुपचाप बर्त्तते रहे और कि अंग्रेज़ी शस्त्रागारों से छीन कर बाद में भी

उन कारतूसों को चलाते रहे। उन्होंने कहा राज्यों की जब्तियों से उभड़े राजाओं नवाबों ने वह युद्ध छेड़ा। पर सचाई यह है कि राजस्थान बुन्देलखंड में जनता सब जगह उठना चाहती और राजाओं से नेतृत्व की आशा करती रही, पर राजाओं ने ही धोखा दिया। दिल्ली से बनारस तक जिस तरह डट कर लड़ाइयाँ हुईं, दिल्ली और लखनऊ में एक एक मकान सीढ़ी और कोठरी के लिए जो संघर्ष हुए, उनसे प्रकट है कि यह पूरा लोकयुद्ध था। फिर विफल क्यों हुआ? इसका एक ही उत्तर है—संचालन की त्रुटि। यह बात भी नहीं कि संचालन की योग्यता न थी। बख्तखाँ, मौलवी अहमदशाह, लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे ने जो सेनापतित्व दिखाया वह कमाल का था। तात्या टोपे की सामरिक प्रतिभा को देख कर तो युरोप के श्रेष्ठ सेनानायक दाँतों तले अँगुली दबाते थे। किन्तु आरम्भ से सारे युद्ध का आयोजन और संचालन ऐसे सेनापतियों को नहीं सौंपा गया था। भारत के जागृत नेताओं ने भारत में अंग्रेज़ों की सामरिक शक्ति के एक पहलू को देख समझ लिया था, पर इस दूसरे पहलू को ठीक नहीं समझा था कि सामरिक योग्यता वाले व्यक्तियों को प्रशिक्षित कर उनके हाथ सेना का पूरा संचालन सौंपना चाहिए।

तब क्या १८६० के बाद उन्होंने अपनी हार के इस कारण को देखा समझा और आगे के लिए उपाय किये? यदि नहीं तो भारतीय कृष्टि को मर चुका क्यों न माना जाय? यदि हाँ तो किस रूप में? इसका उत्तर यह है कि १८५७ वाली भारतीयों की प्रौढ़ पीढ़ी के कम से कम एक महापुरुष को हम १८६० के बाद वैसे उपाय करता देखते हैं जो उस दशा में किसी भी राष्ट्र के जागृत मनुष्य करते।

दयानन्द सरस्वती का चरित और अपने राष्ट्र के लिए वेदना सुविदित है। जान पड़ता है १८५५ में ही वह स्वाधीनता-युद्ध के संघटन में खिंच कर उसके कार्य से घूमता रहा था।† १८६० के बाद २३ वर्ष वह

---

* पृथ्वीसिंह महता (१९५०)—हमारा राजस्थान पृ० २६७–८, इ प्र ७१७।

अपने गुरु के साथ देश-दशा पर विचार करता रहा। उसके बाद एक ओर तो उसने 'लोकहितवादी' को साथ ले धार्मिक सामाजिक संशोधन के लिए 'आर्य-समाज' की स्थापना की और 'स्वदेशी' का मन्त्र दोहराया, दूसरी ओर यह कहा कि युरोप का सब नया ज्ञान और शिल्प अपनाना होगा और कि भारत की भाषाओं में उस ज्ञान का विकास करने और राष्ट्रीय आदर्शों के परिपालन के लिए राष्ट्रीय शिक्षापद्धति स्थापित करनी होगी, तथा नया विज्ञान सीखने को ब्रितानिया के उठते प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी से सहायता लेनी होगी। इस दृष्टि से उसने अपने शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को युरोप भेजा। विदेश से सामरिक ज्ञान पाने के लिए देश में दृढ जिम्मेदार क्रान्तिकारी संघटन आवश्यक था। श्यामजी और दयानन्द के दूसरे शिष्य कृष्णसिंह बारहट ने वैसे संघटन की नींव डाली प्रतीत होती है।

दयानन्द ने सहज अनुभूति से यह पहचाना कि प्राचीन भारत का जीवन ओजपूर्ण था, उसके बाद भारत की कृष्टि में क्रमिक ह्रास है, कि सन्तों का भक्तिमार्ग भी जनता की आँखें खोल नहीं सका और मानसिक अफीम का काम कर रहा है, और कि भारत के पुनर्जागरण के लिए प्राचीन आदर्शों और भावनाओं को फिर से जगाना तथा प्राचीन भारत के ज्ञान में विश्व के नये ज्ञान की कलम लगाना होगा। सन् ५७ की हार को हार न मानते हुए उसने खुल कर कहा—"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" इस घोषणा की प्रतिध्वनि बंकिमचन्द्र चटर्जी और विष्णुशास्त्री चिपळूणकर के लेखों में हुई। बंगाल में बंकिम के साथी प्रमथ मित्र और स्वामी विवेकानन्द के साथियों ने क्रान्ति टोलियों की नींव डाली। देश गहरा सोया हुआ था, इससे बहुत धीरे धीरे उनका कार्य आगे बढ़ा।

चौकन्ने अंग्रेज शासकों को आशंका हुई कि संन्यासी सुधारकों और देशी-भाषा-साहित्यिकों की चलाई यह लहर सन् ५७ का सा विस्फोट फिर

न पैदा कर दे। उन्होंने सोचा, भारत की आकांक्षाएँ प्रकट करने का नेतृत्व अंग्रेज़ों पर निर्भर अंग्रेज़ी-भाषी वकील वर्ग के हाथ में रहे तो इस लहर का बल टूटता रहे। इस दृष्टि से वाइसराय डफ़रिन की प्रेरणा से ए० ओ० ह्यम ने १८८५ में "इंडियन नैशनल कांग्रेस" की स्थापना कराई। ह्यूम का कहना था कि "बितानवी साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने के लिए" कांग्रेस जैसी संस्था की जो भारतीय जनता में "बढ़ती हुई (स्वाधीनता-प्रेरक) शक्तियों को निकाल देने के लिए सुरक्षा-कपाटी का काम दे, तब बड़ी आवश्यकता थी," अन्यथा "भयानक क्रान्ति का खतरा था।" इसके बाद ये दोनों लहरें और इनकी खींचातानी चलती रही।

मैकाले शिक्षापद्धति में अंग्रेज़ी साहित्य और कानून पर जितना जोर था, स्वाधीन राष्ट्रवाद की लहर में नये विज्ञान के उपार्जन और उसे अपनी भाषाओं में दर्ज करने का उतना ही महत्त्व था। १८६०-६५ के बीच उस लहर की प्रेरणा से शंकर बालकृष्ण दीक्षित, हरप्रसाद शास्त्री, गौरीशंकर ओझा, जगदीशचन्द्र वसु आदि के इतिहास और विज्ञान के मौलिक ग्रन्थ मराठी बँगला और हिन्दी में प्रकट हुए। नवम्बर १८६४ में जगदीशचन्द्र वसु ने संसार भर में पहलेपहल बिना तार के बिजली की लहर चला दिखाई और उसका विवरण बँगला में प्रकाशित किया।* युरोपी लोग जो यह कहने लगे थे कि भारतीय अपनी आँखों के सामने की वस्तुस्थिति को नहीं देख पाते, केवल पारलौकिक कल्पनाएँ किया करते हैं, वह बात इन कृतियों से गलत सिद्ध हुई। भारतीयों में आत्मविश्वास फिर से जागा। जानना चाहिए कि गौ० ही० ओझा को इतिहास की खोज में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने प्रोत्साहित किया था, और श्यामजी ने ही आगे चल कर का० प्र० जायसवाल को उस

---

* बेतार बिजली मार्कोनी ने निकाली यह प्रसिद्ध है, पर मार्कोनी ने १८९५ की गर्मियों में पहलेपहल वह कार्य किया (इ प्र ७२२-२४)।

दिशा में लगाया। सन् १६०० में दयानन्द के एक और शिष्य ने राष्ट्रीय शिक्षा के लिए एक गुरुकुल की स्थापना की। १६०६ में उसका अनुसरण कर बंगाल जातीय शिक्षापरिषद् आदि की स्थापना हुई। भारतीय चित्रकला १६वीं सदी में मर चुकी थी; अब उसकी एक नई जानदार शैली फिर प्रकट हुई। पहले विश्व-युद्ध तक क्रान्तिकारी संघटन भारत के बड़े भाग और सेना में फैल गया और भारतीय क्रान्तिकारियों ने विदेशी सरकारों से सम्पर्क स्थापित कर लिये। उस युद्ध के चलते फिर भारत-व्यापी उत्थान का विफल प्रयत्न हुआ।

इस कहानी को हम यहाँ छोड़ देंगे। संक्षेप में इतना और कहा जाय कि पहले विश्व-युद्ध में भारत से भागे एक क्रान्तिकारी रासविहारी वसु ने दूसरे विश्व-युद्ध में आज़ाद हिन्द फौज को संघटित किया। सुभापचन्द्र वसु ने उस फौज का संचालन कर दिखा दिया कि युद्ध और शासन चलाने की ज़िम्मेदारी भी भारत की प्रतिभा बखूबी उठा सकती है। आज़ाद हिन्द फौज की भावनाओं की छूत जब भारत की भाड़ैत फौज में फैली, तब अंग्रेज़ों ने देखा कि भारत छोड़ देने का उनका वह दिन आ गया जिसकी सूचना मुनरो और एल्फिन्स्टन ने सवा सौ बरस पहले दी थी।

किन्तु पिछली दो शताब्दियों में भारत के दोनों बाजू, आस्ट्रेलिया और अफरीका में, अंग्रेजी साम्राज्य और पच्छिम युरोप के अन्य देशों के साम्राज्य जम चुके हैं। यदि भारत और एशिया के अन्य देश शक्त हो कर खड़े हो जायँ तो वे साम्राज्य बने नहीं रह सकते। फलतः पच्छिमी युरोप का स्वार्थ एशिया को दुर्बल रखने में है। इसीलिए भारत से जाते जाते अंग्रेज़ हमारे देश के दो टुकड़े कर गये और यहाँ ऐसे वर्ग को गद्दी पर बिठा गये जिसका स्वार्थ अंग्रेज़ी पद्धति को बनाये रखने में है।

इससे और जो भी हुआ हो, एक बात यह हुई है कि पिछले आठ बरसों में उस वर्ग के बहकाने से हम उस राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श को भुलाने का यत्न कर रहे हैं जिसपर भारतीय संस्कृति का पुनर्जीवन निर्भर

है। २६ जनवरी १६३० के प्रातः स्वाधीनता की शपथ लेते हुए लाखों भारतीयों ने महात्मा गाँधी के ये शब्द दोहराये थे कि "हमारी कृष्टि को दबाते हुए अंग्रेजी शिक्षापद्धति हमें अपनी परिस्थिति से उखाड़ने की कोशिश करती और अपनी जंजीरों से चिपटे रहना सिखाती है।" आज हम स्वयं उसी शिक्षापद्धति को चिपट रहे हैं! किन्तु यह दशा टिक नहीं सकती।

शिवाजी वाले पुनरुत्थान से प्रेरित रघुनाथ हरि ने ऐसे अवसर पर जब सारा भारत सोया जान पड़ता था, आँखें खोलीं, फिर उसकी चलाई जागरण-गंगा कभी अन्तःसलिला हो कर कभी सारे देश को आप्लावित कर अटूट चलती रही, एक के बाद एक महापुरुष-भगीरथ उसका रास्ता बनाते चले, इससे प्रकट है कि भारत की कृष्टि अभी जिंदा है। वह फिर सारे देश को सींचेगी।

———

अध्याय १२

सिंहावलोकन

§ १. भारतीय राज्यसंस्था

वैदिक से गुप्त काल तक भारतीय राज्यसंस्था का विकास कैसे हुआ सो हमने देखा है। उसके बाद उसके ह्रास की भी झलक पाई है। वैदिक काल में भारतीय समाज का संघटन जनमूलक या साजात्य-मूलक था। उससे मिलता-जुलता संघटन आर्य नृवंश की दूसरी शाखाओं का भी था। उत्तर वैदिक वाङ्मय में श्रेणि शब्द पहलेपहल आता है। फिर महाजनपद युग में भारतीय राज्यसंस्था का विशिष्ट रूप प्रस्फुटित हो जाता है। और उसी रूप का विकास गुप्त युग तक होता चलता है। उसके मुख्य लक्षण हैं (१) प्रत्येक जनपद और नगर में जनता का धन्धों के अनुसार संघटित होना तथा (२) प्रत्येक ग्राम, धन्धे के निकाय अथवा श्रेणि, नगर और जनपद का स्थानीय स्वशासन और उसपर निर्भर राज्य। धन्धों के निकायों या संघों के आधार पर देश के शासन के खड़ा होने की तुलना सोवियत संघ की आधुनिक शासनपद्धति से की जा सकती है।

§ २. भारतीय कला

मुअन जो दड़ो की कला की झाँकी हमने पाई है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल के किन्हीं कला-अवशेषों का अभी तक निश्चित पता नहीं मिला; जो खुदाइयाँ हाल में हुईं या हो रही हैं उनसे कुछ नमूने मिलने की आशा बनी है। महाजनपद युग से मुगल-मराठा युग तक भारतीय कला के क्रमशः विकास ह्रास और पुनरुत्थान-प्रयत्नों तथा इस शताब्दी की नई लहर को भी हमने देखा है।

भारतीय कला जब तक जीवित रही, उसमें सदा भाव की मुख्यता रही। यथातथ चित्रण का विचार भी अपने यहाँ था। जोनराज दूसरी राजतरंगिणी में कहता है—**वस्तु ... उचितमालेख्यम् ... अतुलयत्तराम्**—अच्छा चित्र वस्तु की तुलना का था। चित्र से असल वस्तु का भ्रम हो गया ऐसी कहानियाँ भी संस्कृत साहित्य में हैं। फिर भी कला का तत्त्व भाव की व्यञ्जना ही माना जाता था। दसवीं शताब्दी से हमारे देश की कृतियों में भाव गायब हो कर अलंकरण मुख्य हो जाता है। उनमें कला नहीं रहती, कलाभास रह जाता है। तब से भारत की कल्पना ने बार बार उठने के प्रयत्न किये हैं, पर वे प्रयत्न कुछ काल बाद मुरझा जाते रहे हैं। आज भी वैसा प्रयत्न जारी है। जो भी हो, भारत के उत्थान और ह्रास का ठीक ठीक प्रतिबिम्ब उसकी कला में प्रत्येक युग में पड़ता रहा है।

§ ३. भारतीय शिक्षा

भारतीय समाज में ज्ञान की आतुर प्यास आरम्भ से रही और ज्ञान का उपार्जन और दान करने वाले वर्ग का ऊँचा पद रहा। पर उस वर्ग से त्याग और तप का जीवन बिताने की आशा की जाती थी। ज्ञान को धन कमाने का साधन बनाने से उसकी प्रतिष्ठा घटती है, सो उसके साथ त्याग का विचार सदा लगा हुआ था।

जब ज्ञान में प्रवृत्त लोग व्यक्तिगत लाभ का विचार छोड़ पठन-पाठन में लगे हों तब उनके लिए समाज में और उनके शिष्यों के मन में आदर होना तथा उनमें अपने शिष्यों के लिए स्नेह और हितैषिता होना स्वाभाविक है। भारतीय समाज में ज्ञान का त्याग के साथ ऐसा संयोग और ज्ञानियों का आदर तथा यहाँ की शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का परस्पर स्नेह और हितचिन्तन न केवल भारत के उत्कर्ष काल में प्रत्युत अवनति के युगों में भी बना रहा है। इसे हम भारतीय कृष्टि का स्थायी लक्षण कह सकते हैं। अवनति का कारण दूसरा था जिसपर हम

अभी विचार करेंगे।

वैदिक उत्तर-वैदिक काल के चरणों और आश्रमों का, महाजनपद युग के तक्षशिला गुरुकुल का, महाजनपद से गुप्त युग तक श्रेणियों द्वारा अन्तेवासिकों के शिक्षण का तथा मध्य काल के नालन्दा और विक्रमशिला महाविहारों का राष्ट्रीय जीवन में स्थान हमने देखा है।

शिक्षा का कार्य है विद्यमान पीढ़ी के ज्ञान को अगली पीढ़ी तक पहुँचाना तथा नये ज्ञान का संचय और सृजन। मध्य काल और मुगल-मराठा युग में नये ज्ञान का संचय और सृजन छुट गया और वही पतन का कारण हुआ। अन्त में पच्छिमी युरोप की चोट लगने पर भारत के विचारनेताओं ने देखा कि विश्व के नये ज्ञान को अपनाये विना भारतीय राष्ट्र स्वतन्त्र बचा भी न रह पायगा। रघुनाथ हरि, राममोहन राय और दयानन्द ने इस तथ्य को कैसे देखा इसकी चर्चा हो चुकी है। भारत का पुनर्जागरण इसी प्रयत्न पर निर्भर था।

पर १८५८ में झाँसी को लेते हुए अंग्रेजों ने जैसे रघुनाथ हरि के पुस्तकालय और परीक्षणालय को तोप के गोलों से ज़मींदोज कर दिया, वैसे ही मैकाले शिक्षापद्धति द्वारा भारतीय शिक्षापद्धति के युगों से चले आते आदर्शों को नष्ट और जागरण के नये प्रयत्नों को बेकार करने की चेष्टा भी की। शिक्षा को जैसा व्यापारिक रूप मैकाले पद्धति में दिया गया है वह भारतीय आदर्शों की जड़ पर मार है। मैकाले पद्धति को पाश्चात्य शिक्षापद्धति कहना भी भारी भूल है। पश्चिम अर्थात् युरोप के देशों में ज्ञान का बहुत आदर है, ज्ञान की मौलिक खोज में निःस्वार्थ दृष्टि से जीवन अर्पित करने का आदर्श वहाँ सुप्रतिष्ठित है। अंग्रेज़ व्यापारियों की भारत में चलाई हुई यह पद्धति तो इंग्लैण्ड की शिक्षापद्धति की बन्दर की सी नकल है। यहाँ ज्ञान का कोई मूल्य नहीं, केवल डिग्री के ठप्पे और जैसे तैसे पाये हुए पद का मूल्य है। दो और दो चार जानने का कोई मूल्य नहीं, इसे अंग्रेज़ी में कहने का बड़ा मूल्य है। ढोंग की पराकाष्ठा है।

सबसे बढ़ कर यह शिक्षापद्धति देसी भाषाओं में ज्ञान के विकास को रोक कर भारत के पुनर्जागरण में मुख्य बाधक हो रही है। यह समझना चाहिए कि देसी भाषाओं में नये ज्ञान का विकास भारत के पुराने ज्ञान के साथ उसका समन्वय करके ही हो सकता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। युरोप में अर्थशास्त्र के नये रूप का विकास, जिसमें मानव समाज के आर्थिक जीवन को चलाने वाले नियमों की खोज होती है, पिछली तीन शताब्दियों में ही हुआ है। हम किसी भारतीय भाषा द्वारा उस ज्ञान को देना चाहें तो क्या अंग्रेज़ी या जर्मन ग्रन्थ का सीधा अनुवाद करके दे सकते हैं? अर्थशास्त्र के पाश्चात्य ग्रन्थ में जहाँ सम्पत्ति की विवेचना होगी, वहाँ यह बताया होगा कि प्राचीन यूनान में वैयक्तिक सम्पत्ति का विकास यों हुआ, रोम में यों हुआ, फिर मध्यकालीन और अर्वाचीन युरोप में यों, अन्त में उससे परिणाम निकाले होंगे। हिन्दी या बँगला में हम इसका सीधा अनुवाद करेंगे तो पाठक सोचेंगे कि भारत में सम्पत्ति का विकास क्या नहीं हुआ! वनस्पतिशास्त्र के अंग्रेजी ग्रन्थ में अधिकांश उदाहरण पाश्चात्य वनस्पतियों के होंगे। इत्यादि। प्रकट है कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक वाङ्मय के विकास के लिए हमें अपने देश के इतिहास प्राकृतिक परिस्थिति तथा प्राचीन विचारों का गहरा अनुशीलन और उसका पच्छिम के ज्ञान के साथ सावधानी से मिलान करना होगा।† राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयत्न में लगे हुए कर्मी इस सत्य का आज से चालीस बरस पहले स्पष्ट अनुभव कर चुके थे। उस प्रकार के अनुशीलन के लिए संघटित सहोद्योगी श्रम की आवश्यकता है। पर वैसे कार्य के लिए मैकाले शिक्षणालयों में न कहीं स्थान है, न वातावरण।

जैसा कि पीछे कहा गया है पिछले आठ बरसों में हमारे देश ने

---

§ अधिक विवेचना के लिए दे० जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५०)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कोटा, के सभापति पद से अभिभाषण पृ० ७–११।

राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों को भुलाने का यत्न किया है। भारतीय भाषाएँ भारत के संविधान में अपना उचित स्थान पाने के लिए अभी तक संघर्ष कर रही हैं। तो भी भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी जनता की इस माँग को तो संविधान में मानना ही पड़ा था। इसी से हिन्दी में विज्ञान वाङ्मय के सृजन की आवश्यकता की बड़ी चर्चा है। पर उस दिशा में ६० बरस से जो कार्य हो रहा था तथा जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उससे सम्पर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं मानी गई। हमारे शासननेता वह कार्य भी मैकाले शिक्षणालयों की पौध से करवाना चाहते हैं, जिसके लिए बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाई गई हैं। पहले अंग्रेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक कोश तैयार किये जायेंगे, फिर उन कोशों की सहायता से अंग्रेज़ी से हिन्दी में विज्ञान और इतिहास के ग्रन्थों का अनुवाद कर लिया जायगा! यह योजना कारखाने से अनाज अथवा बने बनाये मकान पैदा करने की योजना की तरह है! कोशों के आधार पर वाङ्मय का सृजन आज तक कहीं नहीं हुआ और कोश भी कल्पना की टकसाल में शब्द गढ़ कर कहीं नहीं बने। भारत के पुराने ज्ञान और चिन्तन की तथा पिछले ६०–७० बरस के पुनर्जागरण के सच्चे प्रयत्नों की परम्परा की पूरी उपेक्षा कर अंग्रेज़ी के अन्धानुवादों द्वारा हिन्दी का भंडार भरने की इन डींगों का यह अर्थ है कि भारत की पुरानी कृष्टि को शून्य माना जा रहा तथा बालू पर महल खड़े करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन उपायों से हम बहुत दिन अपने को बहका न सकेंगे। अन्त में राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श पर हमें लौट कर आना ही होगा।

§४. भारतीय कृष्टि के विशिष्ट तत्त्व

भारतीय कृष्टि के विशिष्ट तत्त्वों की चर्चा करने का रिवाज है। वैसी चर्चा करने वालों का अभिप्राय उसके त्रैकालिक तत्त्वों से होता है।

हमने प्रत्येक युग में भारतीय कृष्टि की विवेचना क्रमपूर्वक की है। प्रत्येक युग के आर्थिक जीवन, राज्यसंस्था, धर्म-कर्म, सामाजिक आचार,

ज्ञान वाङ्मय और कला की सावधानी से तुलना की जाय तो शायद कुछ ऐसे तत्त्व भी निकल आयँ जो भारतीय कृष्टि में सदा रहे हों। उदाहरण के लिए ऊपर वाले परिच्छेद में हमने देखा है कि भारतीय शिक्षापद्धति में ज्ञान और त्याग के सम्मिलन तथा गुरु और शिष्य के बीच वात्सल्य और आदर के सम्बन्ध का आदर्श प्रायः सदा बना रहा है।

किन्तु भारत अथवा किसी भी राष्ट्र की कृष्टि के त्रैकालिक तत्त्वों की चर्चा हलकेपन से न करनी चाहिए। बहुत विस्तृत और गहरे अनुशीलन के बाद ही इस विषय में कुछ कहा जा सकता है (दे० ऊपर पृ० १५–१७)। उदाहरण के लिए एक तरफ सातवाहन युग का भारत था, जिसके नाविक और व्यापारी चीन से जर्मनी तक अपने जहाजों में विचरते थे, जिसके कारीगर राजाओं की अक्षय निधियाँ धरोहर रखते थे (ऊपर पृ० १५५, १६७, १६६); दूसरी तरफ मुगल-मराठा युग का भारत था, जिसमें विदेशी चाँचिये गंगा में घुस कर भारत की जनता को पकड़ ले जाते थे, और कारीगर विदेशी साहूकारों से पेशगी पा कर उनकी यातनाओं से बचने को अपने अँगूठे काट लेते थे! दोनों की कृष्टि में कौन से समान तत्त्व हैं?

भारतीय कृष्टि में सब से बड़ा सनातन तत्त्व यह है कि उसका लगातार विकास ह्रास और रूपान्तर होता रहा है, वह निर्जीव पत्थर की तरह अचल और एकरूप नहीं रही, प्रत्युत जीवित प्राणी की तरह पनपती पकती और मुरझाती रही है। एक बार मुरझा कर नष्ट हुई प्रतीत होने के बाद वह पुनर्जन्म पा लेती है। हमारा विश्वास है कि वह फिर एक बार नया अवतार लेने जा रही है।

भारतीय नृवंशों के नमूने
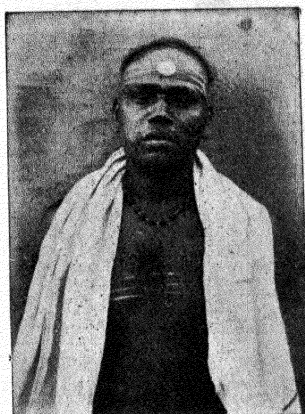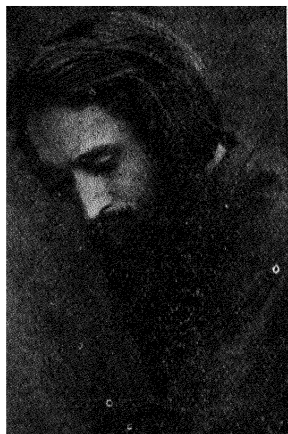
(१) आर्यावर्त्ती आर्य
[श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के सौजन्य से]

(२) द्राविड
[श्री आ० अय्यगार के सौजन्य से]
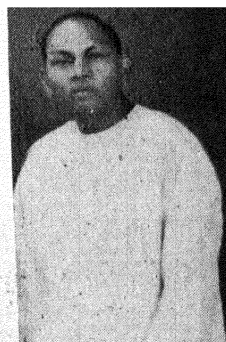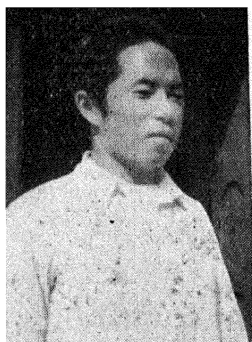
(३) भारतीय किरात
[श्री रुक्मचन्द्र नारंग द्वारा फोटो]

(४) मुंड
[श्री सुरेश मिश्र के सौजन्य से]

मुअन जो दडो मूरतें और नाथीदाँत ग वॉ क्रे
(दूसरी पंक्ति में एक आधुनिक शिवलिंग तुलना के लिए रक्खा है।)
[भारतीय पुरातत्त्व विभाग]

चित्र ६ (पृ० ८०–८२)
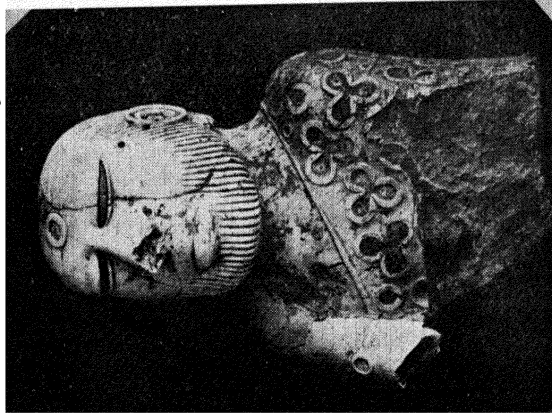
मुअन जो दड़ो—खंडित मूर्त्ति
मूर्त्त पुरुष की नासाग्र दृष्टि से वह ध्यानावस्थित प्रतीत होता है। [भा० पु० वि०]

चित्र ७ (पृ० ८०–८२)

हड़पा—शव दफनाने का चित्रित मटका
[भा० पु० वि०]
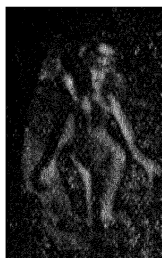
चित्र ९ (पृ० १३८-४१)

सोने की पत्री पर उभारी मूर्त्ति, पृथिवीमाता ?
नन्दनगढ़ (चम्पारन) की खुदाई से प्राप्त,
पूर्व नन्द-युग की।
मूल परिमाण [भा० पु० वि०]

चित्र १० (पृ० १३८-४१)
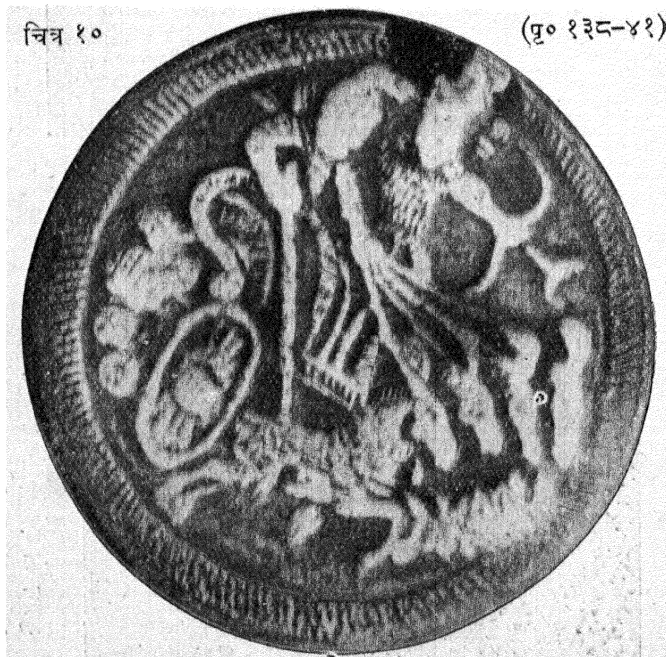
काली मिट्टी के टिकरे पर उभारा चित्र—मगध का रथी योद्धा। सन् १९३४ में पटने की नाली की खुदाई से जिस गहराई पर यह टिकरा मिला, उससे इसको पूर्व नन्द युग का होना सिद्ध हुआ। मूल परिमाण।
[पटना संग्रहालय]

चित्र ११
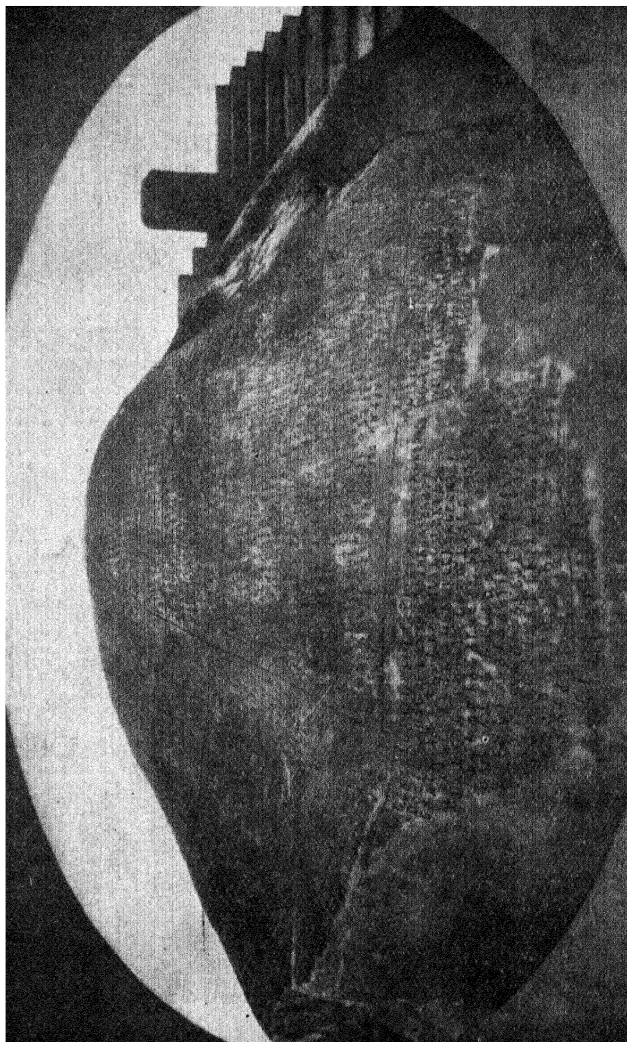
(पृ० १३८-४१)

गिरनार की चट्टान पर अशोक के लेख, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा लिया चित्र (१८९०)।

चित्र १२ (पृ० १३८-४१)
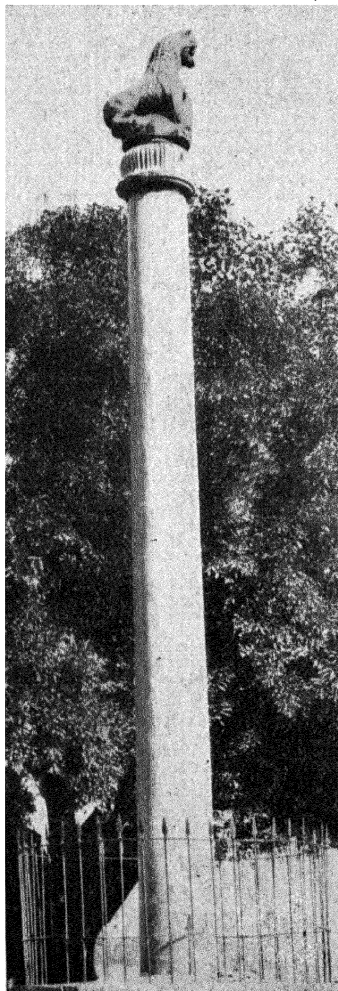
अशोक स्तम्भ, लौड़िया नन्दनगढ़ चम्पारन) [भा० पु० वि०]

चित्र १३

(पृ० १३८-४१)

अशोक स्तम्भ का चौमुखे सिंह वाला परगहा, सारनाथ [भा० पु० वि०]

चित्र १५ (पृ० १३८-४१)

चित्र १४ (पृ० १३८-४१)
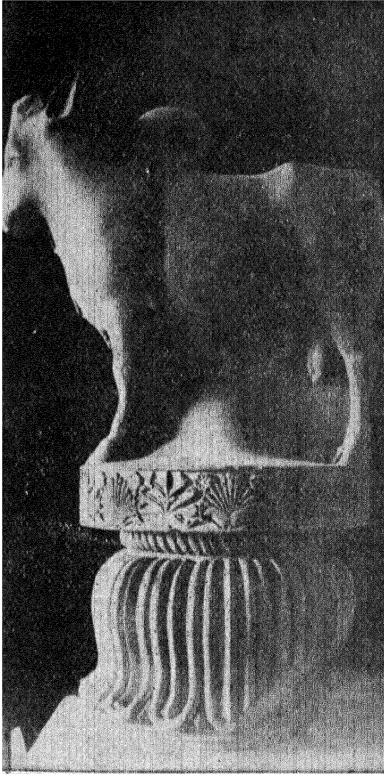
अशोक-स्तम्भ का वृष-मूर्त्ति वाला परगहा,
रामपुरवा (चम्पारन)
[भा० पु० वि०]
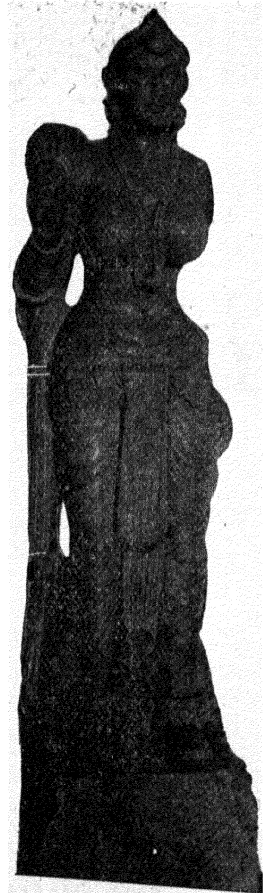
चामर-ग्राहिणी
दीदारगंज (ज़ि० पटना) से
प्राप्त मौर्य-युगीन मूर्त्ति
[पटना संग्रहालय]

चित्र १६ (पृ० १३८-४१)

"लोमश ऋषि की गुफा"
बराबर पहाड़ी (ज़ि० गया) में दशरथ मौर्य की कटवाई हुई
[भा० पु० वि०]

चित्र १७ (पृ० १४३)
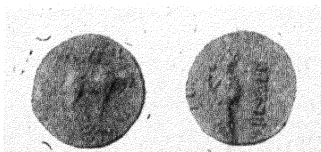
पुष्कगवती के यूनानी राजा का सिक्का । चित, नन्दी की मूर्त्ति, लेख—**उषभे** (वृषभः); पट, पुष्करावती की मूर्त्ति, लेख—**पखलावदि देवदा** (पुष्करावती देवी)

चित्र १६ (पृ० १५५-५६)

"भारत लक्ष्मी"

अंकरा (तुर्की) से प्राप्त इस तश्तरी पर उभारा चित्र भारत के रोम से व्यापार का स्मारक है। "भारत लक्ष्मी" के आसपास भारतीय पशु-पक्षी बनाये गये हैं।

इस्तान्बूल संग्रहालय]

(पृ० १८२)
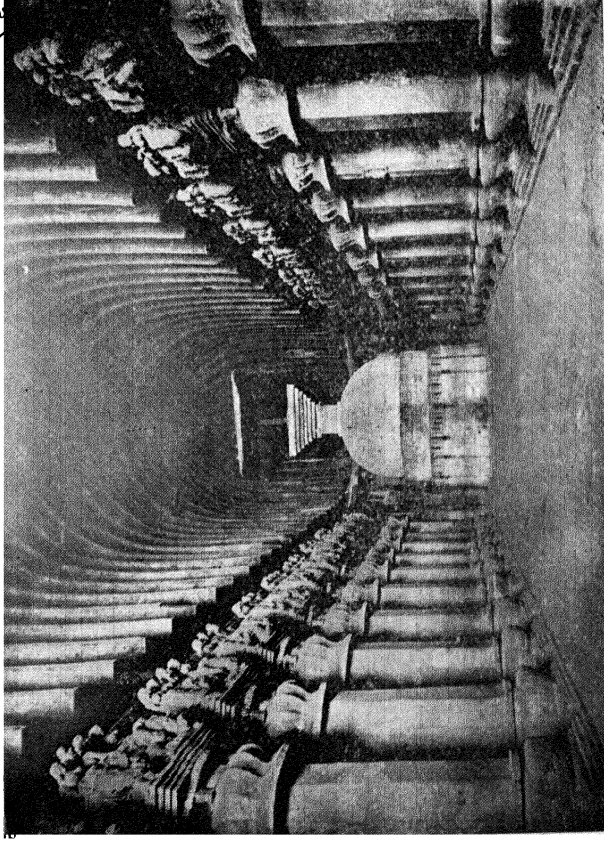
कार्ले सेलघर भीतरी दृश्य [भा० पु० वि०]

चित्र २१ (पृ० १८३)
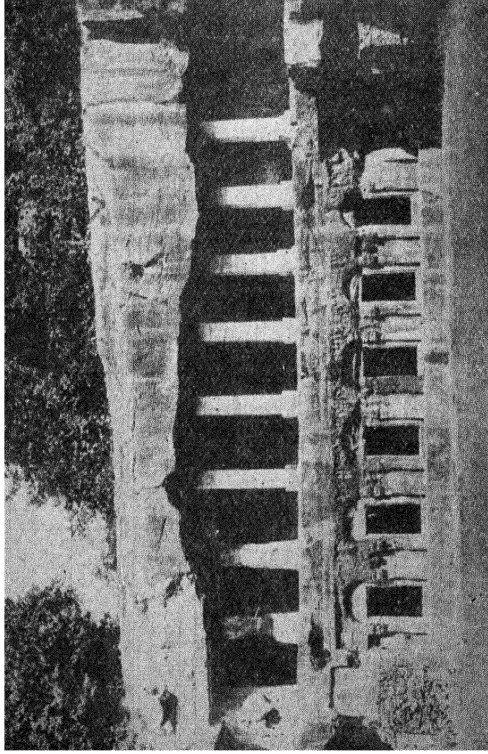
रानीगुम्फा
खंडगिरि (जि० पुरी) में खारवेल की रानी का कटवाया हुआ गुहा-विहार
[भा० पु० वि०]

साँची स्तूप और वेदिका, दक्खिन पच्छिम ओर का दृश्य [भा० पु० वि०]

चित्र २३ (पृ० १८३-८४)
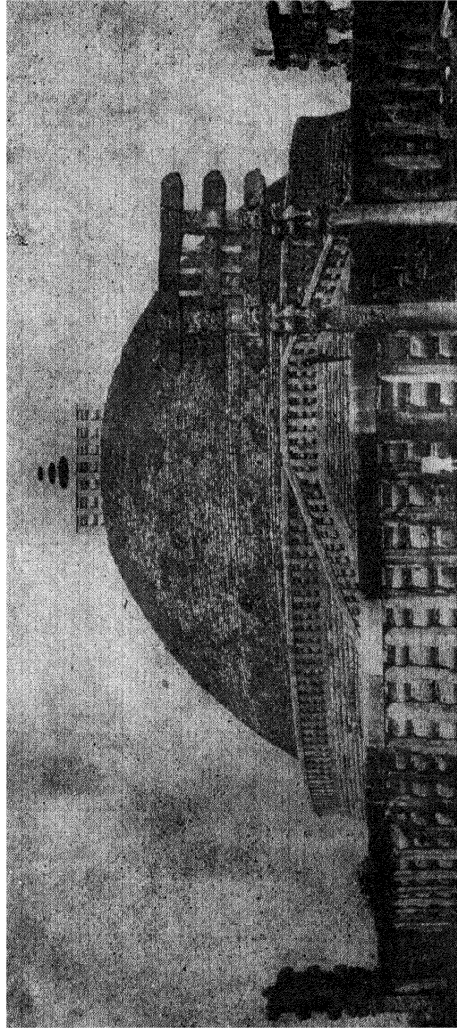
भारहुत स्तूप की वेदिका में का एक फुल्ला (फुल्ल मल क अलंकरण),
बीच में एक श्रेष्ठी क मुख, शुंग-युग की वे भूषा में
[कलकत्ता संग्रहालय, भा० पु० व०]

शुंग-सातवाहन-युग में गढ़ पर-चढ़ाई का दृश्य; साँची स्तूप, दक्खिनी तोरण, पिछली तरफ सब से निचली बँडेरी पर से

चित्र २५

(पृ० १८३–८५)

शुंग-सातवाहन-युग में युद्ध का दृश्य; साँची स्तूप, पच्छिमी तोरण, पिछली तरफ, बिचली बँडेरी पर से

चित्र २६ (पृ० १८३-८४)
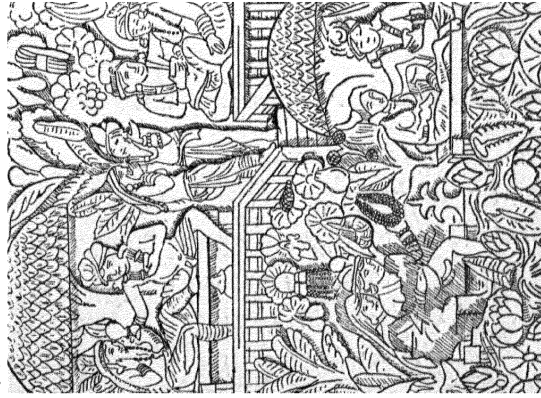
उद्यानक्रीडा, साँची स्तूप की वेदिका पर खुदा सातवाहन युग के जीवन का चित्र [श्री हरिहरनाथ मेढ़ कृत प्रतिलिपि, डा० मोतीचन्द्र के सौजन्य से]

कण्व के आश्रम में दुष्यन्त का आगमन ? सहजाति के भीटे से प्राप्त शुंग युग का मिट्टी का टिकरा [भा० पु० वि०]

चित्र २८ (पृ० १८४-८५)

वासवदत्ता हरण

कोशाम्बी से पाया गया शुंग युग का पकाई मिट्टी का ठिकरा

हथिनी पर आगे वासवदत्ता और पीछे उदयन है। सब से पीछे उदयन का मित्र वसन्तक थैली खोल कर पीछा करने वालों से पीछा छुड़ा रहा है।

[भारत कलाभवन, बनारस]

चित्र २६ (पृ० १८४-८५) चित्र ३० (पृ० १८५-८७)

शुंग युग की भद्र महिला, कौशाम्बी से प्राप्त मिट्टी का खिलौना। स्त्रियाँ भी गेंद से फुंदनों वाले भारी मुँडासे पहनती थीं!

[प्रयाग संग्रहालय]

गान्धारी शैली की खंडित स्त्री मूर्त्ति, शहर-ए बहलोल (ज़ि० पेशावर) की खुदाई से प्राप्त

[भा० पु० वि०]

बुद्ध मूर्त्ति, गांधारी शैली
जौलियाँ (तक्षशिला) से प्राप्त
[भा० पु० वि०]

गान्धारी शैली की मूर्त्ति, बुद्ध ?

हड्ड, अफगानिस्तान से

[काबुल संग्रहालय]

चित्र ३३

पिछले सातवाहन युग की नारी
कौशाम्बी से प्राप्त मिट्टी का खिलौना।
[प्रयाग संग्रहालय]

चित्र ३४ (पृ० १८५-८८)
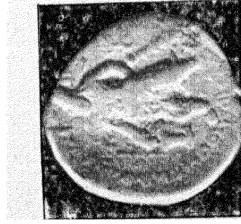
विम कफ्स का सिक्का
चित, राजा विम अग्नि में आहुति देते हुए;
पट, नन्दो के सहारे खड़े शिव
[श्रीनाथ साह संग्रह]

चित्र ३५ (पृ० १८७)
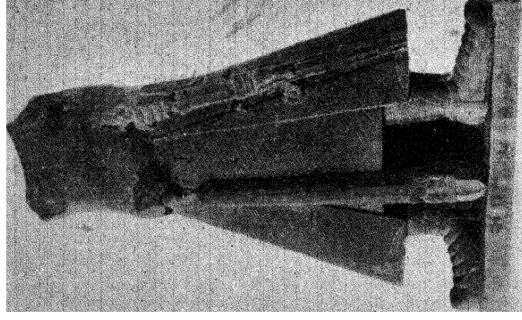
मथुरा के पास माट गाँव से पाई गई
कनिष्क की खंडित मूर्त्ति
[मथुरा संग्र०, भा० पु० वि०]

ऋष्यशृंग पहले स्त्री परिचय के बाद,
मथुरा शैली, ऋषिक युग ।
[मथुरा सग्रहालय, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के सौजन्य से]

चित्र ३७ (पृ० १८७)

पूँजीपति कुवेर, मथुरा शैली, ऋषिक युग।
[मथुरा संग्र०, श्री कृ० द० वाजपेयी के सौजन्य से]

चित्र ३८ (पृ० १८६-८७, २०५-०७)

भागते हिरनों की जोड़ी, अजिंटा का चित्र,
कागान मूर्त्ति की अनुकृति ?

चित्र ३९ (पृ० १८७)
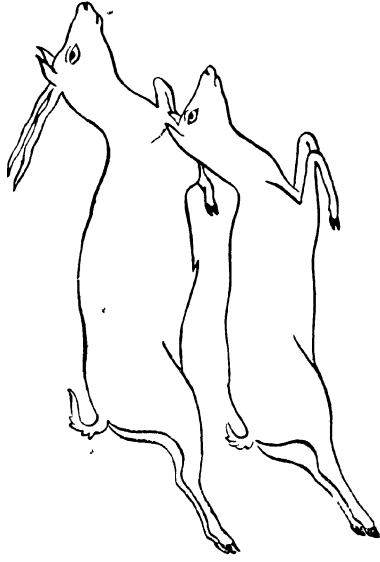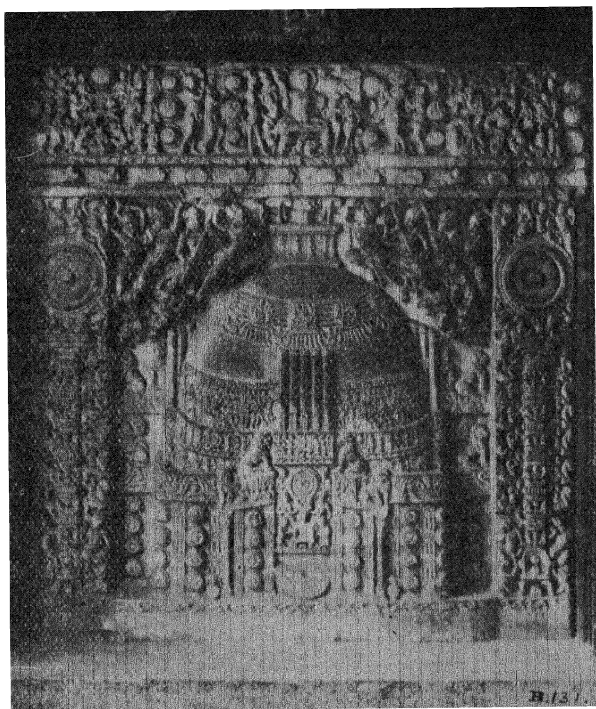
अमरावती स्तूप पर चुनी एक चीप पर उभारा दृश्य—समूचा स्तूप इसमें चित्रित प्रतीत होता है। [मद्रास संग्रहालय, भा० पु० वि०]

चित्र ४० (पृ० १८८–९०)

सासानी राजा का शैव सिक्का चित, राजा आहुति देते हुए; पट, शिव और नन्दी। विम कफ्स के सिक्के (चित्र ३४) से तुलना कीजिए।

चित्र ४१ (पृ० १८६)

यौधेयगणस्य जयः (यौधेय गण की जय)
लेख वाला मुनेत्र (लुधियाना) टकसाल का तीसरी शताब्दी का यौधेय गण का सिक्का

चित्र ४३ (पृ० २०६)

चित्र ४२ (पृ० १८६)
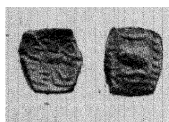
मालवानां जयः
(मालवों की जय)
लेख वाला मालव गण
का तीसरी शताब्दी
का सिक्का

"माँ"—मथुरा से पाई गई मूर्त्ति, लग० तीसरी शताब्दी पूर्वार्ध की [मथुरा संग्र०, भा० पु० वि०]

चित्र ४५ (पृ० १६५)

जावा के राजा पूर्णवर्मा का अभिलेख
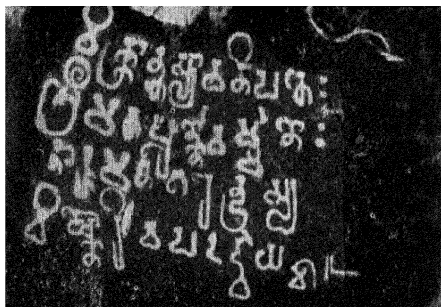
(पं० १) विक्कान्तस्यावनिपतेः (पं० २) श्रीमतः पूर्णवर्म्मणः
(पं० ३) तारूमनगरेन्द्रस्य (पं० ४) विष्णोरिव पदद्वयम् ।

चित्र ४६ (पृ० १६५)

वेंगीपुर (कृष्णा के मुहाने) का चौथी शताब्दी का लेख
(पूर्णवर्मा के लेख—चित्र ४५—से लिपि की तुलना के लिए)
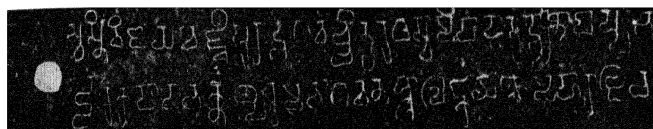
(पहला पत्रा, पं० १) स्वस्ति विजयवेङ्गीपुराद्भगवच्चित्ररथस्वामिपादानुद्ध्यातो भ-
(पं० २) ट्टारकपादभक्तः परमभागवतश्शालङ्कायनो महाराजा च-

(दूसरा पत्रा, पं० १) एडवर्म्मणस्सूनुर्ज्येष्ठो महाराजश्री······इत्यादि ।

चित्र ४७ (पृ० २०२)

बख्शाली पोथी का एक पन्ना [भा० पु० वि०]

चित्र ४८
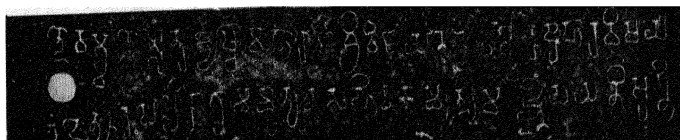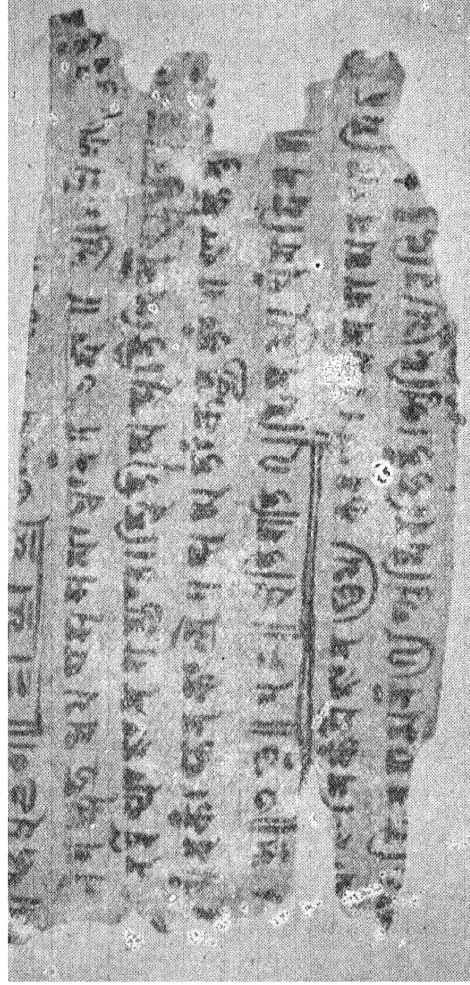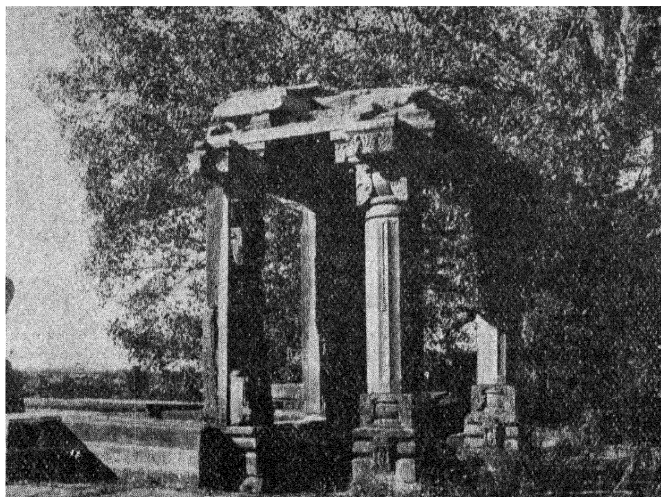
(पृ० २०६)

एरण में समुद्र गुप्त की रानी द्वारा स्थापित विष्णु मन्दिर के खंडहर
[भा० पु० वि०]

चित्र ४९

(पृ० २०७)

समुद्रगुप्त का अश्वमेध स्मारक दीनार (सोने का सिक्का)
[श्रीनाथ साह संग्रह]

चित्र ५० (पृ० २०७)

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के

वीणावादक नमूना धनुर्धर नमूना

[पटना संग्रहालय]

चित्र ५१ (पृ० २०६)
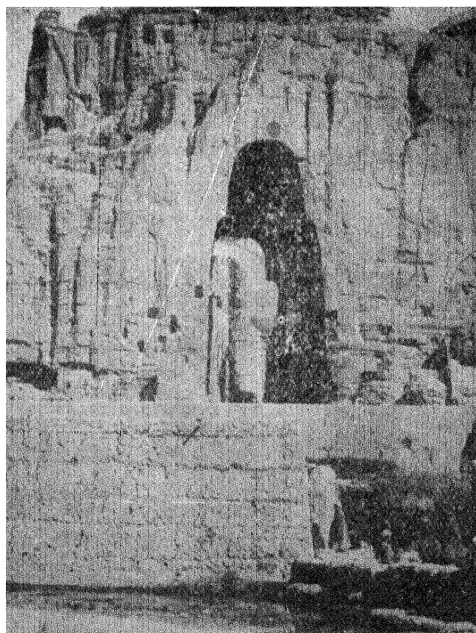
बामयाँ (अफगानिस्तान) का बुद्ध मूर्त्ति वाली गुहा

[फादर हेरस के सौजन्य से]

चित्र ५२ (पृ० १९६)

अश्वघोष-कृत वज्रच्छेदिका के खोतनदेशी अनुवाद की भोजपत्र पर लिखी पोथी का एक पृष्ठ।

चित्र ५३ (पृ० १९७)

पुरिकाग्रामजानपदस्य

चौथी शताब्दी के लेख सहित [भा० पु० वि०]
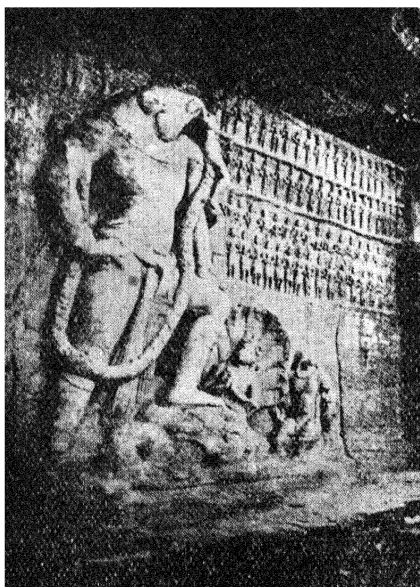
उदयगिरि की चन्द्रगुप्त गुहा के बाहर वराह मूर्त्ति, वराह की दन्तकोटि पर लटकती स्त्री मूर्त्ति—पृथिवी या ध्रुवस्वामिनी [अरुणचन्द्र नारग द्वारा फोटो]

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बाघ का आखेट करते हुए, सिक्के पर से बढ़ाया हुआ चित्र

चित्र ५६ (पृ० १६३; २०६)
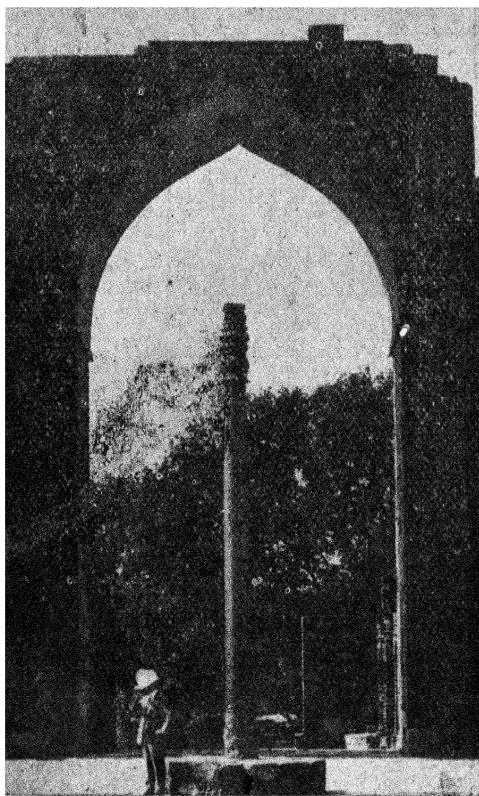
महरौली में राजा चन्द्र की लोहे की कीली,
पड़ोस की टूटी मस्जिद अनंगपाल के मन्दिर का रूपान्तर है
[भा० पु० वि०]

अजिंठा १९वीं गुफा का द्वार
[भा० पु० वि०]

चित्र ५८ (पृ० २०७)
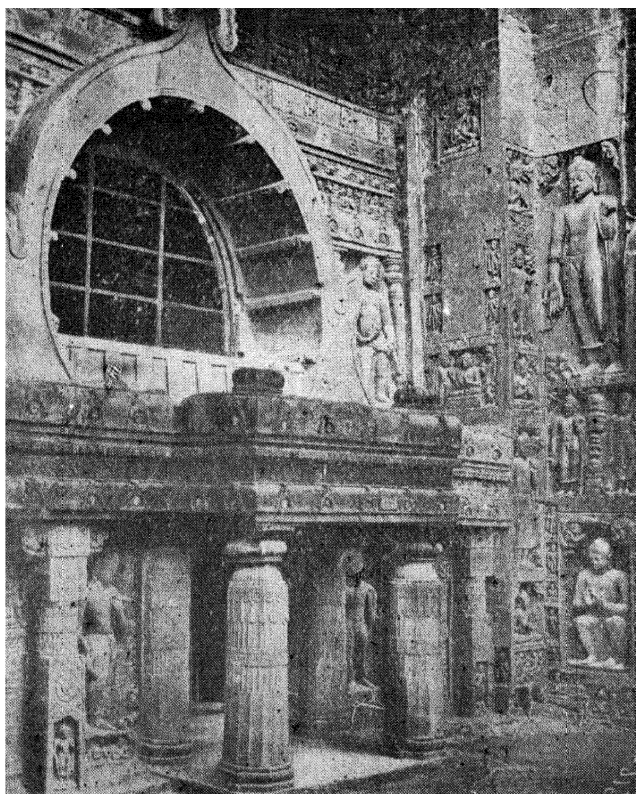
गंगा
बेसनगर (भिलसा) की खुदाई से प्राप्त

चित्र ५९ (पृ० २०७)

बुद्ध, मथुरा मूर्त्ति
[मथुरा सग्रहालय]

बुद्ध, सारनाथ मूर्त्ति

नर-नारायण की तपस्या

देवगढ़ के विष्णु-मन्दिर में मूर्त्त दृश्य

[भा० पु० वि०]

रामचन्द्र अहल्या का उद्धार करते हुए
देवगढ़ के विष्णु-मन्दिर में मूर्त्त दृश्य
[भा० पु० वि०]

चित्र ६३ (पृ० २०७)

कुमारगुप्त (१म) का सोने का सिक्का
चित, राजा घोड़े पर सवार और लेख; पट, देवी मोर को खिलाते हुए।
[श्रीनाथ साह संग्रह]

चित्र ६४ (पृ० २०८)

गान में रत किन्नर-किन्नरी
अजिंठा की १७वीं लेण का भित्तिचित्र [भा० पु० वि०]
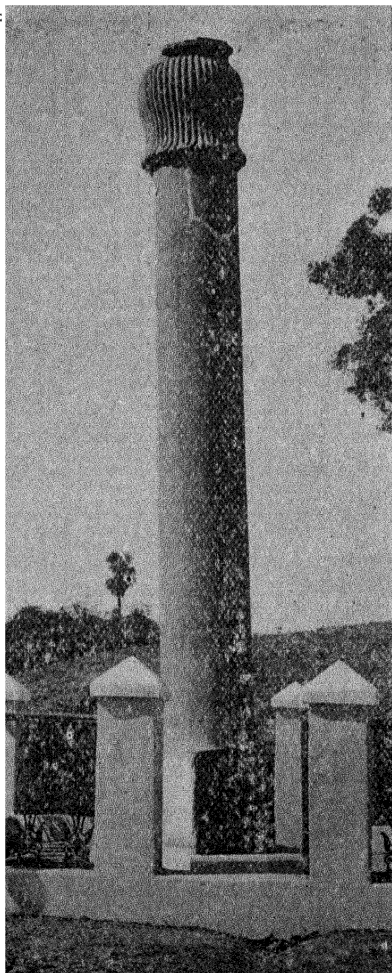
स्कन्दगुप्त का हूण-विजय-स्मारक स्तम्भ सैदपुर-भितरी (जि० गाजीपुर)
[भा० पु० वि०]

चित्र ६६ (पृ० १६४, २०६)
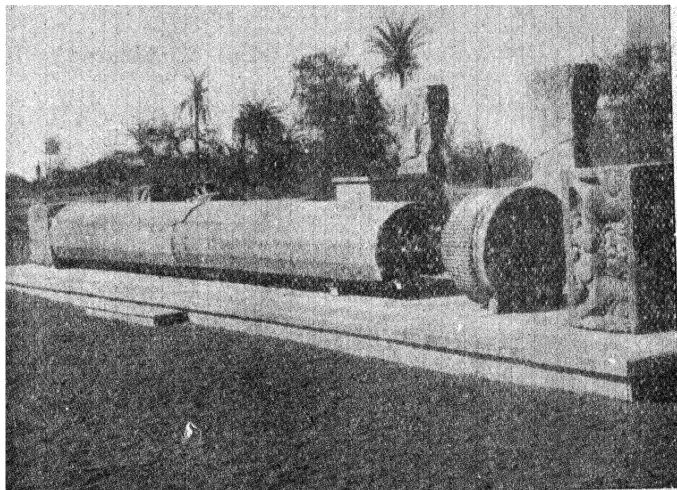
दासोर या मन्दसोर में पड़े यशोधर्मा के विजय स्तम्भ
(इन्हें मूल स्थिति में खड़ा कर दिया जाना चाहिए।)

चित्र ६७ (पृ० २१०-११)
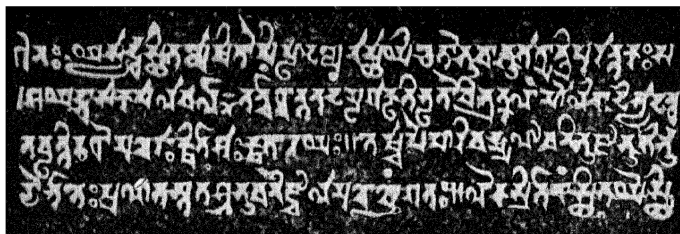
छठी शताब्दी की भारतीय लिपि, जिसमें तिब्बती भाषा पहलेपहल लिखी गई—
हड़हा (जि० रायबरेली) से प्राप्त ईशानवर्मा मौखरि के सं० ६११ वि० के
लेख में से [लखनऊ संग्रहालय]

चित्र ६८ (पृ० २१०-११)

आरम्भिक तिब्बती लिपि—ल्हासा के पास ग्यल्खङ विहार के शिलालेख में से।
हड़हा लेख की लिपि से तुलना के लिए।
[श्री राहुल सांकृत्यायन के सौजन्य से]

चित्र ६६ (पृ० २२४-२५
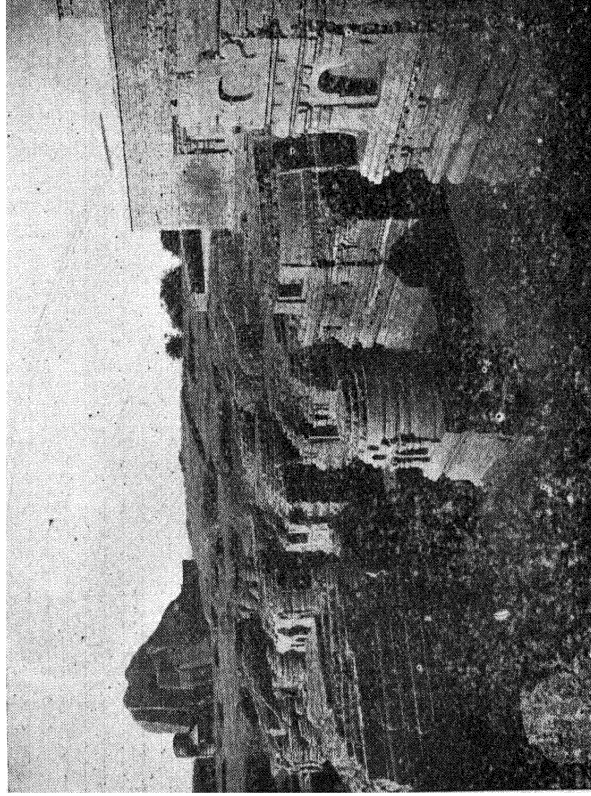
नालन्दा महाविहार के खँडहर [भा० पु० वि०]

चित्र ७० (पृ० २२४-२५)

नालन्दामहाविहारीयार्य-भिक्षुसंघस्य
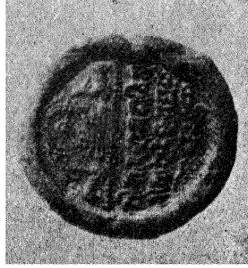
"नालन्दा महाविहार के आर्य भिक्षु संघ की" अर्थात् नालन्दा विद्यापीठ की मुहर, मूल परिमाण
[भा० पु० वि०]

चित्र ७१ (पृ० २२४)

सम्ये विहार
[श्री राहुल सांकृत्यायन के सौजन्य से]
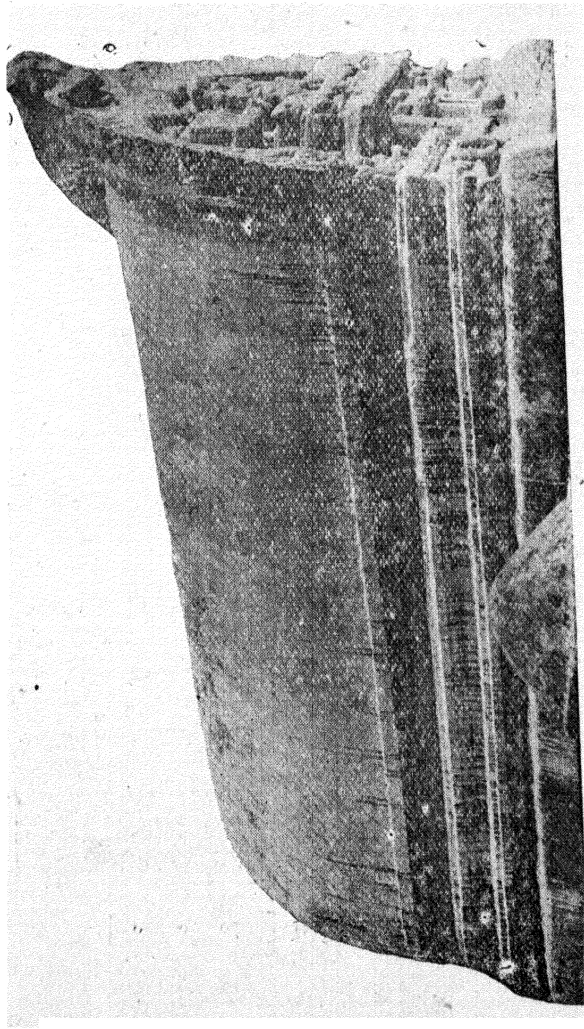
कपोतेश्वर मन्दिर, चेजर्ला [भा० पु० वि०]

गणेश रथ, मामल्लपुरम् [भा० पु० वि०]

चित्र ७४ (पृ० २३०३१)
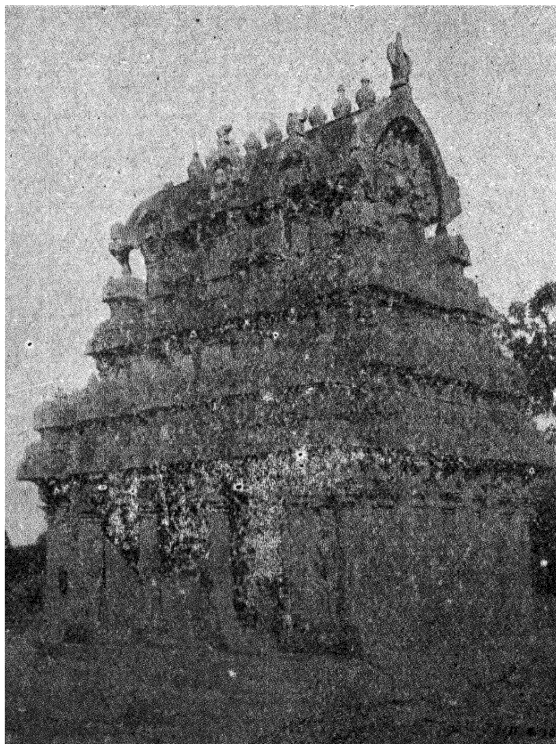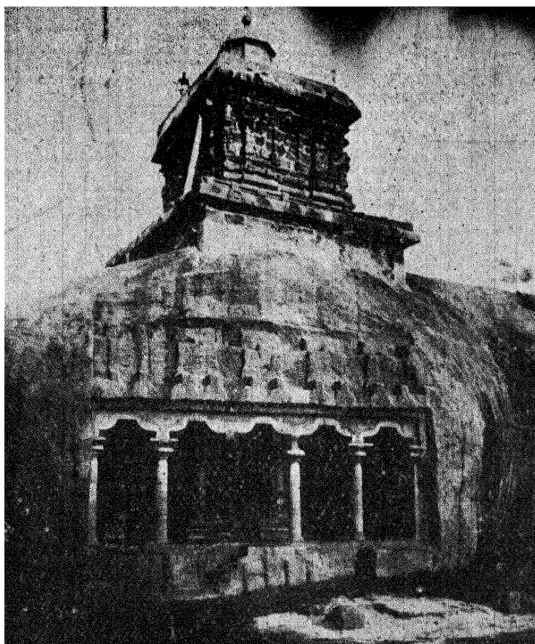
मामल्लपुरम् समुद्रतट पर नाविकों को रास्ता दिखाने के लिए पल्लव राजाओं का बनवाया ज्योतिःस्तम्भ [भा० पु० वि०]

चित्र ७५ (पृ० २३० ३१)
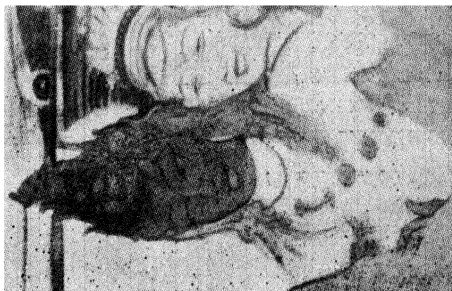
महेन्द्रवर्मा और उसकी रानी, सिट्टनवासल गुफा में समकालिक चित्र, ईरानी चित्रकार काशेदुरियों कृत प्रतिलिपि।

चित्र ७६ (पृ० २३०-३१)
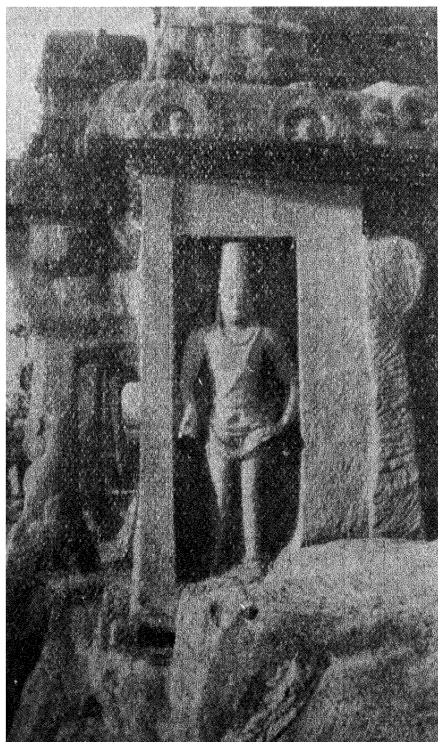
धर्मराज रथ मामल्लपुरम् में नरसिंहवर्मा की समकालिक मूर्त्ति
[फ़ादर हेरस के सौजन्य से]

चित्र ७७ (पृ० २३०-३१)

पञ्च पाण्डव रथ, मामल्लपुरम् [भा० पु० वि०]

चित्र ७८ (पृ० २३१)

होरिउजी मठ की मंत पर बोधिसत्व चित्र
[श्री राहुल सांकृत्यायन के सौजन्य से]

चित्र ७६ (पृ० २११, २६१)

आठवीं शताब्दी मध्य—मटन तीर्थ (कश्मीर) में ललितादित्य के बनवाये मार्त्तण्ड मन्दिर के खँडहर

[भा० पु० वि०]
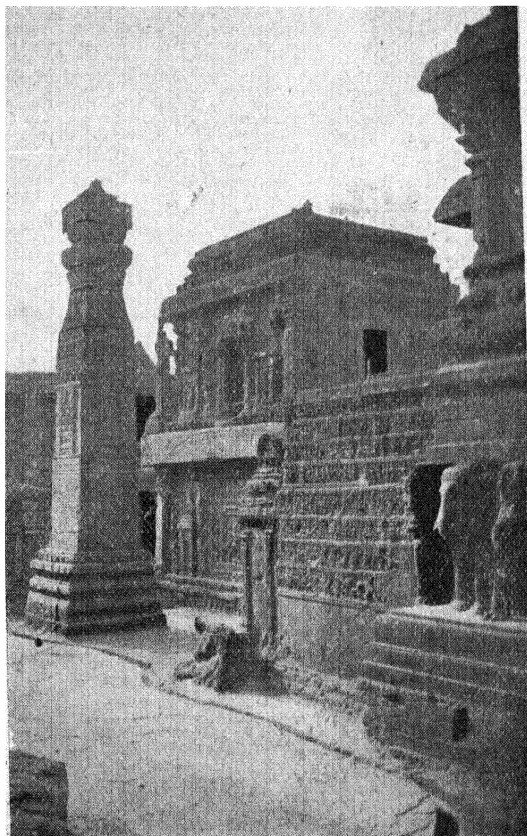
आठवीं शताब्दी उत्तरार्ध—कैलाश मन्दिर वेरूल

[हैदराबाद पु० वि०]

चित्र ८१ (पृ० २३१)

कैलाश मन्दिर वेरूल, दूसरा दृश्य

[हैद० पु० वि०]

चित्र ८२ (पृ० २३२)

आठवीं शताब्दी—बोरोबुदुर मन्दिर, जावा

चित्र ८३ (पृ० २३१-३२)

रावणानुग्रह मूर्त्ति [हैद० पु० वि०]

चित्र ८४ (पृ० २३०-३२)
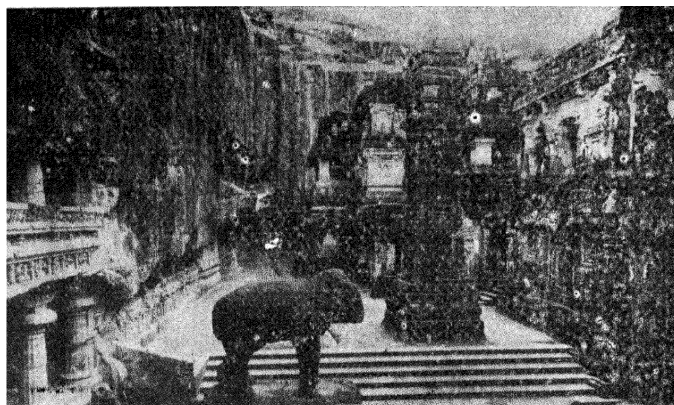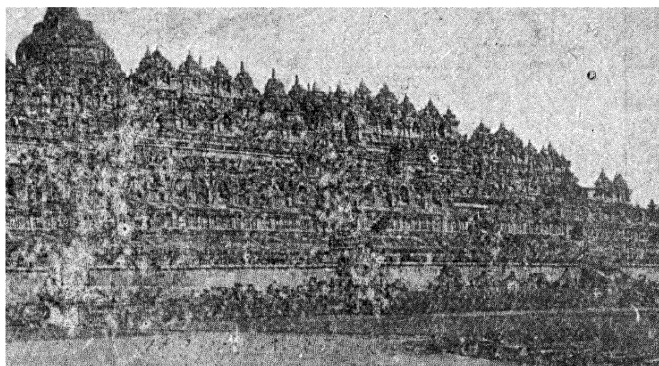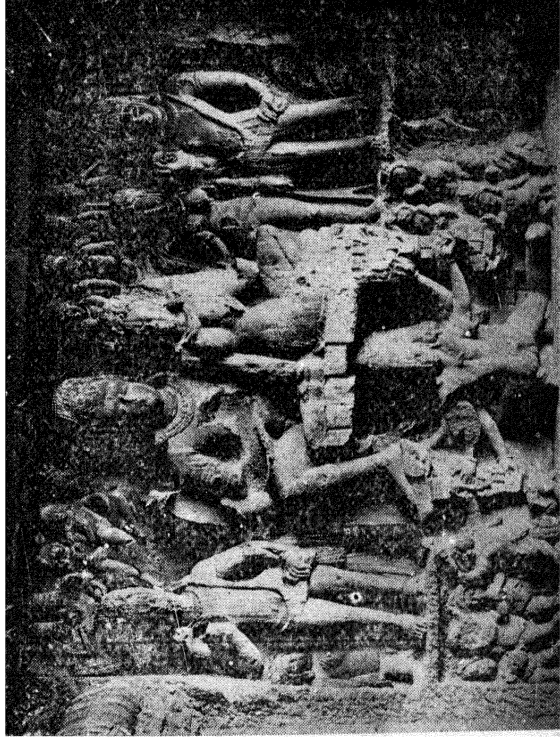
सरस्वती

सुहानिया (ग्वालियर) से प्राप्त, पहले मध्यकाल पूर्वांश की।

इस मूर्त्ति की नकल मध्य काल की मूर्त्तियों और चित्रों में बराबर होती रही।

[ग्वालियर पु० वि०]

चित्र ८५ (पृ० २३२)
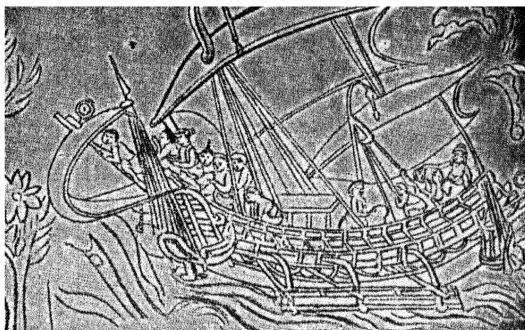
भारतीय उपनिवेश में भारत से जहाज का पहुँचना, बोरोबुदुर मन्दिर का मूर्त्त दृश्य।

चित्र ८६ (पृ० २१४, २३२)
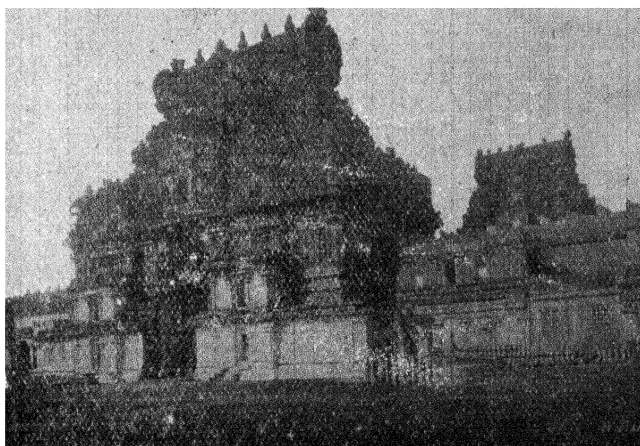
तांजोर में राजराज चोळ का बनवाया बृहदीश्वर मन्दिर, भीतरी गोपुर

[भा० पु० वि०]

चित्र ८७ (पृ० २३०-३२)

कुर्किहार (ज़ि० गया) से प्राप्त कांस्य बोधिसत्त्व मूर्त्ति,
पहले मध्य काल पूर्वांश को
[पटना संग्रहालय]

चित्र ८८ (पृ० २३२)

काफ़िरकोट का मन्दिर [भा० पु० वि०]

चित्र ८९ (पृ० २३२-३३)

कंडरिया महादेव, खजुराहो [भा० पु० वि०]
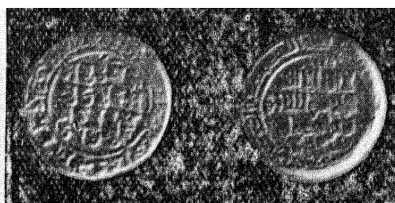
चित्र ९० (पृ० २३५)

कलमे के संस्कृत अनुवाद सहित महमूद का चांदी का टंका
चित, अरबी लेख; पट, संस्कृत लेख—**अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायनसंवत्···** (एक अव्यक्त है, मुहम्मद उसका अवतार, राजा महमूद, यह टंक महमूदपुर—लाहौर—की टकसाल में ढाला गया, जिन—विजेता—के हटने का अर्थात् हिजरी संवत्···)।
[लाहौर संग्रहालय]

चित्र ६१ (पृ० २३२-३३)
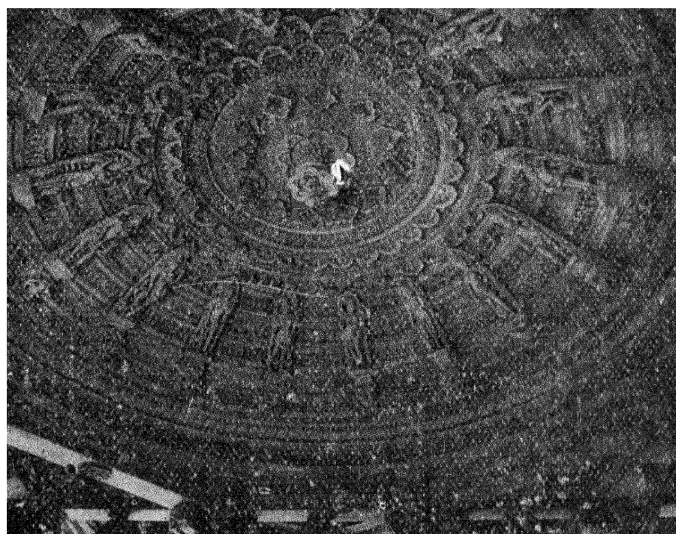
'विमलवसही', आबू की छत का दृश्य
[भा० पु' वि०]

चित्र ६२ (पृ० २३२)
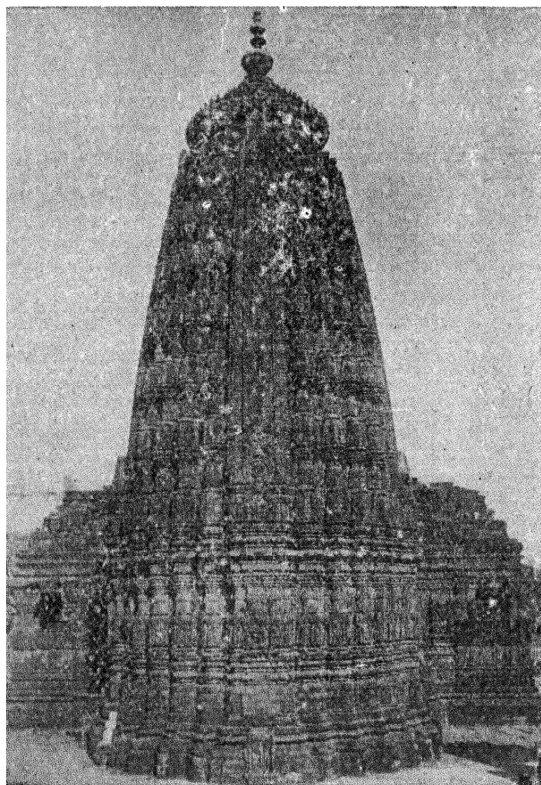
उदयेश्वर मन्दिर

उदयपुर (मालवा) में भोज परमार के वंशज उदयादित्य का बनवाया, लग० १०७५ ई० । [ग्वालियर पु० वि०]
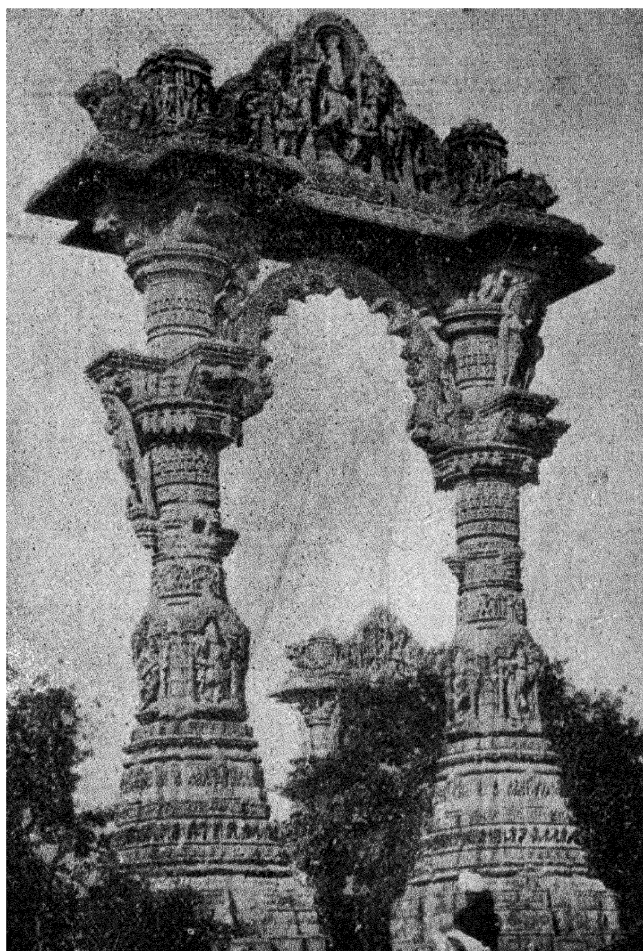
वडनगर (गुजरात) के मन्दिर का तोरण, लग० १२वीं शताब्दी का
[राय कृष्णदास के सौजन्य से]
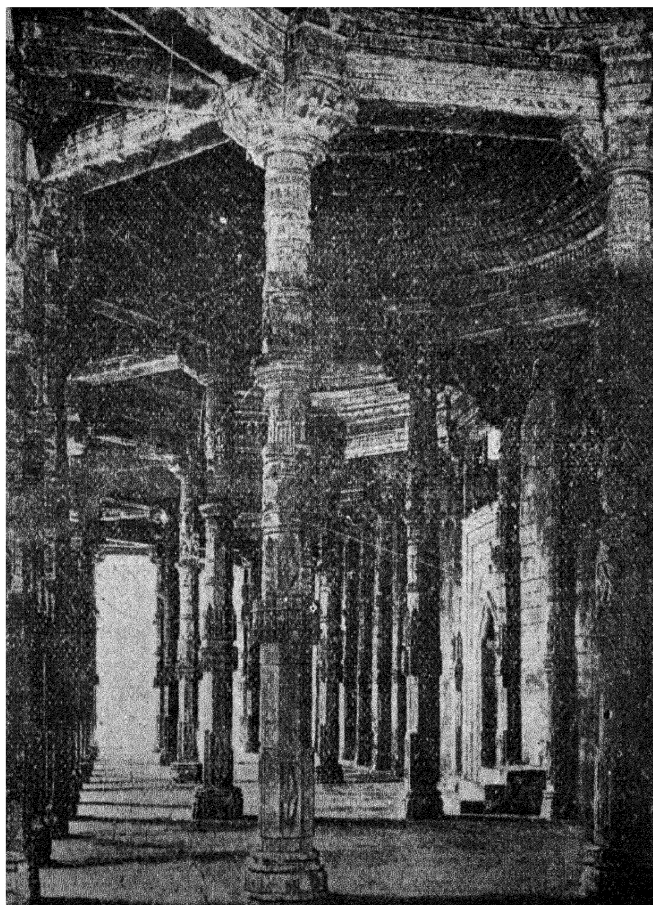
'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा', अजमेर
वीसलदेव चौहान का बनवाया विद्यालय, लग० ११६५ ई०।
[भा० पु० वि०]

चित्र ९५-९६ (पृ० २३५-३६)

काबुल गन्धार के हिन्दू राज्य और शहाबुद्दीन गोरी (मुहम्मद-बिन-साम)
के नन्दी छाप सिक्के

(९५) काबुल-गन्धार के शाहि सामन्तदेव (१०वीं शताब्दी ई०)
का सिक्का [श्रीनाथ साह संग्रह]
चित, राजा घोड़े पर (कुमारगुप्त के सिक्के चित्र ६३ से तुलनीय);
पट, बैठे नन्दी, ऊपर लेख—**श्री सामन्तदेव (व)** ।
पच्छिमी गन्धार के सिक्कों पर नन्दी की मूर्त्ति बनाने का रिवाज दूसरी शताब्दी
ई० पू० से था, दे० ऊपर चित्र १७, ३४ ।

(९६) गोरी का नन्दी-छाप सिक्का [श्रीनाथ साह संग्रह]
चित, राजा घोड़े पर, पुरानी नागरी में लेख—**स्री हमीर** (=अमीर);
पट, बैठे नन्दी की भद्दी मूरत, नागरी लेख—**स्री महमद साम** ।
(पहले मध्य काल के अन्त तक कला के ह्रास से भद्दी मूरतें बनने लगी थीं ।
पृ० २३३)

चित्र ९७ (पृ० २३५-३६)

गोरी की लक्ष्मी-छाप टंका
चित, लक्ष्मी की भद्दी मूरत;
पट, नागरी लेख—श्रीमद् मीर
महम्मद साम।
[दिल्ली संग्रहालय, भा० पु० वि०]

चित्र ९८ (पृ० २३५-३६)

अल्तमश (१२१०–३६ ई०) के गौड़-विजय का स्मारक टंका। पट तरफ राजा की घुड़सवार मूर्त्ति उल्लेखनीय है; इस्लाम में मूर्त्तियाँ अंकित करना वर्जित था। [बर्लिन संग्रहालय; नेल्सन राइट के ग्रन्थ से]

चित्र ९९ (पृ० २१६, २३२)
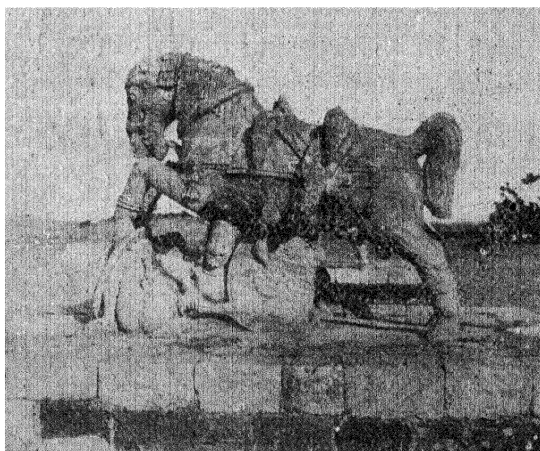
कोणार्क के मन्दिर में घोड़े की मूर्त्ति [भा० पु० वि०]
यह मन्दिर गंगवंशी राजा नरसिंहदेव (१२३८–६४ ई०) ने गौड की सल्तनत पर चढ़ाई के बाद बनवाया था। यह मूर्त्ति उसके विजयों का सुन्दर स्मारक है।

प्रज्ञापारमिता, जावा, १३वीं शताब्दी की। [लायिडन संग्रहालय, हॉलैंड; ई० ग्रा० हवेल के ग्रन्थ से]

चित्र १०१ (पृ० २३३)

नटराज (ताण्डव करते हुए शिव)
१५वीं शताब्दी की दक्खिन
भारतीय कांस्य मूर्त्ति
[पैरिस संग्रहालय]

चित्र १०२ (पृ० २३७)

शाह हमदान की जियारत, श्रीनगर,
शैव मन्दिरों की पहाड़ी शैली के से
शिखर सहित ।

चित्र १०३ (पृ० २३८)

जैनुलाब्दिीन द्वारा फिर से बनवाया हुआ
शिवमन्दिर, श्रीनगर के शङ्कराचार्य
पहाड़ पर ।

चित्र १०४ (पृ० २३६)
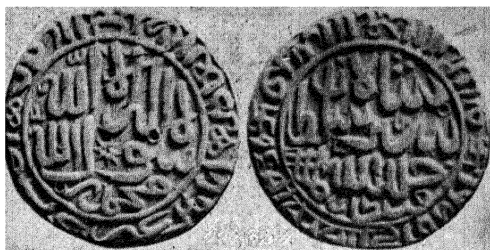
शेरशाह का स्वस्तिका छाप वाला रुपया [दिल्ली सग्र०, भा० पु० वि०]
पट तरफ चारो ओर की पट्टी के बीचोबीच दोनो तरफ स्वस्तिका चिह्न है;
नीचे नागरी मे स्री सीरसाह ।

चित्र १०५ (पृ० २४१)
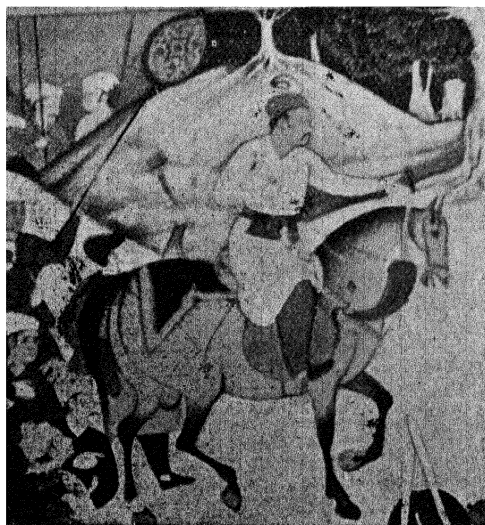
अकबर, समकालिक चित्र, मुगल कलम का श्रेष्ठ नमूना ।
"तारीखे खानदाने तैमूरिया" की हस्तलिखित प्रति से पहले-पहल
"इतिहास-प्रवेश" के लिए लिया गया फोटो [खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना]

चित्र १०६ (पृ० २४४)

रणजीतसिंह दरबार में, समकालिक चित्र,
पहाड़ी कलम का अच्छा नमूना।
[प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय मुम्बई के न्यासशालों के सौजन्य से]